हिन्दी नाटक और रंगमंच

हिन्दी नाटक और रंगमंच

संपादक

डॉ० रामकुमार वर्मा

डॉ० जगदीश गुप्त

डॉ० रामजी पाण्डेय

मूल्य : ४०/–रुपये

प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

मुद्रक ; नागरी प्रेस, अलोपीबाग, इलाहाबाद

हिन्दुस्तानी एकेडेमी की स्थापना

हिन्दुस्तानी एकेडेमी जैसी संस्था बनाने का प्रस्ताव सर्वप्रथम स्वर्गीय यज्ञनारायण उपाध्याय ने सन् १९२५ के दिसम्बर में प्रान्तीय धारा सभा में रखा था। इस प्रस्ताव को धारा सभा ने एकमत से स्वीकार किया। अप्रैल, १९२६ में स्व० हाफिज हिदायत हुसेन ने एक और प्रस्ताव रखा जिसमें हिन्दी और उर्दू साहित्य की वृद्धि के उद्देश्य से 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' नाम की एक संस्था की स्थापना के लिए शासन से प्रस्ताव था। प्रस्ताव में दो लाख रुपये के अनुदान दिये जाने की माँग की गयी थी। फलस्वरूप संयुक्त प्रान्तीय शासन ने हिन्दुस्तानी एकेडेमी की स्थापना के विषय में अपना निश्चय २२ जनवरी, १९२७ के गजट में प्रकाशित किया। इस तरह हिन्दुस्तानी एकेडेमी की स्थापना सन् १९२७ में हुई। संस्था का उद्घाटन २९ मार्च, १९२७ को प्रान्तीय गवर्नर सर विलियम मैरिस द्वारा हुआ। उस समय वर्तमान शिक्षा मंत्री राय राजेश्वर बली थे।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी का उद्देश्य

हिन्दुस्तानी एकेडेमी का उद्देश्य प्रारम्भ से लेकर अब तक हिन्दी और उर्दू साहित्य की रक्षा, वृद्धि तथा उन्नति करना रहा है। सन् १९५७-५८ से एकेडेमी भाषा और साहित्य की जागतिक स्थिति के अनुरूप होकर अपने कार्यक्षेत्र का विस्तार कर रही है।

संस्था के उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

(१) राजभाषा हिन्दी, उसके साहित्य तथा ऐसे अन्य रूपों एवं शैलियों (जैसे—उर्दू, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी आदि) का परिरक्षण, संवर्द्धन और विकास, जिनकी उन्नति से हिन्दी समृद्ध हो सकती है।

(२) मौलिक हिन्दी कृतियों, विशेषतया सृजनात्मक साहित्य को प्रोत्साहन एवं उसका प्रकाशन।

(३) हिन्दीतर भारतीय भाषाओं तथा विदेशी भाषाओं की साहित्यिक कृतियों, मुख्यतया काव्य, नाटक, कथा एवं ललित साहित्य का हिन्दी में अनुवाद करना।

(४) राज्य-सरकार की सहमति से हिन्दी में सन्दर्भ-ग्रन्थ तैयार कराना तथा उनका प्रकाशन करना।

(५) भारतीय एवं विदेशी भाषाओं के मानक साहित्यिक ग्रन्थों का पारिश्रमिक देकर अथवा बिना पारिश्रमिक के अन्य भाषाओं से अनुवाद कराना और उन्हें प्रकाशित करना।

(६) प्राचीन एवं मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के वैज्ञानिक रूप से सम्पादित पाठों का प्रकाशन।

(७) प्रतिष्ठित विद्वानों एवं लेखकों अथवा दोनों को एकेडेमी का अधिसदस्य चुनना।

(८) एकेडेमी के हितैषियों को इसका अधिसदस्य चुनना।

(९) शासनानुमोदित नियमों के अनुसार लेखकों, कवियों, वैज्ञानिकों तथा कलाकारों का सम्मान करना।

(१०) विद्वानों तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों के व्याख्यानों की व्यवस्था करना।

(११) अन्य कार्यों के साथ विश्व की साहित्यिक गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी की समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिए एकेडेमी का वार्षिक सम्मेलन आयोजित करना।

(१२) ऊपर उल्लिखित उद्देश्यों की सिद्धि के लिए अन्य उपयोगी कार्य एवं उपाय करना।

प्रकाशन

एकेडेमी का महत्त्वपूर्ण कार्य प्रकाशन का रहा है। इस दिशा में संस्था ने ठोस कार्य किया है। एकेडेमी के सभी प्रकाशनों को भाषा और साहित्य के क्षेत्र में सम्मान मिला है। एकेडेमी से अब तक हिन्दी की १५० और उर्दू की ५० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

सन् १९३१ से १९४८ तक एकेडेमी ने हिन्दी-उर्दू में 'हिन्दुस्तानी' त्रैमासिक शोधपरक पत्रिका का प्रकाशन किया है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण इसका प्रकाशन सन् १९५७ तक स्थगित रहा। १९५८ से 'हिन्दुस्तानी' के हिन्दी संस्करण का प्रकाशन पुनः प्रारम्भ हुआ है। इस समय 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका का स्थान सर्वश्रेष्ठ त्रैमासिक पत्रिका के रूप में है।

पुस्तकालय

एकेडेमी पुस्तकालय में हिन्दी तथा अन्य भाषाओं के लगभग १५ हज़ार से ऊपर ग्रंथ तथा पत्र-पत्रिकाएँ हैं। एकेडेमी पुस्तकालय में विशेष रूप से भाषाशास्त्र, कोश तथा मध्ययुगीन साहित्य से संबंधित ग्रंथ हैं। पुस्तकालय आर्थिक कठिनाइयों के कारण कई वर्षों तक बन्द रहा है। सन् १९८३ से पुस्तकालय पुनः खुल गया है।

योजनाएँ

उपभाषा कोश प्रकाशन योजना, दुर्लभ पाण्डुलिपियों के प्रकाशन की योजना, अनुवाद के प्रकाशन की योजना और मौलिक तथा सृजनात्मक साहित्य के प्रकाशन की योजना है। आर्थिक कठिनाइयों के कारण योजना का यह कार्य नहीं हो पा रहा है।

उपसंहार

सन् १९२७ से लेकर अब तक हिन्दुस्तानी एकेडेमी ने भाषा और साहित्य की जो सेवा की है, उसका परिणाम स्पष्ट है। एकेडेमी के लिए यह श्रेय की बात है कि स्वतंत्रता के बाद उसके अनुकरण में बिहार में राष्ट्रभाषा परिषद्, दिल्ली में साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश में मध्य प्रदेश साहित्य परिषद्, राजस्थान में साहित्य अकादमी तथा स्वयं उ० प्र० में हिन्दी संस्थान की स्थापना हुई है।

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि एकेडेमी ने शोधकार्य को प्रेरणा देने के लिए प्राचीन ग्रंथों को प्रकाश में लाने तथा भाषा और साहित्य के स्तर को उन्नत बनाने में जो योगदान किया है, उसका प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित है। इस समय राष्ट्रभाषा की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए अहोरात्र योजनाबद्ध होकर कार्य करना अत्यन्त आवश्यक है। देश की राष्ट्रभाषा को विश्व की प्रमुख भाषाओं के समकक्ष बिठाना निश्चय ही एक पवित्र संकल्प है। देश की प्रतिभा राष्ट्रभाषा के माध्यम से उत्तरोत्तर विकासमान होती रहे, यह स्वयं ही एक महत् कार्य है। हिन्दुस्तानी एकेडेमी इस दिशा में निरंतर प्रयत्नशील है।

हमारे सहयोगी

पृष्ठ

---

* 'हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास' से साभार ।

† 'नवभारत टाइम्स', १९ अक्टूबर, १९८६ से साभार ।

सम्पादकीय

आधुनिक युग कविता की जगह गद्य को प्रधानता देकर आरम्भ हुआ, परन्तु कविता का महत्त्व किसी न किसी रूप में बना रहा। 'काव्य' शब्द प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुसार इतना व्यापक है कि गद्य की आधुनिक विधाएँ भी उसमें समाहित हो जाती हैं। फिर भी 'काव्य' शब्द साहित्य की तुलना में सीमित अर्थ देने लगा है। आज वह उतना व्यापक नहीं है जितना साहित्य। दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य जैसे वर्गीकरण के भीतर काव्य की व्यापकता सार्थक रूप से समाहित है। नये साधनों, नयी प्रक्रियाओं तथा नयी अपेक्षाओं के द्वारा मंच को नवीन कल्पना मिली है और नाटक दृश्यकाव्य की गरिमा को नये सिरे से अखिल भारतीय स्तर पर प्रतिबिम्बित कर रहा है। हिन्दी नाटक का क्षेत्र विशालतर होता जा रहा है और उसमें रचनात्मकता का विशेष समावेश दृष्टिगत होता है। सामाजिक चेतना को नाटक जितना और जितनी दूर तक प्रभावित करता है, वह स्वतः सिद्ध है। दूरदर्शन, श्रव्य-दृश्य विधि एवं नुक्कड़ नाटक आदि के द्वारा भी नाटक को नयी गति मिली है और अखिल भारतीय स्तर पर अनेक आयोजन देश-विदेश के नाट्यकर्मियों तथा नाट्यधर्मियों की क्रियाशीलता को प्रमाणित करते हैं। भारतीय जीवन-दृष्टि में लीला का लोकव्यापी महत्त्व है। उसकी गहराई दर्शन के क्षेत्र तक जाती है। 'लोक बत्तु लीला वल्भ्यम्' ब्रह्मसूत्र का यह कथन संसार के प्रति जो धारणा व्यक्त करता है, वह अद्वैत वेदान्त के द्वारा लोकानुभव का अंश बन गयी। आनन्द और सौन्दर्य को लीला-दृष्टि में विशिष्ट स्थान देकर भारतीय नाटक ने जीवन को व्याख्यायित करने का अतिरिक्त दायित्व दिया है। यथार्थ और अति यथार्थ के साथ मिथिकीय कल्पनाओं को आज का नाटक नया अर्थ देता है। विसंगति के भीतर संगति खोजने की चेष्टा की जा रही है। देह की भाषा नये नाट्यरूपों में विशेष मुखर होकर आ रही है। मंच की कल्पना और सज्जा को सांकेतिकता के द्वारा अतिरिक्त आयाम मिल रहे हैं। नाटक-लेखन, प्रस्तुतीकरण, क्रियाओं के बीच दर्शक की प्रतिक्रिया और समग्र रूप से समीक्षा का दायित्व जागरूक संवेदन उत्पन्न करता है। अप्रत्याशित समस्याएँ और उनके निदान की चेष्टा इस बात को सिद्ध करती है कि हिन्दी में नाट्य-क्षेत्र पहले से अधिक क्रियाशील अविविधात्मक संस्थापरक तथा प्रतिभाओं को आकर्षित करने की ओर उन्मुख है, भले ही शासन और जनता के बीच विशेष समन्वय गठित नहीं हो रहा है। सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत से प्रश्न अभी भी बुद्धिजीवियों के लिए समस्या बने हुए हैं।

इसमें नाटक-सम्बन्धी विविध प्रकार की सामग्री है जिसमें चिंतन और अनुभव के विविध रूप देखे जा सकते हैं। सामग्री यद्यपि योजनाबद्ध नहीं है, तथापि बहुतों के लिए उपादेय सिद्ध होगी। लेखक रूप में जिन लोगों ने इसमें सहयोग दिया है, उनके प्रति मैं आभारी हूँ।

—जगदीश गुप्त

हिन्दी रंगमंच

महादेवी

नाटक जीवन की दृश्य अनुकृति के द्वारा जीवन का संशोधनात्मक अनुरंजन है, अतः उसे साहित्य के अन्य प्रकारों से अधिक कठिन सामाजिक कर्म माना जा सकता है। काव्य, कथा आदि में सृजन और उपयोग दोनों ही दृष्टियों से दो पक्ष होते हैं— साहित्यकार और पाठक। रचनाकार की एकान्त में रची कृति एकान्त में एकाकी पाठक के संवेदनशील हृदय पर अपना रहस्य प्रकट कर सार्थक हो जाती है। परन्तु नाटक की सार्थकता के लिए एकाकी पाठक और एकान्त स्थिति कोई महत्त्व नहीं रखती। उसके एक सृष्टा और अनेक दर्शकों के बीच में विभिन्न अभिनेताओं की महत्त्वपूर्ण स्थिति है और इन तीनों पक्षों की क्रिया और परिणाम का सामंजस्य-पूर्ण तारतम्य ही नाटक को चरम सिद्धि तक पहुँचा सकता है और ऐसा तारतम्य सहज नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त सन्तुलन का अभाव उसे केवल संशोधन या केवल अनुरंजन में सीमित करने में समर्थ है।

स्वस्थ समाज में यह साधन शिक्षा, जीवन-दर्शन, प्रेरणा, अनुरंजन आदि का स्वाभाविक साधन हो जाता है, परन्तु एक अस्वस्थ समाज में उसके उपदेशात्मक अथवा उत्तेजक रूपों के संकीर्ण हो जाने की अधिक सम्भावना रहती है।

जहाँ तक हिन्दी साहित्य का प्रश्न है, उसने रंगमंच का साथ छोड़कर अकेले ही एक लम्बा पथ पार किया है, अतः इस अकेलेपन से उसके स्वाभाविक विकास में बाधा न पड़ती तो आश्चर्य की बात होती।

संस्कृत नाट्य साहित्य विशेष समृद्ध है, परिणामतः संस्कृत भाषा से जन्म पाने वाली सभी प्रादेशिक भाषाओं में नाटक का आरम्भ अनुवादों के रूप में हुआ। हिन्दी भी इसका अपवाद नहीं है। परन्तु विशेष राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण रंगमंच का सूत्र उसके हाथ से छूट गया। तब से अब तक हिन्दी का नाटक साहित्य अनूदित, पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि अनेक क्रमों को पार कर चुका है। भारी कलेवर से एकांकी के हल्केपन तक आ गया है, परन्तु रंगमंच उससे पग मिलाकर न चल सकने के कारण और अधिक पिछड़ता ही गया है। धर्म के क्षेत्र में रामलीलायें, रासलीलायें और लोकजीवन में स्वाँग, नौटंकी आदि ही रंगमंच का अभाव भरते आये हैं, परन्तु आधुनिक युग के बोलपटों से उनकी पराजय निश्चित है।

जीवन के नव निर्माण के साधनों की खोज के क्रम में हमारी दृष्टि इस महत्त्वपूर्ण साधन पर पड़ी है अवश्य, परन्तु जब तक रंगमंच और नाट्य साहित्य के बीच की खाई नहीं पट जाती, तब तक नाटक के उपयोग-सम्बन्धी समस्या का समाधान कठिन है।

अन्य सृजनात्मक और क्रियात्मक पक्ष वाली कलाओं के समान, नाटक के भी दो पक्ष एक-दूसरे पर आश्रित रहेंगे। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता और उसे मुक्त या संयत करता रहता है। सृजनात्मक साहित्य की गति जीवन के बाह्य और आन्तरिक रूपों में अबाधित है। अतः वह स्वयं मुक्त रहकर जीवन की मुक्ति का विधान करने के लिए अधिक स्वतंत्र है और सदा रहेगा। जीवन की व्यक्त भौतिक स्थिति से लेकर उसके अव्यक्त गूढ़ रहस्य तक सब कुछ उसके शब्द-संकेत पर मनुष्य के अन्तर्जगत् में पंखुड़ियों के समान खुलता चलता है। इसके विपरीत क्रियात्मक पक्ष के लिए काल-स्थिति के अनेक बाह्य बन्धन स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। एक में मानो सौरभ की अव्यक्त, पर पहचान-भरी उड़ान है और दूसरे में मानो उस विस्तार को सँभालने वाली पंखुड़ियों का निर्माण है। एक में मुक्त प्रसार का हल्कापन है और दूसरी में घनत्व। इनमें एक भी पक्ष विच्छिन्न होकर एक ऐसी विपरीत दिशा ग्रहण कर सकता है जहाँ दूसरे की गति असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाती है। परस्पर पूरकों की निरपेक्ष मुक्ति उन्हें अधूरा बनाने का दूसरा नाम है।

अनेक सामाजिक परिस्थितियों के कारण नाटक के सृजनात्मक और क्रियात्मक पक्षों में विच्छेद अनिवार्य हो गया और तब से उनकी निरपेक्ष पर अधूरी स्थिति निरपेक्षतर और अधिक अधूरी होती गई है। इन्हें एक विन्दु पर मिलाये बिना न सापेक्ष बनाया जा सकता है, न पूर्ण; पर इस मिलन-विन्दु पर आने के लिए दोनों ही सीमाओं का मोह छोड़ना आवश्यक हो जाता है।

जिस प्रदेश में हिन्दी रंगमंच की स्थिति और विकास स्वाभाविक था, उसे देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक संघर्ष झेलना पड़ा और उस संघर्ष की समाप्ति पराजय में होने के उपरान्त परिस्थितियाँ इतनी प्रतिकूल रहीं कि सांस्कृतिक जीवन में विषम अवरोध उपस्थित हो गया। कलाओं का क्रियात्मक विकास जीवन के स्वस्थ सामूहिक विकास का मापदण्ड है। विकास की दृष्टि से जीवन का आत्म-संरक्षण ही नहीं, आत्म-प्रक्षेपण भी रहता है और इस प्रक्षेपण के लिए समाज की ग्रहणशील मनोभूमि के साथ-साथ ग्रहण के अनुकूल भौतिक स्थिति भी अवश्य रहेगी।

संघर्ष और पराजय के युग में समाज की आत्मरक्षण और गोपन की स्थिति ने यदि हमारी संगीत, नृत्य, अभिनय आदि सभी सामूहिक सांस्कृतिक कलाओं की गति रुद्ध की है, तो आश्चर्य की बात नहीं। उनका धर्म या विलास की संकीर्ण सीमाओं में शरण लेना भी स्वाभाविक था। प्रवाहहीन विशाल जलराशि को अन्त में सीमित गर्त ही शरण देते हैं।

हिन्दी के क्षेत्र में धर्म की सीमा के बाहर ये कलायें अछूत के समान मन की अस्वच्छता के अवसर पर ही स्मरण और प्रयुक्त की जाती रही हैं, इसी से इनके सृष्टाओं को सामाजिक स्वीकृति के अभाव में अप्रतिष्ठित रहकर ही कला-सृजन का मूल्य चुकाना पड़ा है।

क्रमशः ये सब संशोधनात्मक अनुरंजनवती कलायें एक ऐसे वर्ग की व्यावसायिक पूँजी बन गईं जिसे समाज से बहिष्कृत रहकर भी उसके मनोविनोद की सामग्री प्रस्तुत करनी पड़ती थी।

स्वस्थ समाज में व्यक्ति और समष्टि के बीच में जितने प्रकार के आदान-प्रदान सम्भव हैं, उनमें साहित्य और कला का आदान-प्रदान ही श्रेष्ठ है। देने वाला अपने कर्तव्य की समस्त निष्ठा के साथ मस्तक ऊँचा करके देता है और लेने वाला सौहार्द के अखण्ड विश्वास के साथ

मस्तक झुका कर लेता है। परन्तु विषम और अस्वस्थ समाज में लेने वाला, रोगी के खिजलाहट-भरे हठीले भाव से माँगता है और देने वाला अज्ञान परिचारक के समान रोगी को बहलाने की घबराहट के साथ देता है। इस आदान-प्रदान से न एक स्वस्थ होता है और न दूसरा आश्वस्त। जीवन के सर्वांगीण निर्माण की योजना ने रंगमंच की अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध कर दी है। परन्तु जब तक हमारे प्रयत्न एकांगी रहेंगे, तब तक स्वस्थ रंगमंच का विकास असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होगा।

रंगमंच के लिए आवश्यक तीनों पक्षों का सामंजस्यपूर्ण संयोजन ही उसे लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ है। अतः उनमें से किसी पक्ष से विच्छिन्न होकर चलना हमें किसी अन्य दिशा में पहुँचा सकता है। रूपक साहित्य का आवश्यक अंग है और इस रूप में उसका सृजन साहित्य के अन्य अंगों के समान नाटककार की विशेष प्रतिभा, जीवन-दर्शन आदि की अपेक्षा रखता है। नाटक समष्टि को सब ओर से स्पर्श करता है, परन्तु इसी कारण वह जीवन की गहराइयों से मुक्त नहीं हो सकता। समुद्र सब ओर से पृथ्वी को छूने के कारण गम्भीर और रहस्यमय तल से विच्छिन्न नहीं हो जाता।

ऐसी स्थिति में सफल नाटक के लिए गहनता और अन्तर्द्वन्द्वों से परिचित प्रतिभावान् सृष्टा की स्थिति अनिवार्य रहेगी। कुछ इतिवृत्तों को एकत्र कर लेना मात्र नाटक नहीं बन जायेगा। पर नाटककार के लिए जैसे जीवन के गम्भीर रहस्य का साक्षात्कार आवश्यक है, उसी प्रकार उसके व्यक्तिगत साक्षात्कार को समष्टि का साक्षात्कार बनाने वाले रंगमंच की सीमाओं की जानकारी अनिवार्य है। जीवन के अनेक मूल्यवान् सत्य तथा अनन्त और निगूढ़ रहस्य शास्त्र में सुरक्षित और साहित्य में संप्रेषणीय हैं। परन्तु ये समष्टि को एकसाथ बैठाकर उक्त सत्य या रहस्य का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कराते, वरन् पात्रता-अपात्रता की परीक्षा और प्रतीक्षा के लिए स्वतन्त्र हैं। नाटक को हर सत्य, हर रहस्य को इस प्रकार वाणी देनी पड़ती है कि समष्टि उसका आवाहन सुनने के साथ-साथ उक्त सत्य या रहस्य को साकार देख सके। इस समष्टि को भूलकर नाटककार अपने सत्य के साथ अकेला रह जाता है और यह अकेलापन नाटककार की सिद्धि नहीं माना जा सकता।

हर रचना में सैद्धान्तिक पक्ष के समान ही महत्त्वपूर्ण उसका शिल्पपक्ष या विज्ञान है। अनुभूति; कल्पना और बौद्धिक क्रिया समान होने पर भी रचना-विधान एक नहीं हो सकता। अनुभूति की तीव्रता संगीत में जो शिल्प अंगीकार करती है, वह मूर्ति में नहीं। रचना-विधान की दृष्टि से साहित्य में विशेष विविधता है, अतः उसके कविता, कथा, नाटक आदि प्रकारों के मूल में अनुभूति की एकता होने पर भी अभिव्यक्ति के रूपों में अनेकता रहती है। इसी कारण एक उत्तम कवि के लिए सफल कलाकार और एक सफल कलाकार के लिए सिद्ध नाटककार हो जाना नियम नहीं, नियम का अपवाद हो सकता है। शिल्प-विधान की दृष्टि से साहित्य के विभिन्न अवयव एक-दूसरे की अनुकृति नही होते, अतः जिस रचना-विधान का आश्रय लेकर महाकाव्य सार्थक हो सकता है, उसी का अनुकरण कर उपन्यास सफल नहीं माना जाता और उसी शिल्प-सीमा में बँधकर नाटक अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचता।

रंगमंच कोई गढ़ा-ढला हुआ साँचा नहीं है जिसमें नाटक को दबकर विकृत हो जाना पड़ेगा। वह तो नाटक की निराकार आत्मा को रंग-रूपों में साकारता देने का साधन मात्र है। हर सीमा के समक्ष असीमता की असंख्य असम्भावनायें हैं। अतः नाटक के साथ ही रंगमंच की संकीर्ण

और कठिन रेखायें विस्तृत और लचीली हो सकती हैं, उससे विच्छिन्न होकर नहीं। विश्वात्मा की व्यापक अनुभूति भी तो हमारे सीमित हृदय के साथ बँधी हुई है। व्यक्ति अपनी अनुभूति और बौद्धिक विकास से महान् और विराट होने के लिए शरीर की सीमाओं को न खण्ड-खण्ड कर सकता है और न उससे पर्वत-नदी-वन बाँधकर घूम सकता है। पर ठीक ऐसी ही स्थिति तब उत्पन्न हो जाती है जब नाटककार अपने नाटक की महान् आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए रंगमंच को लघु और सीमित समझता है। आत्मा की मुक्त उड़ान के लिए जब वह रंगमंच का बन्धन तोड़ बैठता है, तब उसे वायवी विस्तार चाहे जितना अधिक मिल जाय, धरती के रंग-रूपों में स्पन्दित प्रत्यक्षता पाना उत्तरोत्तर कठिन होता जाता है। इस प्रवृत्ति से रंगमंच की भी क्षति हुई है, क्योंकि आत्मा की अशरीरी स्थिति तो कल्पना में स्थान पा सकती है, पर आत्मा के अभाव में शरीर की कोई स्थिति सम्भव नहीं रहती।

दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष अभिनेता वर्ग का है जिनमें नाटक की आत्मा अवतरित होती है।

न वे यंत्र मात्र हैं और न अर्थ के लिए श्रम बेचने वाले श्रमिक मात्र। नाटक के पात्रों की क्रिया या घटना ही नहीं, उनके अन्तर्द्वन्द्व, सुख, दुःख आदि को सम्पूर्ण मार्मिकता के साथ अभिनय द्वारा ही प्रत्यक्ष होना पड़ता है। परिणामतः अभिनेताओं की मानसिक पृष्ठभूमि और चेष्टा, क्रिया आदि में एक सामंजस्य अनिवार्य हो जाता है। अभिनेता की सफलता की कसौटी उसकी आत्म-विस्मृति और अपनी भूमिका के आधार से पूर्ण तादात्म्य की शक्ति ही रहेगी। पात्र-विशेष की पृष्ठभूमि, परिस्थिति, संस्कार, संघर्ष आदि से उसे बौद्धिक के साथ-साथ रागात्मक सम्बन्ध की भावना करनी पड़ती है। नाट्यशास्त्र, नाट्यकला, नाट्य साहित्य आदि का ज्ञान भी उसके अभिनय की सफलता में सहायक हो सकता है।

हमारे यहाँ व्यावसायिक रंगमंच नगण्य और अव्यावसायिक अनिश्चित है। सांस्कृतिक या शिक्षा संस्थायें यदा-कदा ऐसे आयोजन कर लेती हैं। परन्तु ऐसे विरल अवसर अभिनय कला को विकास के लिए अवकाश नहीं दे सकते।

रंगमंच अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण शिल्प भी है। अन्य देशों में मंच, यवनिका, नेपथ्य, पट-परिवर्तन, आलोक आदि का विज्ञान प्राचीन से आधुनिकतम होते-होते बहुत से क्रम पार कर चुका है। उसके तत्सम्बन्धी ज्ञान और शिक्षा के बिना सफल रंगमंच की कल्पना कल्पना-मात्र है।

रंगशालाओं का अभाव भी नाट्यकला के विकास की एक बड़ी बाधा है। सिनेमा हाल न नाट्यकला की आवश्यकता को ध्यान में रखकर बने हैं और न वे सुलभ ही रह सकते हैं। अव्यवसायी रंगमंच उनके उपयोग के लिए अधिक अर्थ व्यय भी नहीं कर सकता। रंगमंच के कला-विकास के लिए ऐसी रंगशालायें अनिवार्यतः आवश्यक हैं जो केवल अभिनय को ध्यान में रखकर बनाई गई हों और सब नाट्य-मण्डलियों को नाममात्र के व्यय पर सुलभ हो सकें। नाट्यशास्त्र तथा रंगमंच सम्बन्धी साहित्य का निर्माण और प्रकाश भी रंगमंच के विकास को स्वस्थ दिशा दे सकेगा।

अब तक हमारे समाज ने अभिनय को सस्ता मनोरंजक कौतुक ही माना है। अतः रंगमंच की दिशा में हुए प्रयोगों का कोई लेखा-जोखा तक उपलब्ध नहीं है। यदि हम अपने रंगमंच-सम्बन्धी प्रयोगों के इतिहास को एकत्र कर सकें, तो उससे हमें उक्त प्रयत्न की त्रुटियाँ और परम्परा का बोध हो सकेगा। बिना उन्नत सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित हुए यह कला समाज

के धरातल को सांस्कृतिक परिष्कार देने में असमर्थ रहेगी, पर इस कार्य के लिए संस्कृत, शिक्षित, प्रतिष्ठित व्यक्तियों को रंगमंच से सम्बद्ध होना पड़ेगा। इस कला का सामाजिक महत्त्व समझकर अब हम उसके विकास का प्रयत्न करेंगे, तभी वह अवज्ञा की परिधि के बाहर आ सकेगी।

तीसरा पक्ष दर्शक का है जिसकी रुचि का परिष्करण ही रंगमंच का लक्ष्य रहता है।

हमारे समाज में साधारण दर्शक से परिष्कृत रंगमंच का अपरिचय इतना पुराना हो चुका है कि वह उसी को परिचय मानने लगा है। सवाक् पटों ने भी दर्शक की रुचि को विकृत, विकृत-तर करने का ही प्रयत्न किया है। ऐसी स्थिति में केवल उसकी रुचि पर निर्भर रहकर रंगमंच अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकेगा।

जीवन से भी कठिन पर अधिक प्रभावशालिनी जीवन की अनुकृति है, यह सत्य जितना रंग-मंच पर परीक्षित होता है, उतना अन्य किसी क्षेत्र में नहीं। नाटक की तात्कालिक कसौटी रंगमंच है और रंगमंच का अकालक्षम् परीक्षक दर्शक-समाज। रंगमंच या तो तत्क्षण परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है या अनुत्तीर्ण, अतः उस प्रथम क्षण की तैयारी ही सारे क्रिया-कलाप और सृजन का केन्द्र रहती है। हमारी संस्कृति ने इस कला के जीवन-व्यापी प्रभाव का कितना मूल्य आँका, इसे जानने के लिए हम भरत के नाट्यशास्त्र तथा रूपकों के विविध प्रकारों को देख सकते हैं। सम्भवतः रंगमंच के प्रभाव को स्थायी और संप्रेषणीय बनाने के प्रयत्न में ही हमारे प्राचीन नाट्यशास्त्र को कुछ ऐसी सीमाओं को स्वीकृति देनी पड़ी हो जो आज हममें एकरसता की अनुभूति उत्पन्न कर सकती हैं।

अभिनय-कला का वास्तविक उपयोग तो समाज की रुचि को अधिक परिष्कृत बनाकर उसे प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाना ही है। यदि आधुनिक युग में इतने साधनों के पूर्ण होने पर भी हमारी अभिनय-कला अपने महान् सांस्कृतिक और सामाजिक लक्ष्य से शून्य रही, तो वह हमें एक पग भी आगे न बढ़ा सकेगी। जीवन में जो कुछ कुत्सित, अस्थिर, अमंगलकर और असंस्कृत पशुत्व है, उसी में सुन्दर, शाश्वत, कल्याणमय और संस्कृत देवत्व को ढूँढ़ने के प्रयास में कला का जन्म और उसकी अभिव्यक्ति में कला की सिद्धि है। इसी से मनुष्य ने उसके बिना अपने आपको अपूर्ण अनुभव किया है और सदा करता रहेगा।

अभिनय हमारी केवल प्राचीन ही नहीं, प्रिय कला भी है। यदि हम जीवन को अधिक परिष्कृत और सुन्दर बनाने में इसका उपयोग करें तो इससे व्यक्ति और समाज दोनों ही अधिक पूर्ण हो सकेंगे। वैसे विकृत मात्रा में तो ओषधि भी विष हो जाती है।

प्रस्तुति
आरती पाण्डेय

नाट्य-रचना में विदूषक

●

डॉ० रामकुमार वर्मा

आचार्य भारत ने नाट्य-रचना का विधान करते समय विदूषक को विशेष महत्त्व दिया है। 'विदूषक' शब्द की उत्पत्ति तो सन्देहजनक है, किन्तु अनुमान किया जाता है कि उसमें जो 'दूष' धातु है, उससे दूषण देना, किसी को कलंकित करना, किसी के चरित्र पर धब्बा लगाना अर्थ ही निकलता है। यह दूसरी बात है कि ब्राह्मण अथवा ब्रह्म का पुत्र होने के कारण दूषण लगाने या कलंकित करने अथवा हँसी उड़ाने का कार्य विद्वत्तापूर्वक अथवा विशिष्ट पद्धति से हो। नाटक चाहे धार्मिक हो, चाहे सामाजिक, विदूषक सदैव धर्म और समाज की विसंगतियों पर प्रहार करता है, कभी रूढ़ियों का परिहास करता है, कभी कुप्रथाओं पर व्यंग्य करता है। कलंकित करने अथवा दोष लगाने की क्रिया घातक न हो जाय, इसलिए विदूषक को हास्य और व्यंग्य का आश्रय लेना पड़ता है जिसका परिणाम यह हो कि जिसकी हँसी उड़ायी जाय या जिस पर व्यंग्य किया जाय, वह स्वयं हँस पड़े और अपने दोष को सुधारने के लिए सजग हो जाय। इस भाँति विदूषक दो कार्य करता है—धर्म या समाज के परिष्कार के लिए हास्य या व्यंग्य का आश्रय लेता है और नाट्य-सभा में बैठे हुए लोगों का (जिन्हें आचार्य सामाजिकों की संज्ञा देते हैं) मनोरंजन करना। मनोरंजन की क्रिया ने विदूषक के वेश-विन्यास के निर्धारण में भी सहायता पहुँचायी है। विदूषक कुबड़ा, लँगड़ा या गंजा हो। यह छोटे कद का हो, उसकी दाढ़ी हरे या पीले रंग की हो। उसके बोलने का ढंग सामान्य व्यक्तियों से भिन्न होकर हास्यास्पद हो।

नाटक में विदूषक के आने की एक पौराणिक कथा है जो इस प्रकार है—

राजा नहुष जब अपने पुण्य से स्वर्ग पहुँचे, तो उन्होंने देव और देवांगनाओं द्वारा अभिनीत अनेक अभिनय देखे। उन्होंने प्रजापति से प्रार्थना की कि यह कला मेरी मातृभूमि—पृथ्वी पर भी अवतरित होनी चाहिए। उन्होंने इसे स्वीकार कर भरत-पुत्रों को पृथ्वी पर नाटक खेलने का आदेश दिया जहाँ नाटक खेलने से उन्हें ब्राह्मणों और क्षत्रिय राजाओं का आश्रय मिलेगा। परिणाम यह हुआ कि राजकुलों में राजकन्याओं को नृत्य, संगीत, चित्रकला और नाट्यकला की शिक्षा दी जाने लगी। ललित कलाओं में निपुण होने से हरदत्त आदि ब्राह्मण आचार्य अपनी इच्छा से नाट्यकला का प्रदर्शन कराने और करने लगे।

जब यह नाटक समाज के सम्पर्क में आया तो धर्म से अनुशासित समाज में मर्यादा की लीक बँधी। जब इस लीक से हटने में कहीं उच्छृंखलता देखी गयी, तो नाटक में ही अंकुश रखने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। इसी अंकुश के रूप में विदूषक की सृष्टि हुई।

विदूषक ब्राह्मण और विद्वान् होने के कारण ही अंकुश लगाने में समर्थ था और किसी भाँति भी कटुता न फैले, इसलिए उसे हास्य का आश्रय लेना आवश्यक था। विद्वान् ब्राह्मण होने

के कारण वह सहज ही नाटक में नायक का सहचर हो गया और नायक का सहचर्य प्राप्त होने के कारण उसके महत्त्व पर किसी को प्रश्नचिह्न लगाने का साहस नहीं हुआ। नायक का सहचर होने के कारण वह उसके सभी कार्यों का दर्शक और श्रोता बन गया। जहाँ सुख में वह नायक से परिहास करता है, वहाँ दुःख में वह उसे सांत्वना भी देता है। इस भाँति विदूषक जैसे नायक का एक सखा ही हो गया। महाकवि कालिदास ने अपने सभी नाटकों में विदूषक को महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रदान की है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में नायक दुष्यन्त के साथ विदूषक माढव्य दूसरे अंक के आरम्भ में ही आता है। राजा के आखेट करने की आलोचना करता हुआ अपनी थकावट की बात बड़े स्वाभाविक ढंग से करता है। वह राजा से परिहास भी करता है। जब राजा शकुन्तला के प्रति आसक्ति की बात करता है, तो विदूषक कहता है कि जैसे कोई मीठा छुहारा खाते-खाते ऊब कर इमली पर टूट पड़े, उसी प्रकार आप भी रनिवास की सुन्दरियों को भूलकर शकुन्तला पर लट्टू हो गये हैं।

इसी प्रकार 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में राजा पुरुरवा के साथ विदूषक माणवक है जो राजा की प्रेम की बात कहने के लिए व्याकुल है। 'मालविकाग्निमित्रम्' में भी विदूषक है जो राजा अग्निमित्र का परम मित्र है। विदूषकों की इस परम्परा से स्पष्ट है कि विदूषक राजा का अन्यतम मित्र, सहायक, परामर्शदाता, व्यंग्य करने वाला, हँसने-हँसाने वाला तथा भोजन-प्रेमी, विशेषकर लड्डूओं के प्रति बड़ी लालच-भरी दृष्टि से देखने वाला पात्र है। संस्कृत के अन्य नाटककारों ने भी इस परम्परा का यथावत् पालन किया है। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जो मौलिक नाटक लिखे हैं, उनमें भी विदूषक का स्थान महत्त्वपूर्ण है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन जो संवत् १९३० में लिखा गया, के दूसरे अंक में विदूषक आकर घोषणा करता है कि हे भगवन्! इस बकवादी राजा का नित्य कल्याण हो जिससे हमारा नित्य पेट भरता है, आदि। 'नीलदेवी' नाटक में वसन्तक नामक विदूषक पागल के रूप में आकर राजा सूर्यदेव के वध की गुप्त बातें कहता है। 'अंधेर नागरी' प्रहसन में तो अधिकांश पात्र ही विदूषक की भाँति हास्य की सृष्टि करते हैं। भारतेन्दु-युग की यह परम्परा द्विवेदी-युग में भी चलती रही। अन्तर यह हुआ कि द्विवेदी-युगीन नाटकों में गम्भीर दृश्यों के मध्य में प्रहसन का ही एक दृश्य रखा गया जिसमें दर्शकों का मनोरंजन होता रहे। दो-एक नाटककारों ने विदूषक को एक विशिष्ट पात्र बनाया। राधेश्याम कथावाचक ने अपने नाटक 'वीर अभिमन्यु' में राजा बहादुर जैसे पात्र से 'तारीफ तो यही है' प्रत्येक वाक्य के अन्त में कहला कर हास्य उत्पन्न करने की चेष्टा की है। श्री बदरीनाथ भट्ट ने अपने प्रहसन 'चुंगी की उम्मेदवारी' में वजीर नाम के नौकर से हास्य उत्पन्न कराया है।

श्री जयशंकर प्रसाद जी ने संस्कृत नाटकों की परम्परा को फिर भी जीवन प्रदान करते हुए विदूषक जैसे पात्र को पुनः रंगमंच पर उपस्थित किया है। अपने एकांकी नाटक 'एक घूँट' में उन्होंने चंदुला का प्रवेश कराया है जिसने अपनी चिकनी खोपड़ी से एक घूँट का विज्ञापन किया है। 'अज्ञातशत्रु' नाटक में सम्राट् उदयन के कार्य-व्यापार में अनुरंजन के हेतु वसन्तक नाम का विदूषक है जो जीवक के साथ व्यंग्य और परिहास करने में पटु है।

'स्कन्दगुप्त' का विदूषक मुद्गल है जो 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' के माढव्य की प्रतिकृति ही ज्ञात होता है। वह भी चलते-चलते थक जाने की बात कहता है और भोजन के निमंत्रण के प्रति सदैव लालायित रहता है। वह गोविन्द गुप्त से कह भी देता है कि--"तब महाराजा-पुत्र! बड़ी भूख लगी है। प्राण बचते ही भूख का धावा हो गया। शीघ्र रक्षा कीजिए।" प्रसाद जी के

अन्तिम नाटक 'ध्रुवस्वामिनी' में तो सम्राट् रामगुप्त के प्रकोष्ठ में विदूषकों के तीन रूप दृष्टिगत होते हैं। वे बौने, कुबड़े और हिजड़े के रूप में आते हैं और अपनी परिहासपूर्ण भाषा-शैली में रामगुप्त के मनोरंजन की भूमिका बनाते हैं। प्रसाद जी का 'चन्द्रगुप्त' नाटक सब नाटकों से बड़ा है। वह चार अंकों में लिखा गया है, किन्तु वीररस से पूर्ण होने के कारण उसमें विदूषक की आवश्यकता नहीं समझी गयी। प्रसादोत्तर काल के नाटककारों ने विदूषक जैसे विशिष्ट पात्र को नाटक में लाने की आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने नाटक के अन्तर्गत किसी पात्र को ही हास्य और व्यंग्य का प्रतीक बनाकर विदूषक के अभाव की पूर्ति कर ली। श्री सुमित्रानन्दन पन्त के 'ज्योत्स्ना' नाटक में 'उल्लू' ने ही छाया से अपनी मूर्खतापूर्ण बातें कर परिहास की स्थिति उत्पन्न की है। एकांकी नाटकों में विशिष्ट पात्रों से ही हास्य और व्यंग्य की स्थिति उत्पन्न की गयी है। श्री उदयशंकर भट्ट ने अपने एकांकी 'बीमार का इलाज' में सरस्वती – कान्ति की माँ के अन्ध-विश्वासों के आधार पर हास्य उत्पन्न किया है। 'मेरे एकांकी' नाटक 'महाभारत में रामायण' में बंगाली पात्र घोष के हिन्दी उच्चारण का ढंग ही हास्य उत्पन्न करता है।

इस भाँति आधुनिक युग में प्राचीन नाटकों का विदूषक अब मात्र 'हास्य और व्यंग्य' का शाब्दिक रूप लेकर ही रंगमंच पर रह गया है।

भरत-नाट्यशास्त्र के कुछ पारिभाषिक शब्द और उनका आधुनिक संदर्भ

डॉ० भानुशंकर मेहता

दो हजार वर्ष पूर्व लिखा गया भरतमुनि-विरचित भरत-नाट्यशास्त्र भारत का ही नहीं, शायद विश्व का पहला नाट्यशास्त्र है। इसके ३७ अध्यायों में नाटक से सम्बन्धित सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। नाटक का सम्बन्ध सभी विद्याओं और कला-कौशलों से होता है, अस्तु नाट्यशास्त्र में वास्तुकला, कर्मकांड, नृत्य, संगीत, साहित्य (रस, काव्य-छन्द, वृत्त, भाषा), नाट्य-लेखन, अभिनय (आंगिक, वाचिक, आहार्य, सामान्य तथा चित्राभिनय), चारी, मण्डल, गतिप्रचार, स्थान-विभाग, नायक-नायिका भेद, भूमिका, प्रेक्षक और प्राश्निक, सिद्धियाँ, वर्जनाएँ, सूत्रधार, विदूषक, नाट्यकला का इतिहास और माहात्म्य सभी विषय शामिल होते हैं।

सहज बात है कि ऐसे तकनीकी ग्रंथ में अनेक गूढ़ार्थ पारिभाषिक शब्दों का समावेश हो और आधुनिक रंगकर्मी उन्हें अपने वर्तमान रंगमंच के सन्दर्भ में ढूँढ़ने और समझने की चेष्टा करें। दूसरी ओर इन पारिभाषिक शब्दों में जो विभिन्न कला-कौशल विद्याओं से सम्बन्धित हैं, एक जटिल कठिनाई पैदा कर दी है। इसके कारण आज भी नाट्यशास्त्र का कोई प्रामाणिक और सही अनुवाद उपलब्ध नहीं है। कारण यह कि जब किसी एक विषय का आचार्य नाट्यशास्त्र का अनुवाद करने बैठता है, तो अपने विषय से संबन्धित अध्याय का तो उत्तम अनुवाद करता है, पर अन्य अध्यायों में उसकी गति उत्तम नहीं होती। फलतः अनेक मत-मतान्तर और विवाद उत्पन्न हो गये हैं। आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न विद्याओं के आचार्यों की एक टोली मिल कर अनुवाद करे और नाट्यशास्त्र की आधुनिक टीका तैयार हो सके जिससे हमें भारतीय विरासत और अस्मिता की पहचान हो सके।

सम्प्रति हम यहाँ भरत-नाट्यशास्त्र के कुछ शब्दों और पदों पर विचार करेंगे जिससे नाट्य-शास्त्र से अपरिचित व्यक्ति का ध्यान इस अनमोल ग्रन्थ की ओर आकर्षित हो।

क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत (१-११)—ऐसा खेल जो दृश्य और श्रव्य—**'आडियो-विजुअल'** हो। आज शिक्षा, मनोरंजन, नाटक, दूरदर्शन, वीडियो में इसका महत्त्व सर्वविदित है।

वेदपंचमं (१-१२, १३, १५)—नाटक को पाँचवाँ वेद कहा है। यह सार्ववर्णिक है, अर्थात् बिना भेद-भाव के सभी वर्णों, सभी वर्गों के लिए है, नर, देव, दानव सभी के लिए है। 'भविष्य-तश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्'—भावी पीढ़ी को धर्म, अर्थ, यश, उपदेश सभी का ज्ञान करायेगा—अनुदर्शक होगा। साथ ही 'सर्वशास्त्रार्थ सम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्'—सभी शास्त्रों

और शिल्पों का प्रवर्तक होगा। आज भी नाटक सर्वशास्त्र—सभी कला-कौशलों के ज्ञान की अपेक्षा करता है।

नाट्यं भावानुकीर्त्तनम् (१-१०७)—नाटक भावों का अनुकीर्तक है, उसका साक्षात् आचरण नहीं है। आधुनिक नाट्यशास्त्र भी इस बात का समर्थन करते हैं। अनुकीर्तन में अनुकरण, अनुकथन और अनुकार्य का योगदान होता है।

लोकवृत्तानुकरणं (१-११२)—लोक के कार्यों, इच्छा-कामनाओं का नाटक अनुदर्शक है। समाज का दर्पण है।

सर्वकर्म क्रियास्वथ सर्वोपदेशजननं (१-११४)—सभी रसों, भावों और क्रियाओं से जनोपदेश करने वाला है।

विश्रांतिजननं—दुखी, थके, ग्लानि भरे लोगों को विश्राम देने वाला है।

नतज्ज्ञानं, नतच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला;
ना सौ योगो, न यत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते। (१-११७)

कोई भी ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग या कर्म ऐसा नहीं है जो नाटक में न दिखता हो।

नाट्यंवृत्तांतदर्शकम् (१-१२०)—नाटक इतिहास का दर्शन कराता है।

उपर्युक्त पदों में नाटक क्या है, इसकी व्याख्या की गयी है जो आधुनिक संदर्भ में भी उतनी ही खरी उतरती है।

नाट्य-मण्डप की रचना (अध्याय २)—भरत ने तीन प्रकार—विकृष्ट (आयताकार, रेक्टैंगुलर), चतुरस्त्र (वर्गाकार, चौकोर, स्क्वायर) और त्यस्त्र (त्रिकोण, ट्रायांगुलर) और तीन आकार की ज्येष्ठ (विशाल), मध्यम (सामान्य) और अवर (छोटी) नाट्यशाला की चर्चा की है। **ज्येष्ठ** १६२ फुट (१०८ हस्त) लंबी, **मध्यम** ९६ फुट (६४ हस्त) और **अवर** ४८ फुट (३२ हस्त) लंबी होती थी। इनमें मानवोपयोग लिए **विकृष्ट-मध्यम** नाट्यशाला की सिफारिश की गयी है क्योंकि इस रंगशाला में संगीत और संवाद ठीक से सुन पड़ते हैं, मुख के भाव और मुद्राएँ स्पष्ट दिखती हैं। ज्ञातव्य है कि उन दिनों स्पाट-लाइट और माइक का प्रबन्ध नहीं था। आज भी मानक रंगशालाएं ९६×४८ फुट के लगभग की ही हैं।

रंगमंच—नाट्य-मण्डप को दो समान भाग में बाँटें तो ४८-४८ फुट के दो हिस्से होंगे। पूर्व भाग दर्शकों के लिए प्रेक्षागृह और पश्चिमार्ध रंग-मण्डप होगा। रंग-मण्डप को पुनः दो सम भागों में बाँटें (२४।२४ फुट के) तो पूर्व भाग (प्रेक्षागृह की ओर का) **रंगपीठ+रंगशीर्ष** और पश्च भाग **नेपथ्यगृह** होगा। रंगमंच का अग्रभाग (१२ फुट) रंगपीठ और पीछे का रंगपीठ के तल से १२ अंगुल ऊँचा भाग (१२ फुट) रंगशीर्ष होगा। चौड़ाई में रंगपीठ (२४ फुट) के दोनों ओर १२-१२ फुट की मत्तवारणी होगी और इसका तल भी रंगपीठ से १२ अंगुल ऊँचा होगा।

रंगपीठ—रंगमंच का अग्रभाग जिस पर अभिनय होता है (१२×२४ फुट)।

रंगशीर्ष—रंगपीठ के ठीक पीछे का भाग (२४×१२)। इसकी उपयोगिता की बाबत मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान् कुतप (आर्केस्ट्रा) बैठाते हैं, अभिनय के लिए भी इसका उपयोग होता है। द्विभूमि—दो स्तर वाली भूमि आधुनिक नाटकों में भी उपयोगी होती है। वास्तव में आज तो कई स्तर (लेवल्स) बनाये जाते हैं। एक विवाद का प्रश्न है कि 'कुतप' कहाँ रहेगा?

कुछ स्टेज डिजाइनर्स ने रंगशीर्ष के मध्य में 'कुतप' और उसके दोनों ओर प्रवेश तथा निर्गम-द्वार की कल्पना की है। इन द्वारों से कलाकार नेपथ्यगृह से मंच पर प्रवेश करते और बहिर्गमन करते थे। 'अभिनय-भारती' इन द्वारों को उत्तर-दक्षिण में स्थित बताती है। दूसरे ये द्वार प्रवेश के लिए छोटे पड़ते हैं; विशेषकर समूहों के प्रवेश के लिए।

नेपथ्यगृह—वर्तमान सन्दर्भ में 'नेपथ्य' शब्द का प्रयोग रंगमंच की पार्श्व भूमियों के लिए किया जाता है। यह भाग दर्शक की दृष्टि से विंग्स के कारण छिपा रहता है। इस 'नेपथ्य' से पात्र प्रवेश करते हैं, बाहर जाते हैं। प्रकाश-ध्वनि नियन्त्रण होता है। त्वरित मुखसज्जा और वेश-विन्यास, शोर और संगीत, पार्श्व-संकेत तथा रंग-सामग्री रखने का यहीं प्रबन्ध होता है।

भरत का **'नेपथ्यगृह'** आज का **ग्रीनरूम** है। इस बात पर भी अभी मतैक्य नहीं है कि परदा रंगपीठ और रंगशीर्ष के बीच या रंगशीर्ष और नेपथ्य के बीच होता था, पर एक टीकाकार ने अवश्य बताया है कि रंगशीर्ष से पर्दे द्वारा अलग की गयी प्रसाधन-हेतु आरक्षित भूमि ही 'नेपथ्य' है।

मत्तवारणी—इस शब्द पर भी अभी मतैक्य नहीं है। नाट्यशास्त्र केवल इतना निदेश करता है कि (१) रंगपीठ के पार्श्व में (२-६७) मत्तवारणी बनायें तथा (२) रंगपीठ के प्रमाण के अनुसार चार स्तंभों-वाली मत्तवारणी बनायें जो रंगपीठ से प्रमाण में आधा हाथ ऊँची हो (२-६८)। तीसरे श्लोक में **'रंगमण्डप'** का प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि रंगपीठ और मत्तवारणी की ऊँचाई के बराबर रंगमण्डप बनायें। कुछ टीकाकार बताते हैं कि मत्तवारणी रंगमंच से बाहर दोनों ओर होती थी। (१ तथा २)

'मत्तवारणी' का अर्थ भी समझना होगा। **मत्त** नशे में चूर होता है; **वार** होती है बाड़, रोक, द्वार (दो-वार), अर्थात् मत्त (हाथी ?) को रोक कर रखने वाला बाड़ा।

मुझे प्रतीत होता है कि भरत की नाट्य मण्डप-रचना आधुनिक 'प्रोसीनियम थियेटर' जैसी ही थी। प्रेक्षागृह, रंगमंच (रंगपीठ+शीर्ष) और दोनों ओर नेपथ्य (मत्तवारणी) तथा पीछे नेपथ्यगृह—ग्रीनरूम। विंग्स के स्थान पर स्तंभ होते थे। इसी मत्तवारणी क्षेत्र में ग्रीनरूम से आने का रास्ता था। संभवतः पात्र तैयार होकर मत्तवारणी में आते थे। यहाँ दर्पण में देखकर और सहायकों की मदद से वे रूपसज्जा और वेश-विन्यास में सुधार करते, भूमिका का पुनः स्मरण करते, बाहर हो रहे मंच-व्यापार से भावनाओं को उद्वेलित करते (ठीक वैसे ही जैसे मैदान से लगे कक्ष में बंदी हाथी बाहर के दृश्य देखकर उत्तेजित होता था) और समय आने पर पूरे ताम-झाम के साथ (जैसे राजा अपने भृत्यों, छत्र, चँवर के साथ) प्रवेश करते। कभी यह प्रवेश रंग-पीठ पर होता, कभी रंगशीर्ष में। संस्कृत नाटकों और आधुनिक नाटकों (प्रोसीनियम मंच के लिए लिखे गये) के लिए यह मंच-व्यवस्था व्यावहारिक प्रतीत होती है।

यवनिका—नाट्यशास्त्र के पाँचवें अध्याय में भरत **पूर्वरंग** की चर्चा करते हुए कहते हैं कि प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रवणा, वक्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गासारित, ज्येष्ठ-मध्य-कनिष्ठ आसारित शीर्षक ग्यारह अंग (पूर्वरंग के) पट के पीछे से प्रयुक्त होंगे (यवनिका गतैः – ५-११)। इसके बाद 'विघाट्य वै यवनिका' (५-१२) अर्थात् यवनिका हटाकर अगले अंग (संगीत, नृत्य, सूत्रधार की बात, जर्जर स्थापन आदि) प्रस्तुत करें।

पुनः १२वें अध्याय के आरम्भ (१२-३) में भरत कहते हैं—'पटे चैवापकर्षितै'—पर्दे हटाकर पात्रों का प्रवेश हो।

इसमें दो राय नहीं है कि यवनिका या पट का अर्थ परदा है। 'यवनिका' को बहुत से विद्वान् यूनान से सम्बन्धित करते हैं, पर शायद यह सही नहीं है क्योंकि नाट्यशास्त्र यूनानी नाटकों से प्रभावित नहीं है। 'यवन' का जहाँ यूनान से सम्बन्ध है, वहीं इस शब्द का एक अर्थ है 'दूर रखना' और एक तीसरा अर्थ है 'तेज, त्वरित'। हरिवंश पुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण, और श्रीमद्भागवत में "यवनिका' शब्द प्रयुक्त हुआ है। परदे के लिए अन्य शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जैसे प्रतिशिरा, तिरस्करणी, पटी, अपटी और कर्मकाण्ड (यज्ञोपवीत, विवाह आदि) में **अंतर्पट**। वाजसनेय संहिता में एक शब्द मिलता है—**यम नय**। यम का अर्थ है रोकना, अवरोध करना और यह भी मंच पर स्थित पटी या यवनिका का ही पर्याय है।

आधुनिक कथकली या यक्षगान में 'तिरस्करणी' का प्रयोग होता है जिसकी परम्परा बहुत ही पुरानी है। दो व्यक्ति एक चित्रित पटी लेकर आते हैं जिसके पीछे पात्र छिपा रहता है। यह व्यवस्था दर्शकों के कौतूहल और उत्सुकता को बढ़ाने में सहायक होती है। ठीक समय पर जब पात्र को प्रकट होना है, नाटकीय ढंग से तिरस्करणी हटा ली जाती है। आधुनिक नाट्य-प्रयोगों में इसका बड़ा ही कलात्मक प्रयोग हुआ है।

एक विवाद इस बात पर भी है कि यवनिका कहाँ होती थी—रंगपीठ के सामने, रंगशीर्ष और पीठ के बीच या शीर्ष और नेपथ्य के बीच? यह सचल थी या स्थिर? पटी के आकर्षण की बात ऊपर कही जा चुकी है। शास्त्रीय विवादों को छोड़ दें तो व्यावहारिक बात यह प्रतीत होती है कि रंगशीर्ष के पीछे एक पट होता था और एक सचल यवनिका शीर्ष और पीठ के बीच लटकती थी। पूर्वरंग के मध्य में इसे हटाते थे और पूर्वरंग का उत्तरार्ध सम्पन्न होता था। पुनः पूर्वरंग समाप्त होने पर पटी खींच देते थे। कुतप के कलाकार उठकर पार्श्व में आ जाते थे और अब द्विभूमि रंगमंच पात्रों के लिए उपलब्ध हो जाता था। रंगपीठ के समक्ष पारसी नाटकों की भाँति भव्य दृश्यों वाली जवनिका होती थी या नहीं, कहना कठिन है, शायद नहीं होती थी। आज भी अनेक निदेशक रंगमंच को खुला, अनावृत्त रखना पसंद करते हैं और प्रकाश तथा अन्धकार से दृश्य-परिवर्तन कर लेते हैं। 'परदा उठाओ—परदा गिराओ' की बात नये त्रि-आयामी दृश्यबंधयुक्त मंच पर पुरानी पड़ गयी है, अब नाटककार दृश्य के अन्त में लिखते हैं—"मंच पर अन्धकार छा जाता है"।

दृश्य पट की बात भी विचारणीय है। पारसी थियेटर में अनेक चित्रित रोलर वाले (उठने-गिरने वाले) परदे होते थे, "जंगल, सड़क, महल, गरीब का घर, लड़ाई का मैदान, कामिक" के पर्दे बहुत ही प्रचलित थे। आज भी कहीं-कहीं इनका प्रयोग होता है। फिर आधुनिक मंच पर एकरंगे परदे आये जो एक ओर को खींच लिये जाते थे। दृश्यबंध ने परदे पर अंकित चित्रों का स्थान ले लिया। अधिकतर नाटक एक सेट के ही लिखे जाते थे। अनेक दृश्यों वाले नाटक के लिए चक्रिल मंच की कल्पना की गयी, कट्स और शिफ्ट स्टेज जैसी करामातें भी की गयीं, सादे परदे पर चित्र प्रोजेक्ट करके भी काम चलाया गया। पर संस्कृत नाटक की (और अत्याधुनिक नाटक की भी) परम्परा किसी भी सेट की अपेक्षा नहीं करती, केवल अभिनटन या मुद्रा द्वारा दर्शक को स्थान और स्थिति का भान करा दिया जाता है। शायद कुछ सूचक सामग्री का प्रयोग होता रहा हो, जैसे पशु-पक्षी, पर्वत, वृक्ष आदि और इसके लिए भरत अपने शास्त्र के २१वें अध्याय में आहार्य अभिनय के अंतर्गत 'पुस्त' की चर्चा करते हैं। लोहे, चमड़े, वस्त्र, बाँस, मिट्टी आदि से पुस्त बनाते थे। वे इनके बनाने की विधि भी बताते हैं। पुस्त में शैल, विमान, ध्वजा, हाथी, पशु-पक्षी, यंत्र आदि अनेक चीजें बनती थीं। आधुनिक नाटकों में ऐसे 'प्राप्स' का

प्रयोग होता है, बाकी तो 'नाट्य-धर्मी' कलाकार केवल मुद्रा की भाषा में सब कुछ कह लेता है।

स्तंभ-स्थापन—नाट्यशाला के निर्माण में स्तंभ-स्थापन का भरत नाट्यशास्त्र के दूसरे अध्याय में विवेचन है और आज भी अत्यन्त रोचक विवाद का विषय है। दारु या लकड़ी के बने ये खम्भे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते थे, उनको रँगा जाता है, उन पर चित्र बनाये जाते थे। उनकी संख्या और स्थान का भी विवरण है, पर इनका सही विवरण तो वास्तुविद् ही कर सकते हैं। आधुनिक रंगशाला में तो अब स्तंभ होते ही नहीं हैं।

जर्जर—नाटक में विघ्न डालने वालों को कभी इन्द्र ने अपने रत्नजटित ध्वजदंड से मार भगाया था और यह आयुध 'जर्जर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। भरत के पूर्वरंग में उत्तरार्ध में परिवर्त्तन के समय सूत्रधार दो परिपार्श्वकों के साथ प्रवेश करता है। एक परिपार्श्वक बाँस से बना जर्जर लिए होता है। पूजन, पुष्पांजलि, प्रदक्षिणा आदि के बाद सूत्रधार जर्जर ग्रहण करता और अनेकचारी प्रयोगों के बाद जर्जर को मंच के एक छोर पर स्थापित कर देता है।

२१वें अध्याय में जर्जर बनाने की विधि दी गयी है। १०८ अंगुल माप का पाँच पोर का बाँस, जिसमें चार गाँठें हों, लेकर सरसों, मधु, घी से संस्कारित करे, धूप-दीप-माल्य से पूजित होता है, विविध रंगों में इसे रँगते हैं, इस पर ध्वजाएँ लगाते हैं और इस कलात्मक जर्जर को मंच पर स्थापित करते हैं। मूल बात नाटक में व्यवधान के निराकरण की है और उपचार सदा से ही साम-दाम-दंड-भेद रहा है। आज भी सुरक्षा-व्यवस्था का प्रबन्ध तो करना ही होता है और हूटिंग करने वाले 'कलाविहीन असुरों' की आज भी कमी नहीं है।

विष्कंभक—प्राचीन नाटकों का रूपकों और उपरूपकों में वर्गीकरण किया गया। नाटक को अंकों में बाँटा गया। अंकों के बीच सहायक दृश्यों की आवश्यकता हुई और इसके लिए प्रवेशक, विष्कंभक, चूलिका, अंकावतार, अंकमुख की व्यवस्था की गयी। विष्कंभक अंकों के बीच आने वाला ऐसा ही सहायक अंक है जिसमें केवल मध्यम चरित्र आते हैं। आज के नाटकों में भी 'फ्लैश-बैक', उद्घोषक द्वार कथा कहना, सूत्रधार या निदेशक का आकर क्रम जोड़ना होता है।

वचन—(१) **आकाशवचन** (**आकाशभासित**)—जिस व्यक्ति से बात की जाती है, वह मंच पर नहीं होता। संवाद उत्तर-प्रत्युत्तर में होते हैं।

(२) **आत्मगत** (**स्वगत**)—अपने आप से बात करना जिसे दर्शक सुन सकते हैं।

(३) **अपवारितकम्**—गोपनवार्ता जिसे केवल एक व्यक्ति सुनता है, बाकी मंच पर उपस्थित कलाकार नहीं सुनते।

(४) **जनान्तिकम**—एक पात्र नहीं बात सुनता, बाकी सब सुनते हैं।

कुतप—आधुनिक मंच की भाषा में यह आर्केस्ट्रा है, वाद्य-वृंद जो नाटक में पृष्ठसंगीत देता है। कुतप में तीन भाग होते हैं—तत्, अवनद्ध और नाट्यकृत। **तत्** में गाने वाले, तारयुक्त वाद्य बजाने वाले और बाँसुरी जैसे सुषिर वाद्य वादन करने वाले होते हैं। **अवनद्ध** में मृदंग, पणव, दर्दुर आदि ताल वाद्य होते हैं और नाट्यकृत अभिनय करने वाले पात्रों का समूह होता है। 'कुतप' शब्द का अर्थ है—रंगभूमि को तपाने या उज्ज्वल करने वाले (कु=भूमि, रंगस्थल तपति=तपाना, उज्ज्वल करना)। भरत ने संगीत को नाटक का अभिन्न अंग माना है और गायक-वादक-पात्र मिलकर पूरी नाट्य-मण्डली बनाते थे। यह बात आधुनिक नाटकों के लिए पूरी तरह से लागू है।

भरतवाक्य—संस्कृत के सभी नाटक सदा मंगलाचरण से आरम्भ होते हैं, क्योंकि यही भारतीय परम्परा है और नाटक के अंत में शुभ कामना व्यक्त की जाती थी जिसे 'भरत-वाक्य' कहते थे। नाटक के अंत में पात्र विश्व-कल्याण की कामना करते थे। एक बहुत अच्छा उदाहरण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र विरचित 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक है। इसका भरत-वाक्य इस प्रकार है :

'खल गनन सों सज्जन दुखी मति होई, हरिपद रति रहै।
उपधर्म छुटैं, सत्य निज भारत गहै, कर दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर नारि नर सम होंहि, सब जग सुख लहै।
तजि ग्राम-कविता सुकविजन की अमृतबानी सब कहै॥'

भरतवाक्य भारतीय परम्परा और संस्कृति के अनुरूप है। भारत के नाटक सुखान्त होते थे। पाश्चात्य-यूनानी नाट्य-परम्परा के अनुसार दुःखान्त या त्रासदी नहीं होते थे। भारतीय नाटक में दर्शक प्रासाद और सुखानुभूति लेकर नाट्यशाला से विदा होते थे। वर्तमान रंगमंच चाहता है दर्शक चौंके, मर्माहत हो, समाज तथा देश की पीड़ा का सहभागी बने, वर्तमान के त्रास को साथ लेकर जाय और घर जाकर समस्याओं पर चिंतन करे। बदले हुए जमाने में भरतवाक्य का स्थान अनुत्तरित प्रश्नों और त्रास-भरी समस्याओं ने ले लिया है। भरत और भुरता के बीच चयन आपको करना है।

●

हिन्दी नाटक और रंगमंच का विकास

●

डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में आधुनिक काल के अंतर्गत गद्य-साहित्य-परम्परा का प्रकरण खोलते हुए रामचन्द्र शुक्ल भारतेन्दु के कृतित्व में नाटक की केन्द्रीय स्थिति को सही पहचानते हैं, पर एक विस्मय का भाव प्रकट करते हुए वे लिखते हैं, "विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ।" विलक्षणता शायद उन्हें इस बात में लगती है कि कहाँ तो हिन्दी-क्षेत्र में नाटक पिछली पाँच शताब्दियों से अनुपस्थित था और कहाँ आधुनिक काल का प्रवर्तन इसी के माध्यम से होता है। ऊपर से देखने पर यह विस्मय वाजिब है। पर यदि समूची स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो परिप्रेक्ष्य कुछ दूसरे रूप में उभरता दिखता है। पुनर्जागरण-आन्दोलन के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ एक मुख्य प्रतिज्ञा यह थी कि हिन्दू जाति की एकांतिक भावना का निरसन करके उसे एक समाज के रूप में गठित किया जाए। 'ब्रह्म समाज', 'प्रार्थना-समाज', 'आर्य समाज', और आगे चल कर स्वयं भारतेन्दु द्वारा संस्थापित 'तदीय समाज' (१८७३) के नामकरण और उनके कार्यक्रम इस मान्यता को भली-भाँति पुष्ट करते हैं। इधर नाटक सभी साहित्य और कला-माध्यमों के बीच अपनी प्रकृति में सर्वाधिक सामाजिक है। रंगमंच पर उसका प्रस्तुतीकरण अनेक प्रकार के कलाकारों के सहयोग से होता है, वैसे ही उसका आस्वादन समाज के रूप में किया जाता है। इस स्थिति में पुनर्जागरण की व्यापक सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति के लिए नाटक ही सर्वाधिक उपयुक्त माध्यम था। यों गद्य के क्षेत्र में नाट्य-माध्यम का पहला चुनाव करके भारतेन्दु ने अपनी सही ऐतिहासिक दृष्टि का परिचय दिया।

भारतेन्दु ने पूरे-अधूरे, मूल, अनुवाद सब मिलाकर सत्रह नाटक रचे। 'नाटक' शीर्षक से एक लम्बा निबन्ध लिखा (१८८३) जो हिन्दी आलोचना की आधारशिला कहा जा सकता है—और बड़ी बात यह कि नाटक और रंगमंच को अभिन्न मानकर उन्होंने स्वयं और अपनी मित्र-मण्डली के माध्यम से नाटकों के अभिनय को बराबर प्रोत्साहन दिया। यहाँ तक कि अपने जीवन का अन्तिम संवाद उन्होंने नाटक की लक्षणा में ही बोला, "हमारे जीवन-नाटक का प्रोग्राम नित नया-नया छप रहा है, पहले दिन ज्वर की, दूसरे दिन दर्द की, तीसरे दिन खाँसी की सीन हो चुकी है। देखें लास्ट नाइट कब होती है।"

भारतेन्दु ने संस्कृत, बँगला तथा अँग्रेजी तीनों स्रोतों से नाटकों के अनुवाद किए। उनका 'दुर्लभ बन्धु' (१८८०) अँग्रेजी 'द मर्चेंट ऑफ़ वैनिस' का रूपांतरण, शेक्सपियर के हिन्दी में बिलकुल आरम्भिक अनुवादों में से है—शेक्सपियर का पहला हिन्दी अनुवाद माना जाता है 'द कॉमेडी आफ़ एरर्स' का रत्नचन्द्र द्वारा प्रस्तुत शीर्षक 'भरमजालक नाटक' (१८७९)। मौलिक

नाटकों का विषय, नाट्य-रूप, ऐतिहासिक-क्रम हर दृष्टि से वैविध्य द्रष्टव्य है। इनमें से 'अन्धेर नगरी' (१८८१) को समकालीन क्लैसिक की कोटि में गिना जा सकता है। अँग्रेज़ी राज पर तात्कालिक रूप में, और शासन-सत्ता की प्रकृति पर शाश्वत रूप में यह तरल शैली में लिखा गया, पर उतना ही तीखा व्यंग्य है। इसे 'प्रहसन' कहकर हम इसकी पूरी नाट्य-प्रक्रिया का सरलीकरण कर लेते हैं। जोनाथन स्विफ्ट की अँग्रेजी रचना 'गलिवर्स ट्रैवल्स' की तरह इसमें अर्थ की परतें अनेक स्तरों पर खुलती हैं। इसीलिए बच्चों से लेकर ज्ञान-वृद्धों तक के बीच में यह रचना लोकप्रिय है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि हिन्दी-क्षेत्र में पारसी नाटक मंडलियों की स्थिति से भारतेन्दु-मण्डल के लेखक परेशान थे। उनकी लोकप्रियता से उन्हें स्पर्द्धा थी, पर उसके फूहड़पन से वे उतने ही क्षुब्ध थे। १८७१ के आसपास बम्बई से आरम्भ इस व्यावसायिक रंगमंच-प्रणाली ने अधिकतर दो प्रकार के नाटक अपनाए—धार्मिक और इश्क-सम्बन्धी। सामान्य जनता की इन दो मूल वृत्तियों को संतुष्ट करके ये अपना व्यवसाय चलाते थे। इन पारसी कंपनियों का दौर प्रायः १९३० तक बना रहा जब सिनेमा के बढ़ते प्रभाव में ये समाप्त हो गईं। पारसी नाटकों के विरोध में स्वयं भारतेन्दु (द्रष्टव्य 'नाटक' शीर्षक निबन्ध) और उनके सहकर्मियों ने बहुत कुछ लिखा, पर उनके किन्हीं लटकों को उन्होंने स्वीकार भी किया। यह उनके मन में स्पष्ट हो गया था कि अधिकांश में निरक्षर जनता के बीच पैठने के लिए रंगमंच तथा लोक-माध्यमों से उपयुक्त कोई और प्रणाली नहीं है। भारतेन्दु-युग के लेखकों ने इस दोनों माध्यमों का भरपूर उपयोग किया है।

भारतेन्दु के पिता गिरिधरदास का 'नहुष' नाटक तो पद्यबद्ध ब्रजभाषा में है। खड़ीबोली में राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा गद्य में अनूदित 'शकुन्तला नाटक' (१८६२) पहले आता है। फिर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी प्रतापनारायण मिश्र तथा बदरीनारायण चौधरी के नाटक खड़ीबोली गद्य में एक के बाद एक क्रम में चले आते हैं।

नाटक अपनी प्रकृति से संश्लिष्ट विधा है। भरत मुनि ने जो कहा है, 'न ऐसा कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या है, न ऐसी कोई कला है, न कोई योग है और न कोई कार्य ही है जो इस नाटक में प्रदर्शित किया जाता हो, (१-११६) वह आज तक अपनी जगह है। नाटक के प्रस्तुतीकरण में अनेक व्यक्तियों का सामूहिक योगदान है: नाटक-लेखक, निर्देशक, अभिनेता, सज्जा-सहायक, मंच-व्यवस्थापक, प्रकाश-चालक और इनके पीछे कार्य करने वाले अनेक शिल्पी तथा कारीगर। नाट्य-रचना में इन सबका गुणात्मक सहयोग है। दूसरी ओर नाटक का आस्वाद भी अपनी प्रकृति में सामूहिक है। अनेक व्यक्ति एकसाथ बैठकर उसे देखते हैं और इस एक-साथ बैठने में नाटक का प्रभाव बढ़ता है, क्योंकि मनोभाव अपनी प्रकृति से अनेक बार संक्रामक होते हैं। नाटक देखने वाले को इसीलिए हमारे यहाँ नाम दिया गया "सामाजिक"। तो, नाटक अपनी रचना और आस्वाद दोनों सिरों पर सामूहिक तथा सामाजिक है। ऐसी स्थिति में पुनर्जागरण की मूल सामाजिक चेतना को व्यक्त करने के लिए यदि भारतेंदु और उनके सहयोगियों ने नाटक के माध्यम को चुना तो युगीन परिस्थिति और काव्य-रूप के सम्बन्ध की उनकी सही समझ की हमें सराहना करनी होगी।

भारतेंदु-युग के प्रायः सभी लेखकों ने मुख्यतः या गौण रूप में नाट्य-रचना अवश्य की। इस युग के नाटककार और उनकी प्रमुख नाट्य-रचनाएँ हैं—देवकीनंदन त्रिपाठी (प्रकाशित-अप्रकाशित १० नाटक), शिवनंदन सहाय (कृष्ण-सुदामा नाटक), प्रतापनारायण मिश्र (संगीत

शाकुन्तल), बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (भारत सौभाग्य नाटक : १८८६), बालकृष्ण भट्ट (दमयंती स्वयंवर : १८६२, नल-दमयंती : १८६७), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी (जानकीमंगल नाटक : १८६८), श्री निवासदास (रणधीर और प्रेममोहनी : १८७७, संयोगिता स्वयंवर : १८८५), राधाकृष्णदास (महारानी पद्मावती : १८८३, राजस्थान केशरी अथवा महाराणा-प्रतापसिंह : १८६७), अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (रुक्मिणी परिणय नाटक : १८६४), राधाचरण गोस्वामी (अमरसिंह राठौर : १८६५), किशोरीलाल गोस्वामी (मयंक मंजरी महा-नाटक : १८६१)। नाटक की संश्लिष्ट प्रकृति के अनुरूप ही इस युग के लेखकों ने नाट्य-रचना की, नाटक के सम्बन्ध में आलोचना और समीक्षाएँ लिखीं तथा नाटकों के प्रस्तुतीकरण और अभिनय में भाग लिया। किसी एक युग में इतने पूर्णकालिक नाटक कम लिखे गए हैं। फिर भारतेंदु हरिश्चन्द्र का 'नाटक' शीर्षक निबन्ध (१८८३) हिन्दी की सैद्धांतिक आलोचना का आरंभिक लेखन माना जाता है। इस तरह व्यावहारिक पुस्तक-समीक्षा की शुरुआत भी नाटक से सम्बन्धित है। लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता-स्वयंवर' की समीक्षा १८८६ की 'आनन्द कादंबिनी' में बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने और 'हिन्दी प्रदीप' में बालकृष्ण भट्ट ने की। अभिनय के संदर्भ में यह स्मरणीय है कि स्वयं भारतेंदु तथा उनके अनेक मित्र रंगमंच पर भूमिकाओं में उतरते थे तथा अन्य रूपों में रंगकर्म को प्रोत्साहन देते थे। आधुनिक हिन्दी का पहला अभिनीत नाटक शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का 'जानकीमंगल' माना गया है जो १८१८ में काशी में खेला गया और जिसमें लक्ष्मण का अभिनय भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने किया। शकुंतला के अभिनय में प्रतापनारायण मिश्र का अपने पिता से मूँछ मुड़ाने के लिए आज्ञा माँगना प्रसिद्ध है। यों नाटक हर दृष्टि से भारतेंदु-युगीन लेखकीय जीवन का प्रधान अंग था।

भारतेंदु के बाद नाटक आंदोलन कुछ समय तो गतिशील रहता है, पर क्रमशः शिथिल पड़ता जाता है। इसके पीछे कई कारण देखे जा सकते हैं। साहित्य-क्षेत्र में उपन्यास का नया माध्यम लेखकों तथा पाठकों, दोनों के बीच लोकप्रिय हो रहा था। दर्शकों में से बहुतेरे यंत्रावलंबित माध्यम सिनेमा की ओर आकर्षित हो रहे थे और सबसे बड़ी बात यह थी कि भारतेंदु-जैसा केन्द्रीय व्यक्तित्व फिर कोई दूसरा नहीं हुआ जिसके इर्द-गिर्द एक मित्र-मंडली बनती और नाटक के सामूहिक माध्यम में सक्रिय रुचि लेती। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि हिन्दी क्षेत्र में रंगमंच के विकास के लिए कई प्रकार के सामाजिक अवरोध थे, जैसे छुआछूत की भावना और पर्दा-प्रथा। इस दृष्टि से पुनर्जागरण के अग्रणी प्रदेश बंगाल और महाराष्ट्र की तुलना में यह क्षेत्र पिछड़ा रहा है। जिस क्षेत्र में सामाजिक समरसता अधिक होगी, सामान्यतः वहाँ का रंगमंच और फलतः नाटक विकसित होगा।

भारतेन्दु के समय में और उनके बाद हिन्दी क्षेत्र में नाटक या तो व्यावसायिक पारसी मण्डलियों द्वारा खेले जाते थे या कुछ प्रबुद्ध साहित्यकारों और साहित्य-प्रेमियों द्वारा। यों व्याव-सायिक तथा शौकिया दोनों प्रकार के मंच चलते रहे। पहला आधुनिक रंगमंच बंगला का है जिसके अंतर्गत कलकत्ता में एक रूसी नागरिक लेबेडेफ द्वारा १७६५ में एक बंगला अनुवाद का मंचन हुआ। दूसरा बड़ा नगर बम्बई था जहाँ पारसी रंगमंच पर हिन्दी नाटक की शुरुआत हुई १८७१ में विक्टोरिया नाटक मंडली द्वारा। अगले वर्ष से ही अलग-अलग सेठों की कंपनियाँ उत्तर भारत के छोटे-बड़े नगरों में घूम-घूम कर तम्बू लगा कर अपनी प्रस्तुतियाँ करती थीं। इनके कथानक दो प्रकार के थे। या तो पौराणिक-धार्मिक या इश्किया, बहुत कुछ आज के सामान्य बम्बइया सिनेमा की तरह। इनके लिए नाटक लिखने वालों में प्रसिद्ध हुए—नारायण-

प्रसाद 'बेताब', आगा हश्र कश्मीरी तथा राधेश्याम कथावाचक। इनकी भाषा हिन्दी-उर्दू-मिश्रित तथा शैली अधिकांशतः पद्यबद्ध थी। पारसी मंडलियों का दौर प्रायः १९३० तक बना रहा जब धीरे-धीरे सिनेमा के प्रचलन के साथ ये क्रमशः समाप्त हो गईं।

पारसी कंपनियों के अभिनय से हिन्दी के अधिकतर नाटककार क्षुब्ध थे। इनकी प्रवृत्ति व्यावसायिक और रुचि सस्ती थी। भारतेन्दु और जयशंकर प्रसाद, दोनों ने नाटक-विषयक अपने निबन्धों में इनकी प्रस्तुतियों की भर्त्सना की है; यद्यपि इनकी कुछ प्रविधियों को उन्होंने जाने-अनजाने में अपनाया भी, जैसे संगीत की अधिकता, पद्यबद्ध संवाद, कथा-विधान में संयोग और आकस्मिकता तथा समूचे प्रदर्शन में अति-नाटकीयता का आग्रह।

भारतेन्दु के बाद भी हिन्दी क्षेत्र में व्यावसायिक और शौकिया, दोनों प्रकार के रंगमंच का सह-अस्तित्व बना रहा। १८८६ के आसपास कानपुर में कई नाट्य-मंडलियाँ बनीं। इलाहाबाद में दो मंडलियाँ स्थापित हुईं—'श्री रामलीला नाटक मंडली' (१८८९) तथा 'हिन्दी नाट्य-समिति' (१९०८)। माधव शुक्ल और उनके मित्रों की प्रेरणा इनके पीछे सक्रिय थी। बाद में जब वे अपनी सेवाओं के सिलसिले में लखनऊ और जौनपुर रहे, तो वहाँ भी उन्होंने रंग-मंडल बनाए। कुछ महत्त्वपूर्ण नाटक, जैसे ''सीय स्वयंबर' और 'महाभारत पूर्वार्द्ध' (माधव शुक्ल) तथा 'महाराणा प्रताप' (राधाकृष्णदास) पहली बार इन्हीं शौकिया नाट्य-मंडलियों द्वारा प्रस्तुत किए गए थे। काशी में भी इन दिनों कई नाट्य-मंडलियाँ स्थापित हुईं जिनमें 'भारतेन्दु नाटक मंडली' (१९०६) और 'नागरी नाटक मंडली' (१९०८) प्रमुख हैं। इनके पीछे भारतेन्दु के परिवार के बाबू ब्रजचंद की प्रेरणा थी। इन मंडलियों ने भारतेन्दु और उनके परवर्तियों के नाटक खेले। कलकत्ता में माधव शुक्ल के प्रयत्नों से एक और संस्था बनी 'हिन्दी नाट्य परिषद्' (१९०६)। कलकत्ता की पारसी कंपनियों के बीच इस नाट्य परिषद् की प्रस्तुतियाँ व्यावसायिकता के बीच उभरती हुई नयी रंग-चेतना का प्रमाण थीं।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में दो प्रकार का नाट्य-लेखन चलता रहा। नारायणप्रसाद 'बेताब' (कृष्ण-सुदामा, गोरखधंधा, मीठा जहर, रामायण नाटक, सम्पूर्ण नाटक महाभारत), आगा हश्र कश्मीरी (अछूता दामन, असीरे हिर्स, खूबसूरत बला, चंडीदास नाटक, जहरी साँप, भीष्म प्रतिज्ञा, बिल्वमंगल, यहूदी की लड़की), राधेश्याम कथावाचनक (कृष्ण-सुदामा, घंटा-पंथ), तुलसीदत्त शैदा (जनकनंदनी, नारी-हृदय, भक्त सूरदास अर्थात् बिल्वमंगल) एक वर्ग के प्रतिनिधि थे, वे पारसी थिएटर के लिए नाटक लिखते थे। दूसरी ओर भारतेन्दु की साहित्यिक परम्परा थी जिसमें माधव शुक्ल (महाभारत पूर्वार्द्ध, सीय स्वयंबर), बदरीनाथ भट्ट (कुरुवन-दहन नाटक : १९१२, चन्द्रगुप्त : १९१५), आनंदप्रसाद कपूर (कलियुग नाटक : १९१२, संसार-स्वप्न : १९१३, सुनहला विष : १९१९), जमुनाप्रसाद मेहरा (मोरध्वज : १९१९, सती चिंता : १९२०, हिन्दी नाटक : १९२२), दुर्गाप्रसाद गुप्त (नाटक मीराबाई : १९२०, अभिमन्यु-वध नाटक : १९२२, गरीब किसान नाटक : १९२३), हरिदास माणिक (संयोगिता हरण अथवा पृथ्वीराज नाटक : १९१५, पांडव-प्रताप अथवा सम्राट् युधिष्ठिर नाटक : १९१७, श्रवणकुमार : १९२०) और माखनलाल चतुर्वेदी (कृष्णार्जुन-युद्ध : १९१९) के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों की नाट्य-कृतियों की अधूरी सूची से भी स्पष्ट है कि दोनों ओर के नाटककारों ने दो प्रकार के कथानकों को विशेष रूप से चुना है— धार्मिक-पौराणिक वृत्त तथा इश्किया दास्तान। वृत्त भी अधिकतर ऐसे लिये गए हैं जिनमें शृंगार, वीर और करुण या इनमें से कोई रस या कि

दोनों का मिला-जुला रूप अभिव्यक्ति पा सके। सत्य हरिश्चन्द्र, वीर अभिमन्यु या कि श्रवणकुमार के कथानक अपनी करुण चेष्टाओं के कारण अधिक लोकप्रिय थे, फिर यह भी कि करुण रस नाट्यशाला में संक्रामक अधिक होता था। इन रचनाओं के शीर्षकों में अधिकतर 'नाटक' शब्द का उल्लेख जैसे इन वृत्तों की नाटकीयता या कहना चाहिए कि अतिनाटकीयता को ही द्योतित करता है।

पुनर्जागरण की चेतना को व्यक्त करने की उत्सुकता में इन नाटकों का संदेश सदैव ही मुखर हो गया है। अपने हर पक्ष में ये अतिकथन के नाटक हैं, उस युग में वस्तुतः अतिकथन और नाटक को पर्याय जैसा मान लिया गया है। भाषा-शैली की दृष्टि से जहाँ पारसी कंपनियों के नाटक पूरी तरह उर्दू की ओर झुके हुए हैं, वहाँ इन शौकिया कोटि के नाटकों की भाषा-शैली साहित्यिक है। संवाद बीच-बीच में पद्यबद्ध आ जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से अलग-अलग प्रकार के चरित्रों के लिए अलग तरह की भाषा का प्रयोग है। संगीतबहुलता की प्रवृत्ति प्रायः सर्वत्र मिलेगी। कुल मिलाकर वे नाटक संस्कृत नाट्य-परंपरा के साथ लोकमंच और पारसी रंगमंच के लोकप्रिय तत्त्वों को मिला कर रचे गए हैं।

हिन्दी नाटक के इतिहास में जयशंकर प्रसाद की स्थिति एक विचित्र प्रकार के अंतर्विरोध से ग्रस्त है। नाट्य-संभावना उनकी रचनाओं में सर्वाधिक है, जबकि उनके साहित्यिक परिदृश्य पर आते-आते भारतेंदु-कालीन रंगमंच एकदम शिथिल हो जाता है। संस्कृत नाट्य-परंपरा के साथ अपने नाटकों में वे लोकमंच (रामलीला, नौटंकी) और पारसी थिएटर के तत्त्व रखते हैं, पर अपेक्षया हल्के रूप में। इसकी जगह वे पाश्चात्य नाट्य-परंपरा के कुछ तत्त्वों को आत्मविश्वास के साथ नियोजित करते हैं। प्रेमचंद और रामचन्द्र शुक्ल की तरह ही वे पश्चिम से कहीं आक्रांत नहीं होते, वरन् वहाँ के तत्त्वों का अपनी रचना में कुशलतापूर्वक उपयोग करते हैं जो भारतीय पुनर्जागरण की एक विशिष्ट प्रवृत्ति है। आधुनिक नाटक के संघर्ष-प्रधान विधान में भारतीय और पाश्चात्य तत्त्वों की टकराहट की वस्तु अधिक प्रभाव के साथ व्यक्त हो सकी है।

हिन्दी नाटक में प्रसाद के आने से गुणात्मक परिवर्तन होता है। सीधी-सपाट भाषा की तुलना में लाक्षणिक और अधिक अर्थसंपन्न भाषा का प्रयोग होने लगता है जिसे उन्होंने छायावादी कविता के तत्त्वावधान में विकसित किया। इसी के समानांतर देवता-राक्षस ध्रुवों से हट कर अधिक मानवीय चरित्र बनते हैं जिनमें अच्छाई और बुराई के तत्त्व एकसाथ हैं और इसीलिए उनमें संघर्ष और अंतर्द्वन्द्व बराबर चलता रहता है। फिर अब तक के मनोरंजन, उपदेश या लालित्य भाव की तुलना में (अपने "नाटक" शीर्षक निबंध में भारतेन्दु ने नवीन नाटकों की रचना के पाँच मुख्य उद्देश्य बताए हैं—१. शृंगार, २. हास्य, ३. कौतुक, ४. समाज-संस्कार, ५. देश-वत्सलता) प्रसाद के नाटक बराबर एक बौद्धिक विचार-धारा का आधार लेते हैं। इस प्रकार जैसे प्रेमचन्द के हाथों में उपन्यास एक परिपक्व कला-रूप बनता है, वैसे ही प्रसाद के हाथों में नाटक। पर रंगमंच से विच्छिन्न रह कर उसकी संभावनाएँ पूरी तरह संपन्न नहीं होतीं।

हिन्दी क्षेत्र में रंगमंच, जैसा संकेत किया गया, कुछ तो सामाजिक रूढ़ियों के चलते विकसित नहीं हो पाया। फिर यहाँ अभिनेता को नाटक-लेखक ने अपने से हीन माना और दोनों के बीच सहयोग के बजाय अंतराल बढ़ता गया। अपने 'रंगमंच' शीर्षक निबंध में प्रसाद लिखते हैं, "यह प्रत्येक काल में माना जाएगा कि काव्यों के अथवा नाटकों के लिए ही रंगमंच

होते हैं। काव्यों की सुविधा जुटाना रंगमंच का काम है⋯रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जाएँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिए कि नाटक के लिए रंगमंच हो।'' नाटक पहले था कि रंगमंच, इस दुष्टचक्र में पड़ कर हिन्दी क्षेत्र का रंगमंच लंबे अरसे तक शिथिल पड़ा रहा। पर हमें यह समझना होगा कि रंगमंच के प्रति अपने इस घोषित पूर्वग्रह के बावजूद प्रसाद के नाटकों में अभिनेयता का तत्त्व कम नहीं है।

प्रसाद के नाटकों में भारतीय तथा पाश्चात्य तत्त्वों के सामंजस्य की बात पहले कही गई है। भारतीय नाटक का प्राणतत्त्व रस है, जबकि पाश्चात्य नाटक में संघर्ष की प्रधानता है। प्रसाद के नाटक में इन दोनों का संयोग होता है। वहाँ कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुतल' और शेक्सपियर के 'हैमलेट' दोनों का आनंद एकसाथ मिलता है। चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिक प्रणाली पाश्चात्य ढंग की है, तो संगीत का नियोजन भारतीय पद्धति के अनुकूल है। संगीत से प्रसाद दुहरा काम लेते हैं। एक ओर वह रस निष्पत्ति में सहायक है तो दूसरी ओर चरित्रों के अंतर्द्वन्द्व को अभिव्यक्त करता है। चरित्रों का विधान भी बहुत कुछ ऐसा ही है। 'स्कंदगुप्त' नाटक का स्कंद वीर है, पर वीर रस के स्वामी भाव उत्साह का उसमें अभाव है। प्रसाद के नाटकों में वध, आत्महत्या और हिंसा के दृश्य पश्चिमी ट्रेजडी के समर्थन पर हैं, भारतीय नाट्यशास्त्र ऐसे दृश्यों को अनुमति नहीं देता। 'चंदगुप्त मौर्य' में चंदगुप्त की प्रेमिकाएँ कल्याणी और मालविका की आत्महत्या—कार्नेलिया यत्न करके बच जाती है—और शकटार द्वारा नंद का वध, ये दृश्य भारतीय प्रणाली से अनुमोदित नहीं हैं। नाटकों के अंत में भी दोनों पद्धतियों 'फलागम' और 'केटेस्ट्रॉफी' का जैसे योग हुआ है। 'स्कंदगुप्त' में नाटक के कार्य सिद्ध होने पर भी फलागम की स्थिति नहीं होती। युद्ध में विजयी होकर स्कंद राज्य अपने सौतेले भाई पुरगुप्त को दे देता है और देवसेना से प्रेम करके तथा उसका प्रतिपादन पाकर भी दोनों में विवाह नहीं होता। 'चंदगुप्त मौर्य' के अंत में फलागम की अधिक स्पष्ट स्थिति है, पर चाणक्य का समापन-वाक्य 'चलो, अब हम लोग चलें' एक अव्याख्यापित करुणा की सृष्टि करता है।

प्रसाद में पूर्व-पश्चिम की सांस्कृतिक टकराहट का गहरा एहसास है—विशेषतः नाटकों में, शायद इसलिए कि संघर्ष या टकराहट के अंकन के लिए नाटक जैसे प्रत्यक्ष माध्यम से उपयुक्त और कोई नहीं। 'चंदगुप्त' में कार्नेलिया कहती है, ''मैं देखती हूँ कि यह युद्ध ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं, इसमें दो बुद्धियाँ भी लड़ रही हैं। यह अरस्तू और चाणक्य की चोट है⋯'' (३/२)। पुनर्जागरण के राष्ट्रीय संदर्भ में प्रक्षिप्त यह वाक्य समकालीन सांस्कृतिक प्रक्रिया पर एक गहरी टिप्पणी है।

राष्ट्रीय भावबोध की अभिव्यक्ति प्रसाद के नाट्य-विधान का मूलाधार कही जा सकती है। इतिहास के माध्यम से राष्ट्रीय भावना को उद्दीप्त करने का सजग प्रयास उनके अधिकतर नाटकों में द्रष्टव्य है। यह ध्यान देने की बात है कि प्रसाद जब लिख रहे थे, उन दिनों सभी काव्य-रूपों के लिए पौराणिक इतिवृत्त काफी लोकप्रिय थे। पर प्रसाद ने पुराण को छोड़कर इतिहास से अपने लिए कथानक चुने हैं। शायद उन्हें यह अनुभव था कि पुराण के प्रति जातीय मानस में श्रद्धा होती है, जबकि इतिहास से वह आत्मीयता का अनुभव करता है। फिर रंगमंच पर पौराणिक चरित्रों का अवतरण दर्शकों की सहज कल्पना को बाधित भी कर सकता है।

प्रसाद का विश्लेषण था कि आधुनिक काल में सामाजिक समरसता और राष्ट्रीयता के आड़े तीन बाधाएँ आती हैं—साम्प्रदायिकता की भावना, प्रादेशिकता के तनाव तथा पुरुष-नारी के बीच असमानता की स्थिति। अपने प्रधान नाटकों 'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' तथा

'ध्रुवस्वामिनी' में उन्होंने इन्हीं का समाधान देने का यत्न किया है। साम्प्रदायिक विद्वेष का चित्र उन्होंने ब्राह्मणों और बौद्धों के संघर्ष के बीच उतारा है जिसके उदाहरण 'स्कंदगुप्त' और 'चन्द्रगुप्त' में देखे जा सकते हैं। साम्प्रदायिक संघर्ष से भिन्न आर्य और आर्येतर जातियों का संघर्ष 'जनमेजय का नागयज्ञ' में चित्रित हुआ है। प्रदेश और केन्द्र के द्वन्द्वों का रूप प्रधानत: 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कंदगुप्त' में उभरता है। 'चन्द्रगुप्त' का चाणक्य इन विविध प्रकार के संघर्षों का शमन करना चाहता है। तक्षशिला के गुरुकुल में अपने शिष्य सिंहरण और चन्द्रगुप्त को सम्बोधित करके वह कहता है, "मालव और मागध को भूल कर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा।" (१/१) पुरुष के आतंक से नारी-मुक्ति की समस्या 'ध्रुवस्वा-मिनी' में अंकित हुई है। इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रसाद के नाटकों का कथानक और चरित्र तो ऐतिहासिक है, पर उनकी समस्याएँ आधुनिक हैं। यों नाटककार ने इतिहास को निरपेक्ष रूप में नहीं, वरन् समकालीन अनुभव के अंग-रूप में चित्रित किया है। पर इतिहास के अपने तथ्यों की रक्षा के लिए भी उनकी चिन्ता बराबर देखी जा सकती है। ऐतिहासिक नाटकों की लम्बी भूमिकाओं में उन्होंने उपजीव्य-काल की अनेक समस्याओं पर विस्तार से विचार किया है। 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नाटक की तो भूमिका भी मूल नाटक की तरह कई चरणों में विकसित हुई है। 'सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य' नामक निबन्ध स्वतंत्र पुस्तक रूप में १९०९ में प्रकाशित हुआ था। फिर 'चित्राधार' के प्रथम संस्करण (१९१९) में यह संकलित हुआ और अंततः अपने संशोधित तथा संक्षिप्त रूप में वह 'चन्द्रगुप्त' नाटक की भूमिका बना (१९३१)। रचना-विधान की दृष्टि से यह रोचक संयोग है कि नाटक का स्वरूप अपने आकार में बढ़ा है जबकि भूमिका की सामग्री कम हुई है और क्रमशः दोनों के बीच आवश्यक संतुलन बन गया है।

प्रसाद के समय से ही धीरे-धीरे नाटक दृश्य के बजाय पाठ्य अधिक होता जा रहा था, सेठ गोविन्ददास तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटक उदाहरण हैं। बाद के कुछ नाटककारों ने बलपूर्वक इस गलत प्रवाह को मोड़ा और हिन्दी क्षेत्र के रंगमंच को पुनरुज्जीवित करने का यत्न किया। कुछ अन्य नाटककार नाटक को महज किताब मानकर लिखते रहे। नाटक को रंगमंच के साथ फिर से जोड़ने में उपेन्द्रनाथ 'अश्क', जगदीशचन्द्र माथुर और भुवनेश्वर ने विशेष रूप से प्रयास किया। 'अश्क' ने व्यावहारिक रंग-कर्म में भी बराबर रुचि ली। रंगमंच को सक्रिय करने के लिए एकांकी नाटक लिखे गए—जिस दौर को शुरू करने और गति देने में रामकुमार वर्मा का नाम उल्लेखनीय है।

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने पूरे नाटक और एकांकी दोनों लिखे हैं। समस्याओं का सरलीकरण और सामाजिक आदर्शों पर आग्रह पूर्व प्रेमचन्द-जैसा है जिसका कुछ औचित्य भारतीय नाट्य-परम्परा के सामान्य प्रवाह में देखा जा सकता है जहाँ संघर्ष-चित्रण अपेक्षया कम और प्रयत्न की सफलता पर बल अधिक है। सामाजिक आदर्शों के क्षेत्र में पारिवारिक सौमनस्य और दाम्पत्य के अच्छे चित्र उन्होंने उकेरे हैं। 'सूखी डाली' या 'तौलिए' इसी कोटि के नाटक हैं जिनके चरित्र की रोचकता को बनाए रखने के लिए हल्के व्यंग्य-विनोद का प्रयोग लेखक बराबर करता है। कुछ नाटक पूरे तौर पर व्यंग्य की मुद्रा में चलते हैं, जैसे 'पर्दा उठाओ : पर्दा गिराओ' या 'कस्बे के क्रिकेट-क्लब का उद्घाटन'। ये नाटक समूचे हिन्दी क्षेत्र के छोटे-बड़े नगरों और कस्बों में खेले गए हैं और इनके माध्यम से रंग-कर्म लोकप्रिय हुआ है। अश्क के पूरे नाटकों में 'कैद' काफी मंचित हुआ जिसके पाठ को उन्होंने कई बार संशोधित-परिवर्तित किया और जिसे नवीनतम रूप में उन्होंने 'लौटता हुआ दिन' के नाम से प्रस्तुत किया है।

जगदीशचंद्र माथुर का रंग-विधान अधिक सघन और समस्याओं को उभारने वाला है। "कोणार्क", "शारदीया" और "पहला राजा" उनके पूर्णकालिक नाटक हैं जो मंच पर अनेक बार प्रस्तुत होते हैं। तीनों नाटकों का विधान इतिहास या कि प्राक्-इतिहास का आश्रय लेता है। "पहला राजा" प्राक्-इतिहास को एकदम समकालीन इतिहास-प्रक्रिया से जोड़ता है। खुले तौर पर रूपक होते हुए भी उसमें अर्थों की गहरी तहें हैं। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर-लाल नेहरू और ब्रह्मावर्त के पहले राजा पृथु के बीच विलक्षण साम्य का आलोचनात्मक यद्यपि सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन इस नाटक का उपजीव्य है। सत्ता के सहायक और चाटुकार कोई भी विधान बनाते समय अपने स्वार्थों को कैसे केन्द्र में रखते हैं और शासन के प्रमुख को अपने हाथ में, इसे नाटककार धीरे-धीरे खोलता है। इस माने में भारतेंदु की 'अँधेर नगरी' की तरह यह भी सत्ता के चरित्र का शाश्वत नाटक है। पुरोहित, तांत्रिक और मंत्री आदिम समाजों से आज तक शासन-प्रमुख को खुशफहमी में रखकर अपना स्वार्थ साधते हैं, इसका विश्लेषण बहुत से समाज-विचारकों तथा विधि-विशेषज्ञों ने किया है। पर कैसे वे स्वयं जाने-अनजाने में न्यस्त स्वार्थों के पक्षधर हो जाते हैं, इसका इतना सटीक चित्रण कम ही मिलेगा। दिल्ली की समस्याओं को उभारने वाला पुराण-कथा का आधुनिक उपयोग धर्मवीर भारती के काव्य-नाटक "अंधा युग" और जगदीशचंद्र माथुर के "पहला राजा" में अत्यंत सर्जनात्मक रूप में हुआ है। माथुर ने पूर्णकालिक नाटकों के अतिरिक्त एकांकी भी लिखे हैं।

प्रसादोत्तर नाटक में गुणात्मक परिवर्तन उपस्थित करने वाले नाटककार भुवनेश्वर हैं। हिन्दी नाटक के अध्येता को यह तथ्य कुछ दिलचस्प लग सकता है कि जब जयशंकर प्रसाद का "चंद्रगुप्त मौर्य" (१९३१) अथवा "ध्रुवस्वामिनी" (१९३३) प्रकाशित हुआ, उसी समय के आसपास भुवनेश्वर के नाटक छपने लगते हैं - 'श्यामा', 'प्रतिभा का विवाह' (१९३३), 'शैतान' (१९३४), 'रोमांस-रोमांच' (१९३५)। प्रसाद के परवर्ती नाटकों और भुवनेश्वर के आरंभिक नाटकों का प्रकाशन-काल एक है। और यह शायद संयोग ही हो कि दोनों का प्रकाशन-गृह एक है। प्रसाद के नाटकों में प्रेम-सम्बन्धों की पवित्रता और कोमलता, और दूसरी ओर भुवनेश्वर में प्रेम-सम्बन्धी मान्यताओं का सहज तिरस्कार एक-दूसरे के सामने बड़ा अटपटा लगता है। भुवनेश्वर के पात्र कहते हैं, "मैं आपकी धर्मपत्नी से प्रेम करता हूँ" (श्यामा); "यदि यहाँ पर इस समय कोई आ जाए, तो तुम्हें मेरी धर्मपत्नी समझे" (शैतान); "पुत्री के समान! पर मैं तो प्रतिभा से विवाह करना चाहता हूँ..." (प्रतिभा का विवाह); "आप मिसेज सिंह को अपनी पत्नी के रूप में ले जा सकते हैं, बहन के रूप में नहीं" (रोमांस-रोमांच)। यहाँ पत्नी, पत्नी-बहन, प्रेमिका सब रिश्ते एक-दूसरे में गड्डमड्ड हो गए हैं, इन शब्दों की मर्यादा टूट गई है, तोड़ दी गई है। देवसेना, मालविका और ध्रुवस्वामिनी के संसार से यह कितना भिन्न संसार है और कितनी अलग भाषा है? भुवनेश्वर में स्त्री अपने सारे परंपरागत सम्बन्धों को तोड़कर सीधे और स्वायत्त रूप में स्त्री हो गई है, नारी तुम केवल नारी हो! यह तत्समाग्रही और बोलचाल की भाषा का अंतर है। भाषा यथार्थ को ऐतिहासिक और समकालीन संदर्भों में कैसे-कैसे निखारती है, इसको समझने के लिए यह तुलना उपयोगी सिद्ध होगी। प्रसाद के अंतिम नाटक "ध्रुवस्वामिनी" में धर्मपत्नी के स्वरूप की शास्त्रपरक व्याख्या हुई है, पर भुवनेश्वर का पात्र जब कहता है, "मैं आपकी धर्मपत्नी से प्रेम करता हूँ" तो 'धर्मपत्नी' की परंपरागत अर्थ-छायाओं को ही ठेस लगती है।

भुवनेश्वर के नाटक आकार में संक्षिप्त होते हुए भी अपने विधान में पूरे नाटक हैं। उनका एक ही संकलन प्रकाशित हुआ "कारवाँ" (१९३६)।

उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी और विष्णु प्रभाकर ने अधिकतर पौराणिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रसंगों पर नाटक लिखे हैं, यद्यपि सामाजिक कथानक भी उन्होंने लिए हैं। पर यह नाट्य-लेखन इतना आत्मतुष्ट रहा है कि उसने रंगमंच की आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं दिया। मंच-योग्य नाटक न होने से, या कि कठिन रंग-कर्म के नाटक होने से हिन्दी क्षेत्र में रंगमंच का ह्रास हुआ जिसके फलस्वरूप ऐसे नाटक लिखे जाने लगे जिनमें रंगमंच की चिन्ता ही छोड़ दी गई। प्रसाद के बाद कई दशकों तक नाटक इसी दुष्चक्र में फँसा रहा। उपर्युक्त नाटककारों का लेखन बहुत कुछ इसी दौर में हुआ। नाटक तब तक तथाकथित है जब तक वह मंच पर प्रस्तुत नहीं हो जाता और इस अवधि की अधिकांश नाट्य कृतियों की सफलता सिद्ध होने का साधन ही नहीं रह गया।

जैसा संकेत किया जा चुका है, रंगोन्मुखता को बढ़ाने के लिए नाटक के एक पाश्चात्य रूप एकांकी को हिन्दी में स्वीकार किया गया। रामकुमार वर्मा का नाटक 'बादल की मृत्यु' (१९३०) हिन्दी का पहला एकांकी माना जाता है। 'पृथ्वीराज की आँखें' (१९३६), 'रेशमी टाई' (१९४१), 'चारुमित्रा' (१९४२) के एकांकी शौकिया रंगमंच पर बहुत लोकप्रिय हुए। अपने ऐतिहासिक एकांकियों में नाटककार ने प्रख्यात ऐतिहासिक चरित्र के बीच खोए हुए मानवीय व्यक्तित्व के संधान का प्रयत्न किया है। 'औरंगजेब की आखिरी रात' इस दृष्टि से बहुत सफल बन पड़ा है। ऐतिहासिक के अतिरिक्त सामाजिक और हास्य-व्यंग्य-प्रधान एकांकी भी रामकुमार वर्मा ने लिखे हैं। कहानी की तरह एकांकी का एककोणीय विधान है जिसमें किसी चरित्र के अंतर्द्वन्द्व का चित्रण तो हो सकता है, पर जीवन के व्यापक द्वन्द्व और घात-प्रतिघात तथा उनके बीच से उभरती दृष्टि का अंकन वहाँ संभाव्य नहीं। डॉ० वर्मा ने प्रमुखतः एकांकियों की रचना की है, अन्य नाटककारों ने पूरे नाटकों के साथ-साथ एकांकी लिखे हैं।

देश के स्वाधीन होने पर रंग-कर्म को प्रोत्साहन देने के लिए कई उपाय किए गए जिनसे नाटक के क्षेत्र में सक्रियता बढ़ी। छठे दशक में राष्ट्रीय संगीत नाटक अकादेमी तथा उसके अंतर्गत नाट्य विद्यालय की स्थापना से सारे देश की नाट्य-प्रतिभाएँ एकसाथ आईं। हिन्दी के माध्यम से सभी भारतीय और कुछ विदेशी भाषाओं के नाटकों का पूरी तैयारी के साथ मंचन होने लगा जिससे नाटक-लेखन के क्षेत्र में भी एक नयी जागृति आई। मोहन राकेश, लक्ष्मी-नारायण लाल तथा धर्मवीर भारती के अधिकतर आरंभिक नाटक इसी अवधि में लिखे गए हैं। कुछ प्रकाशन तिथियाँ इस प्रकार हैं—'आषाढ़ का एक दिन' (१९५८), 'मादा कैक्टस' (१९५९), 'अंधायुग' (१९५५)। कई बार प्रकाशन के पूर्व ही ये नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किए गए। यों नाटक और रंगमंच के बीच हिन्दी क्षेत्र में जो अवरोध चला आ रहा था, वह खुल गया और दोनों पक्ष एक-दूसरे के प्रति सजग और उन्मुख हुए। नाटक के नाम पर पुस्तक तैयार कर देने की अब तक प्रवृत्ति चली आ रही थी। वह हल्की पड़ी और रंगमंच कम से कम हिन्दी क्षेत्र के कुछ नगरों में फिर से सक्रिय हो चला। इस संदर्भ में अनूदित नाटकों, खास तौर से बंगला और मराठी ने हिन्दी रंग-कर्म को व्यापक और समृद्ध बनाया।

प्रसिद्ध अभिनेता पृथ्वीराज कपूर द्वारा संस्थापित "पृथ्वी थिएटर' पाँचवें और छठे दशक में अर्द्ध-व्यावसायिक स्तर पर हिन्दी नाटकों का प्रदर्शन कर रहा था। अपनी प्रवृत्ति में वह पारसी रंगमंच का सुधरा हुआ रूप था, इस अर्थ में विशेषतः कि उसकी नाट्य-कृतियाँ अपनी थीं।

किसी नाटककार की रचनाओं को उन्होंने मंच पर प्रस्तुत नहीं किया। 'पृथ्वी थिएटर' का दृष्टिकोण यदि अर्द्ध-व्यावसायिक था तो उन्हीं दिनों सक्रिय 'जन नाट्य संघ' का अर्द्ध-राजनैतिक। पर इन दोनों संस्थाओं को इस बात का श्रेय अवश्य है कि उन्होंने हिन्दी क्षेत्र के नगरों में घूम-घूम कर अपने प्रदर्शन किए और सामान्य जन को यों नाटक का जीवंत रूप देखने का अवसर मिला। इन प्रस्तुतियों में पारसी रंगमंच की जैसी किसी प्रकार की कुरुचि को प्रश्रय नहीं मिला।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय अपने उद्देश्यों के अनुरूप आरंभ से ही उच्चकोटि के रंग-कर्म के लिए समर्पित रहा है। अपने प्रथम प्रधान इब्राहीम अल्काज़ी के निर्देशन में उसने नाट्य को कला के श्रेष्ठतम रूप में स्वीकार किया। अल्काज़ी की अपनी कलात्मक सुरुचि तथा समूचे नाट्य साहित्य से उनके व्यापक परिचय ने नाट्य विद्यालय के दृष्टिकोण को नाटक विधा के अनुरूप ही संश्लिष्ट बनाया। नेमिचंद्र जैन तथा सुरेश अवस्थी की नाट्य आलोचना ने रंग-कर्म के लिए अनुकूल वातावरण बनाने में योग दिया। इस संदर्भ में नेमिचंद्र जैन द्वारा संपादित नाट्य-प्रधान त्रैमासिक 'नटरंग' का कार्य अविस्मरणीय रहेगा। श्यामानंद जालान, ब० व० कारंत, प्रतिभा अग्रवाल, सत्यदेव दुबे, लक्ष्मीनारायण लाल, सत्यव्रत सिन्हा तथा हबीब तनवीर जैसे रंग-आयोजकों ने नाट्य विद्यालय से स्वतंत्र और उससे पहले से भी, विभिन्न केन्द्रों में रंग-कर्म को संवर्द्धित किया। इन सबके सम्मिलित उद्योग से हिन्दी क्षेत्र में नाट्य-लेखन को एक नयी स्फूर्ति मिली। जयशंकर प्रसाद के नाटकों को भी इस दौर में नये रूप में प्रस्तुत किया गया है; शांता गांधी तथा ब० व० कारंत द्वारा प्रस्तुत "स्कंदगुप्त" विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

लक्ष्मीनारायण लाल और मोहन राकेश हिन्दी नाट्य-लेखन के क्षेत्र में नयी पीढ़ी के सशक्त प्रतिनिधि हैं। लाल का नाट्य-लेखन वैविध्यपूर्ण रहा है। राकेश के कुल तीन नाटक प्रकाशित हुए और उनका असामयिक निधन हो गया। लाल के एक दर्जन से अधिक पूर्णकालिक नाटक हैं जिनमें कई प्रकार के कथानक और नाट्य-विधान हैं। वे शब्द के सच्चे अर्थ में नाटक हैं, मंच पर बार-बार उनका अभिनय हुआ है। रंगमंच के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया में लक्ष्मीनारायण लाल ने बराबर सीखा है और नाट्य-लेखन में अपने ढंग से वे निरंतर प्रयोग करते रहे हैं।

"मादा कैक्टस" लक्ष्मीनारायण लाल का बहुचर्चित और बहुअभिनीत नाटक है। प्रकाशन के पूर्व यह अभिनीत हुआ है और प्रथम तथा द्वितीय संस्करण में नाट्य-अनुभव का लाभ उठाते हुए रचनाकार ने उसमें आवश्यक परिवर्तन किए हैं। नाटक में कला और प्रणय के अंतर्विरोध की समस्या अंकित हुई है। कलाकार का प्रेम सामान्य स्नेह-संबंधों से अलग है, क्योंकि उसका प्रधान दायित्व तो अपने रचनात्मक व्यक्तित्व तथा अपनी कला के प्रति है। एक ओर प्रणय और दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व तथा अपनी कला के बीच चित्रकार अरविंद किस प्रकार से अपनी पत्नी सुजाता और मित्र तथा शिष्य आनन्दा (दूसरे संस्करण में मीनाक्षी) के जीवन को निस्सार तथा निरर्थक बना देता है, इसका सूक्ष्म अंकन "मादा कैक्टस" में हुआ है।

रंग-विधान की दृष्टि से 'मादा कैक्टस" आधुनिक नाट्य-पद्धतियों के अनुकूल है। नीलाम की डुगडुगी के साथ बेबी का मंच पर प्रवेश नाटक की प्रतीक-योजना को एक गति देता है जो अंत तक अनवरुद्ध रहती है। अंत में मीनाक्षी के फेफड़ों के एक्स-रे चित्र को जिस ढंग से प्रस्तुत किया गया है, वह काफी प्रभावपूर्ण है। पहले अंक में अनाथालय के बच्चों का प्रवेश अरविंद के व्यक्तित्व पर टिप्पणी करता है। अधुनातन नाट्य-विधान में घटनाओं के स्थान पर संवेदन को अधिक महत्त्व दिया गया है, पर कुछ नाटक ऐसे हैं जो घटनापूर्ण होते हुए भी प्रकृति में नये हैं, जैसे जॉन आरबर्न का "लुक बैक इन एंगर"। लाल का "मादा कैक्टस" कुछ इसी प्रकार का है।

मोहन राकेश के तीन नाटक हैं—'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे'। अपने पहले नाटक से ही राकेश हिन्दी नाट्य के अभिन्न अंग बन गए। 'आषाढ़ का एक दिन' कवि कालिदास की प्रणय-कथा कहता है, पर इतना ही नहीं कहता। राजनीति और साहित्य की टकराहट तथा राजसत्ता-बनाम-सर्जनात्मकता के उलझे और सूक्ष्म संदर्भ भी उसमें से उभरते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' ठीक-ठीक ऐतिहासिक नाटक नहीं है, पर एक ऊपरी स्तर पर इतिहास का आश्रय तो लेता ही है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक नाटक की एक बुनियादी शर्त वह पूरी करता है कि प्रख्यात ऐतिहासिक चरित्र को सहज मानवीय व्यक्तित्व के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है। 'लहरों के राजहंस' में गौतम बुद्ध के सौतेले भाई नंद का अंतर्द्वन्द्व अंकित हुआ है जिसे अपनी पत्नी सुंदरी के आकर्षण और भाई गौतम के प्रभाव के बीच वह झेलता है। रंगमंच पर ये दोनों नाटक बड़े सहज भाव से प्रस्तुत हुए हैं। रंग-विधान के प्रति सजगता और संवादों की क्षिप्रता में उनका प्रवाह अबाध गति से चलता है। प्रतीक-विधान से कथानक के प्रति दर्शक की कल्पनाशीलता बराबर जागृत रहती है। संस्कृत वाङ्मय से प्रचलित घटना-प्रसंग लेकर उन्हें नये नाट्य-विधान में गुम्फित करना राकेश की नाट्य-क्षमता को प्रमाणित करता है।

उपर्युक्त दोनों नाटकों के केन्द्र में पुरुष-नारी के संबंधों की समस्या है। अपने तीसरे नाटक 'आधे अधूरे' में लेखक आधुनिक युग में टूटते-बिखरते परिवार की चिंता करता है। राकेश जैसा उन्मुक्त जीवन का अभ्यस्त रचनाकार अंततः परिवार की ऐंठन की समस्या को उठाए, इससे प्रकट होता है कि जीवन का यह पक्ष हिन्दी लेखक की चिन्ता के केन्द्र में आरम्भ से अब तक चला आ रहा है। तीनों नाटकों में यह सबसे कसा हुआ और मंच पर सबसे चुस्त सिद्ध होता है। एक ही अभिनेता चार पुरुषों का अभिनय यहाँ करे, यह सिनेमा के डबल रोल जैसी कौतूहल और विस्मय की चीज नहीं है। यहाँ नाटककार की मंशा यह दिखाना है कि पुरुष-प्रधान समाज में जैसे एक ही व्यक्ति के ये चार मुखौटे हैं। मुखौटों की संस्कृति का आगे एक नाटककार ने और भी चित्रण किया है।

धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' काव्य-नाटक है। मंच पर भी 'अंधा युग' सफल रहा है। यह अपने में एक बड़े प्रीतिकर सामंजस्य की स्थिति है। संस्कृत शैली का मंगलाचरण और भरत-वाक्य, यूनानी नाटकों-जैसा प्रहरियों का 'कोरस', आधुनिक नाटक का प्रतीकात्मक विधान—नाट्य के इन विविध पक्षों का समन्वय भारती ने बड़ी दक्षता से संपन्न किया है। कथा-गायन बहुत कुछ लोक-नाट्य की प्रणाली का अनुसरण करता है। नयी कविता की लय में इतने विविध उपकरणों के सहारे लिखा गया नाटक रंगमंच पर लोकप्रिय हो, जैसा कि 'अंधा युग' हुआ है, यह अपने में हिन्दी नाटकों के दर्शक की परिष्कृत रुचि का प्रमाण है। 'अंधा युग' में जैसा कई नाट्य-प्रणालियों का मिश्रण है, वैसा ही वैविध्य उसके प्रस्तुतीकरण में द्रष्टव्य है। थिएटर यूनिट (बंबई), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (दिल्ली), इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोसिएशन (इलाहाबाद) ने अपनी-अपनी समझदारी के साथ इस नाटक को प्रस्तुत किया है। राकेश के नाटकों के साथ भारती के 'अंधा युग' ने हिन्दी-क्षेत्र के रंगमंच पर एक नयी जागृति उत्पन्न की है।

विपिनकुमार अग्रवाल के नाटक उनकी साहसपूर्ण प्रयोगधर्मिता को आगे बढ़ाते हैं। यह आकस्मिक नहीं है कि भुवनेश्वर के एकमात्र नाट्य-संकलन 'कारवाँ' को, जो बहुत बरसों से अप्राप्य हो गया था, विपिन ने अपनी सुलिखित भूमिका के साथ सुरेन्द्रपाल के सहयोग से फिर प्रकाशित कराया (१९७१)। विपिन के अपने नाट्य-प्रयोग रंगमंच की दृष्टि से काफी संभावनापूर्ण

हैं, इसका समर्थन उनकी प्रस्तुतियों से हुआ है। इन नाटकों में भाषा की अमूर्तन-प्रक्रिया और स्थितियों की अनर्थकता समकालीन जीवन के तनावों और घात-प्रतिघातों को सहानुभूतिपूर्ण ढंग से अंकित करती हैं। 'तीन अपाहिज' शीर्षक नाटक के अपेक्षया संक्षिप्त आकार में भुवनेश्वर की तरह विपिन के नाटक भी अपने में पूर्ण नाटक हैं, एकांकी नहीं—सारे देश की थकान और निष्क्रियता को बड़े सूक्ष्म और ठंडे ढंग से व्यंजित किया गया है जिसमें परस्पर या सामूहिक दोषारोपण नहीं, सच्चे और निरावेग आत्मलोचन का स्वर सुनाई पड़ता है। नाटक के इस नये रूप में संवादों से भी अधिक महत्त्व संवादों के बीच के अंतराल का है जहाँ निदेशक को नाटक की व्याख्या और उसके पुनर्सृजन के लिए अधिकाधिक अवसर रहता है।

विपिन के तीन नाटक-संकलन हैं—'तीन अपाहिज', 'लोटन' और 'खोए आदमी की खोज'। इन नाटकों में समकालीन मध्यवर्ग का अलग-अलग टुकड़ों से बना एक बड़ा कोलाज निर्मित होता है। बौद्धिकता और सुविधापरस्ती के बीच द्विधाग्रस्त चरित्र, नेताओं के आचरण से विहीन नारे, अतीत के गौरव और समकालीन ओछेपन के बीच तनाव—यानी बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में सामान्य मध्यवर्गीय भारतीय जीवन का यथार्थ चुपके से और बिना किसी प्रदर्शन-भाव के इन नाटकों में उतर आता है। जीवन के विविध पक्षों में संघर्ष पश्चिमी नाटक का उपजीव्य बहुत बार रहा है। क्लैसिकल नाट्य-शिल्प में यह संघर्ष एक विराट् स्तर पर शामिल होता है और उदात्तता का बोध कराता है; नये नाटक में यह संघर्ष खतम नहीं होता, अंत तक बना रहता है और अनर्थक रूपों को रेखांकित करके उनमें किसी नये अर्थ के सृजन के लिए आकुलता प्रकट करता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या संपूर्णतः अनर्थक भाषा में अनर्थक स्थितियों की रचना संभव है? यदि हाँ, तो संपूर्ण रचना अपारदर्शी और अनर्थक भाषा में होनी होगी, पर तब उसकी स्थिति भाषा की न होकर जमे हुए रंगों की हो जायेगी और संप्रेषण के लिए वह अनुपयुक्त साबित होगी। वस्तुतः अनर्थक भाषा और क्रिया का रचनात्मक उपयोग व्यवस्थित भाषा और क्रिया के बीच-बीच में ही संभव हो सकता है। भुवनेश्वर और विपिन, दोनों के नाटकों में यही क्रम चलता है। अनर्थक भाषा और क्रिया व्यवस्थित भाषा और क्रिया से टकराकर नये अर्थ की सृष्टि करती है। स्वप्न और जागृतावस्था के यथार्थ मिल कर एक और संपूर्ण हो जाते हैं।

नये नाटककारों में सुरेन्द्र वर्मा के प्रयोग भी रंगमंच की दृष्टि से ग्राह्य रहे हैं। उनके नाटकों में आधुनिक जीवन का तनाव और तल्खी बड़े सधे ढंग से व्यक्त हुए हैं। समाज में एक व्यक्ति अलग-अलग सन्दर्भों में कैसे अलग-अलग मुखौटे इस्तेमाल करता है, इसका बड़ा सटीक चित्रण उनके 'द्रौपदी' नाटक में हुआ है। मानो अब हर स्त्री द्रौपदी है जो पाँच पतियों—या कि एक ही पति के पाँच रूपों—के साथ जीवन-निर्वाह करती है। बड़ा तीखा व्यंग्य, पर उतने ही संयत भाव से इस नाटक में व्यक्त हुआ है। 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' सुरेन्द्र का एक अन्य बहु-अभिनीत नाटक है। उनके नाटक-विधान की एक विशेषता यह है कि एक निगाह देखने पर उनकी कथा-योजना अस्वाभाविक और असामान्य लग सकती है। पर क्रमशः एहसास होगा कि जिन स्थितियों का वे चित्रण करते हैं, वे किसी न किसी रूप में आधुनिक मनुष्य के जटिल सामाजिक जीवन का अंग बन गई हैं। सामान्य रूप में उनकी कला मोहन राकेश के समानांतर चलती हुई भी इस एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर अलग हो जाती है।

रंगमंच से सक्रिय रूप से जुड़े लेखकों में लक्ष्मीकान्त वर्मा (आदमी का जहर), सत्यव्रत सिन्हा (अमृतपुत्र) तथा मुद्राराक्षस (तिलचट्टा) के नाट्य-प्रयोग हैं। कई महिला निर्देशकों

(विनीता पंकज, गिरीश रस्तोगी) ने भी इस क्षेत्र में कार्य आरम्भ किया है। यदि रंगकर्मियों का सहयोग नाटककारों के साथ ठीक-ठीक चलता रहा तो साहित्य के इस सबसे अधिक जनतांत्रिक माध्यम से बड़ी क्षमता विकसित हो सकेगी। पर यह होगा तभी संभव, जब नाटक की सृष्टि पुस्तक के पृष्ठों से बाहर सामान्य जनता के बीच रंगमंच पर होगी। हिन्दी में नये नाटकों के प्रस्तुतीकरण में, या कि पुराने नाटकों के नये ढंग से प्रस्तुतीकरण में इब्राहीम अल्काजी तथा शांता गांधी (राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, दिल्ली), सत्यदेव दुबे (थिएटर यूनिट, बम्बई), श्यामानंद जालान (अनामिका, कलकत्ता) तथा सत्यव्रत सिन्हा (प्रयाग रंगमंच, इलाहाबाद) का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन निर्देशकों ने हिन्दी नाटकों के अतिरिक्त अन्य भाषाओं की महत्त्वपूर्ण नाट्य-कृतियाँ भी प्रस्तुत की हैं। बादल सरकार (बंगला), विजय तेंदुलकर (मराठी) तथा गिरीश कर्नाड (कन्नड़) के नाटक हिन्दी नाट्य-परम्परा का अंग वैसे ही बन गए हैं, जैसे कि पिछली पीढ़ी से शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय (धन्यकुमार जैन, रामचन्द्र वर्मा, रूपनारायण पाण्डेय तथा महादेव साहा के अनुवादों में) या कि क० मा० मुंशी की कथाकृतियाँ (प्रवासीलाल वर्मा, मालवीय के अनुवादों में) हिन्दी उपन्यास-परम्परा से जुड़ गईं। आधुनिक विदेशी नाटकों में बैकेट की प्रसिद्ध रचना 'वेटिंग फार गोदो' का हिन्दी रूपांतर सत्यव्रत सिन्हा तथा शचीन तिवारी ने असाधारण सफलता के साथ रंगमंच पर प्रस्तुत किया है। अनुवादों के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया में हिन्दी नाटक और रंगमंच का रूप और निखरा है। इस प्रक्रिया में पूर्णकालिक नाटकों का मंचन बढ़ा है और उस अनुपात में एकांकी का प्रचार पिछले युग की तुलना में कम हुआ है। यों सभी उल्लिखित नाटककारों ने एकांकी भी लिखे हैं, पर उनकी स्थिति अब हाशिए पर है, केन्द्र में पूरा नाटक है।

नाटक की भाषा से अपेक्षाएँ कई तरह की हैं और उस अनुपात में नाटककार के लिए यह समस्या भी अधिक रही है कि वह किस प्रकार अपनी भाषा को क्रिया के साथ जोड़े। हिन्दी में नाटक और रंगमंच के अभाव की चर्चा बार-बार होती है, पर यहाँ बोलचाल की भाषा और साहित्यिक भाषा में रिश्ता कम रहा, इस कारण की ओर ध्यान नहीं दिया गया। आज राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय या अनामिका, या प्रयाग रंगमंच के माध्यम से हिन्दी रंगमंच में नयी जागृति आई है तो अन्य कारणों के अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई है कि अब लेखकों और रंगकर्मियों के सन्दर्भ में बोलने की भाषा और नाट्य-भाषा में अन्तर कम से कम की स्थिति में आ गया है। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में इस समय ऐसी अनेक प्रतिभाएँ आ रही हैं जिनकी मातृभाषा हिन्दी न होकर कश्मीरी, गुजराती, कन्नड़ या मराठी है। ऐसे रंगकर्मी साधारण बोलचाल में परिनिष्ठित हिन्दी का व्यवहार करते हैं और इसी भाषा-रूप का प्रयोग रंगमंच पर करते हैं। उनके उच्चारण और सुर में स्वभावतः उनकी अपनी मातृ-भाषाओं का संस्कार है जो उनके द्वारा प्रयुक्त हिन्दी ध्वनि-समूह को एक प्रीतिकर विस्तार देता है। शब्द-समूह और वाक्य-विन्यास के साथ इस ध्वनि-समूह का विकास हिन्दी रंगमंच के क्षेत्र में एक स्पृहणीय उपलब्धि है। जैसे हिन्दी फिल्मों के अभिनेता पंजाबी, बंगाली, गुजराती, मराठी और अब तो दक्षिण सभाई क्षेत्रों के भी हैं (पृथ्वीराज कपूर, अशोककुमार, शांताराम) और हिन्दुस्तानी शास्त्रीय तथा सरल संगीत का भी—जहाँ सुरों की विशेष महिमा है—वैसी ही स्थिति है (ओंकारनाथ ठाकुर, पटवर्द्धन, बड़े गुलाम अली, भीमसेन जोशी तथा लता मंगेशकर, जूथिका रे, सुब्बु लक्ष्मी), उसी प्रकार से हिन्दी नाटक और रंगमंच का व्यापक विकास विविध भाषा-क्षेत्रों की प्रतिभा के सामूहिक योगदान से अधिक शक्ति-संपन्न होगा।

प्राचीन नाट्यशास्त्र और आधुनिक रंगमंच

●

श्रीमती गिरीश रस्तोगी

भारतवर्ष में रंगमंच की बड़ी पुरानी और समृद्ध परम्परा रही है। यहाँ नाट्य-निर्देशन की दो सर्वसम्मत• प्रणालियाँ प्रचलित थीं—एक लोकधर्मी; और दूसरी, नाट्यधर्मी। लोकधर्मी नाटक का अभिनय सर्वसाधारण लोकव्यवहार का अनुकरण करता था और नाट्यधर्मी नाटक विशेष शास्त्रीय पद्धतियों पर आधारित होता था। एक ओर लोकमंच जनसमूह के बीच प्रतिष्ठित था और दूसरी ओर राजप्रसाद की रंगशालाओं में विशिष्ट दर्शक वर्ग के बीच संस्कृत रंगमंच प्रतिष्ठित था जो शास्त्रीय विधान से बँधा हुआ था जिसका सम्बन्ध आभिजात्य वर्ग और समृद्धि से था। विश्व में नाट्यकला का विस्तृत, व्यापक, वैज्ञानिक और प्रामाणिक विवेचन पहली बार आचार्य भरतमुनि ने किया। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना करके नाट्य के सम्बन्ध में उसकी रचना, प्रस्तुतीकरण आदि के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक विचार किया और नियम निर्धारित किये। नाट्यशास्त्र में विविध अवस्थाओं से युक्त, अनेक प्रकार के भावों से सम्पन्न, लोकवृत्त का अनुकरण करने वाले नाट्य को दर्शकों की रसानुभूति और दृश्यमयता से जोड़ा गया है और नाट्य को पंचम वेद कहा गया है। नाट्य की व्यापकता के सम्बन्ध में भरतमुनि का कहना है—

> न तज्ज्ञान न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला
> न तत्कर्म न योगोऽसौ नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते।

ऐसा न कोई ज्ञान है, न शिल्प है, न कला है, न विद्या है, न योग है, न कर्म है जो इस नाट्य में न देखा जाता हो। नाट्यशास्त्र में काव्यशास्त्र, छंदशास्त्र, संगीतशास्त्र, अभिनय आदि आ जाते हैं। इसीलिए नाट्य लोकानुरंजन करने वाला है। नाट्यशास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता यहीं है कि उसमें सम्पूर्ण नाट्य की कल्पना एक पूर्ण इकाई के रूप में की गयी है। एक ओर उसमें अभिनय पक्ष को बहुत विस्तार से प्रस्तुत किया गया है दूसरी ओर रंगमंच की विस्तृत कल्पना की गयी है। शास्त्रकार की दृष्टि में अभिनय की प्रधानता है और साथ ही वह दर्शकों के रसबोध को भी समझकर चलता है। कथावस्तु का विभाजन, क्रम और विकास और उसकी अवस्थाओं, अर्थप्रकृतियों, संधियों का प्रसार जिस प्रकार से बताया गया है, वह कथावस्तु के नाटकीय संघटन को सँभालता ही है, उसके प्रदर्शन की प्रकृति को भी निर्धारित करता है। पात्रों के रूप में नायक-नायिकाओं का विभाजन, सूत्रधार, परिपार्श्विक, विदूषक, नट आदि का निरूपण भी नाट्याभिनय की दृष्टि से हुआ है। अभिनय-कला का विस्तृत विवेचन नाट्यशास्त्र में किया गया है जो तत्कालीन संस्कृत रंगमंच की अभिनय-शैली और

परम्परा को स्पष्ट करता है। अभिनय—आंगिक, वाचिक, आहार्य, सात्त्विक—इन भेदों में बाँटा गया है और प्रत्येक के अनन्त उद्धरण भावों और मुद्राओं सहित दिए गए हैं। अभिनय की समग्र दृष्टि के साथ 'नाट्यशास्त्र' में रंगमंच की भी सांगोपांग कल्पना की गयी है। प्रेक्षागृहों का रचना-विधान बताने में भी इसका ध्यान रखा गया है कि प्रत्येक प्रेक्षक में अभिनय के गम्भीर सूक्ष्म अर्थ को समझने की शक्ति होनी चाहिए, इसीलिए मध्यम आकृति वाले प्रेक्षागृह को सबसे उपयुक्त माना गया है—'तत्रपाठ्यं च गेयं च सुखश्रव्यतरं भवेत्।' रंगमंच की सम्पूर्ण योजना 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत आ गयी है। भारतीय नाट्य-परम्परा में संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, इसलिए संस्कृत नाटकों एवं रंगमंच का सम्बन्ध नृत्य, नाट्य-गायन, वादन से भी व्यापक रूप में रहा है और संगीत का स्वरूप भी शास्त्रीय एवं नाट्यानुकूल रखा गया है।

भरतमुनि ने तीन प्रकार के नाट्यमंडपों अर्थात् रंगमंच का वर्णन किया है—

(१) विकृष्ट (लम्बाकार)

(२) चतुरस्र (चौकोर)

(३) त्र्यस्र (त्रिकोण)

अर्थात्, ये ज्येष्ठ, मध्यम और अवर—इन तीन आकारों के होते हैं। अभिनवगुप्त आदि संस्कृत आचार्यों ने यही स्वीकार किया है। इनमें विकृष्ट को अधिक उपयुक्त प्रेक्षागृह माना गया है और इसका वर्णन एक सजीव हाड़-मांस के रंगमंच, गरिमामय रंगमंच के रूप में मिलता है। नाट्यमंडपों का निर्माण और उनकी वास्तुकला भी धार्मिक मंत्रों, पवित्रता, कलात्मक चित्रकला, आभिजात्य वैभव और सांस्कृतिक दृष्टि और सुरुचि से सम्पन्न दिखाया गया है। पवित्रता और लौकिकता का अद्भुत समन्वय मिलता है। राजा यह नाट्यशाला अपने राजप्रसाद के अहाते में बनवाता था, ताकि वह अपनी रानियों, दरबारियों के साथ नाटक देखने का आनन्द ले सके। संस्कृत रंगमंच विशिष्ट आभिजात्य वर्ग की दरबारी संस्कृति, वैभव, सत्ता, गरिमा को प्रकट करता हुआ मनोरंजन और ज्ञान-वर्धन का माध्यम था। किसी भी नाटक को निःशुल्क दिखाना महापुण्य समझा जाता था। विकृष्ट नाट्यमंडप न केवल राजाओं के लिए बनते थे, बल्कि जनसाधारण के लिए भी बनते थे जिसमें व्यावसायिक रंगमंच एक-दूसरे से स्पर्धा करते थे, और नाट्यगृह पुरुष एवं महिलाओं से भरा होता था। रंगमंच के इतिहास में पहली बार ऐसी रंगशाला के दर्शन होते हैं जहाँ ध्वनि और दृश्य, दोनों को समान महत्त्व दिया गया है। इसके लिए रंगशाला का उचित माप, उसका आकार, दीवारों की संरचना, उन पर किया गया पच्चीकारी का काम आदि का ध्यान रखा जाता था। सारा विवरण यह सिद्ध कर देता है कि रंगशाला-निर्माण की वास्तुकला अन्य भवनों की वास्तुकला से भिन्न होनी चाहिए। संस्कृत रंगमंच सैद्धान्तिक पक्ष के साथ-साथ व्यावहारिक और वैज्ञानिक पक्ष के ज्ञान का भी प्रतीक था। भरतमुनि ने नाट्यगृह के तीन प्रमुख अंगों का संकेत किया है—

(१) प्रेक्षागार, (२) मंच, (३) नेपथ्य।

उन्होंने इन तीनों भागों की स्थिति भी बतायी है, अर्थात् प्रेक्षागार पूर्व की ओर, नेपथ्य पश्चिम की ओर और मंच उनके बीच में। कलाकारों और वादकों का मुख पूर्व की ओर होना चाहिए।

मंच पुनः दो भागों में बँटा होता था—आगे का भाग रंगपीठ और पिछला भाग रंगशीर्ष कहलाता था। रंगशीर्ष का तल रंगपीठ से कुछ ऊँचा होता था। अभिनय का मुख्य स्थल रंगपीठ होता था। कुछ वे विशेष दृश्य जो रंगपीठ पर नहीं हो सकते थे, उनके लिए रंगशीर्ष का भी उपयोग किया जाता था। इसी रंगशीर्ष पर नेपथ्यगृह के दो द्वारों के बीच में 'कुतप सन्निवेश' किया जाता था। नाट्य में प्रयुक्त होने वाले संगीत को प्रस्तुत करने के लिए गायक-वादक यहीं बैठते थे। रंगपीठ के दोनों पार्श्वों में मत्तवारिणी होती थी। मत्तवारिणी की रचना और उसका उपयोग एक विवादास्पद विषय रहा है, लेकिन इधर संस्कृत रंगमंच पर होने वाले प्रयोगों में और गोष्ठियों में उसके स्वरूप को स्पष्ट कर लिया गया है और उसका प्रदर्शन भी किया गया। डॉ० प्रेमलता शर्मा, डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी के संस्कृत नाट्य-प्रदर्शनों में मत्तवारिणी के प्रयोग दृष्टव्य हैं। वह अभिनय का अंग होती थीं।

संस्कृत रंगमंच कल्पनाशीलता, निष्ठा और संवेदनशीलता का रंगमंच रहा है। संस्कृत नाटक और रंगमंच का प्रत्येक कार्य अत्यन्त सुसंकलित था। उसके सभी अंग परस्पर आधारित थे। कलाकारों ने एक सर्वसम्मत पद्धति विकसित कर ली थी। रंगमंच से सम्बद्ध प्रत्येक व्यक्ति को अपने दायित्व का ज्ञान था। मर्यादा में रहकर सूत्रधार के नेतृत्व में नटगण चार प्रकार के अभिनय द्वारा प्रेक्षकों को रसास्वादन कराते थे—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय। आंगिक अभिनय नटों की पात्रोचित शारीरिक क्रियाओं को कहते हैं। संस्कृत नाटकों के आंगिक अभिनय में एक प्रकार की लय होती है, पर वह नृत्य नहीं है। आधुनिक अभिनय का कुछ अंश उसमें है। आंगिक अभिनय करता हुआ नट बोलता भी है। आंगिक अभिनय में प्रसंगानुसार हस्त मुद्राओं तथा अन्य अनेक मुद्राओं का प्रचलन था। कुछ मुद्रायें वर्णनात्मक होती थीं, कुछ अमूर्त। सामान्य दर्शक मुद्राओं से बात समझ लेता था। संस्कृत रंगमंच पर रथ पर चढ़ना-उतरना, रथ चलाना, घोड़े पर चलना, तैरना आदि का आभास मुद्राओं और गतियों से ही कराया जाता है।

वस्तुतः संस्कृत रंगमंच दर्शकों की कल्पना और अनुमान पर आश्रित है। वहाँ दृश्यबन्ध का प्रयोग नहीं होता, बल्कि सूत्रधार या अभिनेता के कथन, मुद्राओं और गतियों से ही दृश्य-विशेष का या दृश्य-परिवर्तन का आभास कराया जाता है। एक ही स्थान पर इसीलिए उद्यान, राजप्रासाद, सभा, मार्ग किसी भी दृश्य की कल्पना करा दी जाती है। इसलिए गति, मुद्रा, लय यहाँ महत्त्व रखती हैं। संस्कृत रंगमंच में न अभिनय पक्ष ओझल होता है और न दर्शकों को विस्मृत किया जाता है। इसका सारा विस्तार विभावानुभाव में उसका विभाजन, स्थायी और संचारी भावों की कल्पना, उद्दीपन तथा सात्त्विक भावों का विवेचन सब इस बात को सिद्ध करते हैं कि संस्कृत रंगमंच अभिनय की प्रधानता और दर्शकों के रसबोध को अनिवार्य मानकर चलता है। कथावस्तु का विभाजन, क्रम, विकास तथा उसकी अवस्थायें, अर्थप्रकृतियाँ और सन्धियाँ कथावस्तु के संगठन को तो सँभालते ही हैं, उसके प्रदर्शन पक्ष को भी निर्धारित करते हैं। इससे नाटकीय कथा के प्रति दर्शकों की उत्सुकता बनी रहती है।

भारतीय नाट्य-परम्परा में संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। यह नाट्यशास्त्र से भी सिद्ध होता है और संस्कृत रंगमंच के अनुभव से भी। संगीत के तीनों अंगों—नृत्य, गायन, वादन का उपयोग संस्कृत रंगमंच पर नाटक के सूक्ष्म भावाभिनय की दृष्टि से और उसमें रसमय

वातावरण की सृष्टि के लिए किया जाता है। अभिनय तथा रसों के अनुकूल लय, ताल, राग तथा वाद्यों का प्रयोग बताया जाता है।

वस्तुतः संस्कृत रंगमंच का सम्बन्ध आभिजात्य वर्ग से, पवित्रता और लौकिकता के अद्भुत समन्वय से है। प्राचीन काल में ब्राह्मणों द्वारा पवित्र मंत्र गम्भीर स्वर में नाट्यगृह के उद्घाटन के अवसर पर गुंजरित होते थे और दीवारों पर स्त्री-पुरुषों के रसिक भाव वाले चित्र लताबन्धों से गुँथे होते थे। यह रंगमंच दरबारी संस्कृति के अनुकूल, उसके वैभव और गरिमा का प्रतिबिम्ब होता था। मनोरंजन, ज्ञानवर्धन, कलाप्रियता, रसबोध इनका आधार थे। किसी रंगप्रयोग को निःशुल्क,दिखाया जाना महापुण्य कर्म समझा जाता था। जब दर्शक-मंडली किसी रंगप्रयोग से बहुत प्रसन्न होती थी तो ये रंगमंडप 'साधु-साधु' या करतल ध्वनि से गूँज उठते थे। दर्शक-मण्डली का स्वभाव देखकर उनकी अभिरुचि को बनाये रखने वाला संगीत ही बजाया जाता था। संस्कृत नाटकों में कार्यव्यापार कई बार एकसाथ ही, एक समय में दो या तीन-चार स्थलों पर चलता है। विभिन्न स्थलों पर विभिन्न दृश्य एकसाथ चलने देने की सुविधा नाट्यकारों, कलाकारों, दर्शकों को थी।

जैसा कहा गया कि संस्कृत रंगमंच का प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से एक निश्चित विधान है और उसमें संगीत अनिवार्य अंग है। रंगशीर्ष पर नेपथ्यगृह के जो द्वार खुलते हैं—उनके मध्य में 'कुतप सन्निवेश' किया जाता था। संगीतज्ञ-गायक-वादक यहीं बैठते थे। इस कुतप का प्रयोग भारतीय लोकनाटकों—यक्षगान, कथकलि—में भी होता है।

पूर्वरंग

संस्कृत रंगमंच पर नाट्य-प्रस्तुति में पूर्वरंग का विशेष स्थान है। भरतु मुनि ने पूर्वरंग का विस्तृत वर्णन किया है। रंगमंच पर नाटक के प्रयोग के समय सर्वप्रथम प्रस्तुत होने के कारण इसे पूर्वरंग कहा जाता है। आर्य संस्कृति में किसी भी शुभ कार्य को आरम्भ करते समय देवी-देवताओं का पूजन होता है। पूर्वरंग की आकस्मिक बाधाओं से नाटक की प्रस्तुति को बचाने के उद्देश्य से नाट्यदेवता के स्तवन की संगीतात्मक, दिव्य विधि है। यह विधि पूर्णतः संगीतमय होती है। संगीत द्वारा गायन-वादन, नृत्य द्वारा दर्शकों में उत्सुकता जगाना पूर्वरंग का उद्देश्य है। उससे नाटक के अनुकूल वातावरण भी बनता है और दर्शक की पूर्वग्रन्थियाँ, पूर्वाग्रह भी टूटते हैं। पूर्वरंग के १६ अंग होते हैं जिनमें से नौ अंग यवनिका के पीछे रंगशीर्ष पर वीणा, मृदंग की संगीत के साथ प्रस्तुत होते हैं और शेष दस यवनिका के हटाये जाने पर रंगपीठ पर नृत्य और पाठ्य के संयुक्त प्रयोग के रूप में होते हैं। ये नौ अंग हैं—प्रत्याहार, अवतरण, आरम्भ, आश्रवणा, वस्त्रपाणि, परिघट्टना, संघोटना, मार्गासारित, आसारित। इन नौ विधियों के परदे के पीछे होने तक दर्शकगण शान्त भाव से आगे के कार्यक्रम की प्रतीक्षा करते हैं। जब वे इतने उत्कंठित होते हैं, तब परदा हटता है और अब रंगपीठ पर नाटक का आरम्भिक कार्यक्रम प्रस्तुत होता है। देवताओं की प्रशंसा में रंगभूमि पर नर्तकी गान के साथ नृत्य करती है और पुष्प चढ़ाती है। फिर सूत्रधार का रंगभूमि पर आगम होता है। सूत्रधार के दोनों ओर दो परि-पार्श्विक रहते हैं। उनमें से एक के हाथ में इन्द्रध्वज होता है और दूसरे हाथ में सुराही। सूत्रधार और परिपार्श्विक एकसाथ प्रवेश करते हैं। इनके हाथों में पुष्प होते हैं और दृष्टि अद्भुत रस से युक्त होती है। सूत्रधार दोनों परिपार्श्विकों के साथ पाँच डग भरते हुए आगे बढ़ता है।

गायक गीत गाते रहते हैं। गीत पहले विलम्बित लय में, फिर मध्य लय में, फिर द्रुत लय में होता है। तब सूत्रधार पुष्पांजलि अर्पित करता है। वह ब्रह्मा, पृथ्वी और इन्द्रध्वज की वन्दना करता है। संस्कृत रंगमंच पर सूत्रधार द्वारा मध्यम स्वर में नान्दी पाठ किया जाता है। इसमें वह देवताओं को नमस्कार करता है और कल्याण-कामना करता है। सभी संस्कृत नाटकों में नान्दी-पाठ, मंगलाचरण की परम्परा मिलती है। संस्कृत रंगमंच पर जितना महत्त्व सूत्रधार का है, उतना ही विदूषक का भी। विदूषक हास्य-प्रसंग के साथ-साथ नाटक की कथावस्तु को आगे बढ़ाने वाले प्रश्नों का प्रयोग करता है। सूत्रधार खेले जाने वाले नाटक की विषयवस्तु का निरूपण करता है। इस प्रकार परदा हटने पर पूर्वरंग के शेष दस अंग—गीत, उत्थापन, परिवर्तन, नान्दी, शुष्कावकृष्टा, रंगद्वार, चारी, महाचारी, त्रिगत, पुरोचना होते हैं और तब पूर्वरंग समाप्त होने पर रंगमंच पर स्थापक प्रवेश करता है जो नाटक की कथावस्तु से सम्बद्ध प्रस्तावना बताता है। पूर्वरंग का इतना लम्बा विधान वर्तमान संस्कृत रंगमंच पर नहीं किया जाता, लेकिन फिर लगभग पौन घंटे का चुना गया पूर्वरंग-विधान इधर संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन में देखने में आया है। उसके बाद जब नाटक आरम्भ होता है तो अभिनेता और संगीत ये ही दो मुख्य आधार होते हैं जो दर्शकों को विविध कल्पनायें कराते हैं। संस्कृत रंगमंच पर कुछ बातों के निषेध भी हैं। नाट्य-नियमों की दृष्टि से सबसे प्रमुख निषेध है नाटकीय कथावस्तु का त्रासदी होना। नायक-नायिका का वध दिखाना रंगमंच पर निषिद्ध है। इसी प्रकार अस्त्र-प्रयोग और अस्त्र-धारण के सम्बन्ध में कृत्रिम हल्के अस्त्रों की रचना बतायी गयी है। युद्ध, मृत्यु, नगर का घेरा, राज्यच्युति मंच पर प्रत्यक्ष नहीं दिखायी जाती, बल्कि इनकी सूचना मात्र दे दी जाती है। दूर की यात्रा, वध, भोजन, सुरत, वस्त्र बदलना मंच पर नहीं दिखाया जाता। वस्तुतः इन निषेधों के पीछे दर्शकों द्वारा स्वीकार्य न हो पाने का भय भी है। संस्कृत नाटकों का वातावरण और दर्शक संभ्रान्त होता था, उसके सामने बहुत साधारण, दैनन्दिन तथा वीभत्स बातों का प्रदर्शन स्वीकृत नहीं था।

स्पष्ट है कि संस्कृत नाटक और रंगमंच पूर्णतः नियमबद्ध, पारम्परिक और विशिष्ट है, जैसे पश्चिम में यूनानी, रोमन, ऐलिजाबेथ-कालीन आदि हैं। सारे पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के रंगमंच में नियमबद्धता और रूढ़ियाँ पायी जाती हैं। भारतीय रंगमंच पर पिछले दिनों संस्कृत नाटकों के प्रदर्शन का एक नया रूप शुरू हुआ है। उज्जैन में होने वाले कालिदास-समारोह के अंतर्गत कई वर्षों से कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, वाराणसी की संस्थायें संस्कृत नाटक खेलती रही हैं। इन सभी प्रदर्शनों में पारम्परिकता अधिक थी, उनमें किसी नयी रंगचेतना या समकालीन दृष्टि का प्रभाव नहीं था। अधिकांश प्रस्तुतकर्ता और अभिनेता संस्कृत के पंडित थे जिन्हें रंगकलाओं का केवल किताबी ज्ञान था, व्यावहारिक अनुभव नहीं था। परिणामतः संस्कृत नाट्य-प्रदर्शन की कोई विशेष शैली या आज के दर्शकों में उसकी पहचान नहीं बन पायी। आज के भारतीय रंगमंच और दर्शक के लिए संस्कृत नाटकों की प्रासंगिकता की तलाश को नयी गति और तात्कालिकता पिछले १० वर्षों में मिली है। देश के कई विख्यात समर्थ निर्देशकों ने संस्कृत रंगमंच की आधुनिक संदर्भ में कल्पना की। शान्ता गांधी द्वारा संस्कृत में प्रस्तुत 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में संस्कृत रंगमंच की नाट्यधर्मी शैली को ही आकार दिया गया। उसमें गतियों और वाक्-योजना की कई शैलियाँ थीं। संस्कृत नाटक की प्रकृति और संभावना को पहचानने में उसने मदद की। दक्षिण

के शिवराम कारंत, रजनी पन्निकर के प्रयोगों के साथ-साथ वाराणसी के डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी और डॉ० प्रेमलता शर्मा ने इधर संस्कृत रंगमंच को एक स्वरूप और सौंदर्य दिया है और विभिन्न नगरों में उसके प्रदर्शन किये हैं। हिन्दी रंगमंच पर भी संस्कृत रंगशैली की प्रासंगिकता को तलाशा गया है। इस प्रकार संस्कृत रंगमंच हमारी शास्त्रीय दृष्टि, सांस्कृतिक परम्परा, कलात्मकता से सम्बद्ध है और विशिष्ट संभ्रान्त दर्शक वर्ग से उसका सम्बन्ध सीधे जुड़ता है।

यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक रंगमंच जब रंगमंच के अभिनेता का माध्यम होने की बात कहता है तो वस्तुतः यह हमारे नाट्यशास्त्र में पहले ही कथित है। संस्कृत नाट्य-प्रदर्शन का मेरुदण्ड नट रहा है और अभिनेता-प्रधान रंगमंच को ही वहाँ प्राथमिकता दी गयी है। मंच पर सारी अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण का माध्यम है अभिनेता का शरीर—उसकी वाणी और शारीरिक क्रियायें, हरकतें एवं मुद्रायें। आधुनिक रंगमंच—चाहे वह ब्रेख्त का हो चाहे ग्रोटोवस्की का, चाहे बादल सरकार का और चाहे वर्तमान प्रतिष्ठित निर्देशकों का, वस्तुतः वह अभिनेता की शक्ति में ही विश्वास करता है, बाह्य उपकरणों में नहीं। दृश्य-परिकल्पना अभिनेता द्वारा ही अनुभूत कराना तथा पात्रों के प्रवेश-प्रस्थान, गतियों आदि के विभिन्न आधुनिक प्रयोगों के पीछे मूल प्रेरणा प्राचीन नाट्यशास्त्र की ही है। आधुनिक रंगमंच भी परदों का मंच नहीं है, बल्कि सादे मंच पर एक ही अंक में कई अभिनय-स्थल बदलते रहते हैं और प्रायः ये परिवर्तन या तो सूचित किये जाते हैं या अभिनय द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं। यह प्राचीन नाट्यशास्त्र के सूत्रधार की ही परम्परा का प्रभाव है कि ब्रेख्त भी अपने नाटकों में अभिनेता द्वारा दर्शकों से सीधे संवाद, परिचय और विवाद कराता है और हमारा आधुनिक रंगमंच बहुत बड़ी संख्या में सूत्रधार की कल्पना का किसी न किसी रूप में प्रयोग करता है। जिस तरह 'नेरेशन' को आज अनेक प्रस्तुतियों में नया प्रयोग मानकर दुहराया जाता है, वह संस्कृत के सूत्रधार का ही बदला हुआ रूप है। इसी प्रकार काव्य और नाटक का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वयं भरतमुनि ने स्वीकार किया है। हमारी लोकधर्मी नाट्य-परम्परा भी सूत्रधार, गीत-संगीत आदि को प्रयोग में लाती रही है। ब्रेख्त में जिस गीत-संगीत, सुन्दर काव्य-प्रवाह की प्रधानता हम पाते हैं, वह भी अपने में कोई नया प्रयोग नहीं है। हमारे सभी रंगकर्मी सभी भाषाओं में कहीं न कहीं इस प्राचीन नाट्यशास्त्र के मंच एवं प्रस्तुतीकरण शैली से प्रभावित हैं। वर्तमान कई महत्त्वपूर्ण प्रस्तुतियों—'चक्रव्यूह' (रतन थियम), 'स्कन्दगुप्त' (ब० व० कारंत) आदि में ये वैशिष्ट्य देखा जा सकता है। वस्तुतः प्रश्न इसका नहीं है कि हम प्राचीन नाट्यशास्त्र का उपयोग आधुनिक रंगमंच पर कर रहे हैं अथवा नहीं? प्रश्न यह कि प्राचीन नाट्यशास्त्र आधुनिक रंगमंच पर प्रासंगिक है या नहीं? अगर है तो हम उसका प्रयोग किस रूप में कर रहे हैं? निस्सन्देह इस समय हिन्दी रंगमंच ऐसे मोड़ पर है जहाँ उसे 'भारतीय रंगमंच' के सन्निकट अपनी ज़मीन, अपनी संस्कृति और स्वभाव से जुड़कर, हिन्दी रंगमंच की निजी छवि को तलाशना है। दक्षिण, महाराष्ट्र, आसाम अपनी शास्त्रीय और लोकधर्मी नाट्य-परम्पराओं से जितने गहरे आन्तरिक रूप से सम्पृक्त हैं, उतने हिन्दी रंगकर्मी नहीं। हमारे यहाँ केवल 'प्रयोग' अथवा 'आधुनिकता' के नाम पर ये परम्परायें वर्तमान रंगकर्म का हिस्सा बनी हुई हैं—यह अधकचरापन, महज एक फैशन, खतरनाक स्थिति है। अपनी जड़ों से बिना आत्मीय सम्बन्ध स्थापित हुए ये प्रयोग स्थायी सौन्दर्य की रचना नहीं कर सकते। इस मानसिकता से मुक्त होने की आवश्यकता है कि हम बिना अपने संस्कारों को पहचाने किसी 'नवीनता' को पश्चिम के नाटककार या निर्देशक की 'कृति' मानकर तुरन्त ग्रहण कर लेते हैं और उस प्रयोग में आत्मतोष

पाते हैं । ब्रेख्त की 'एलियनेशन थ्योरी' को कितने लोग बारम्बार दोहराते रहते हैं जब कि उसकी कल्पना भी हमारे नाट्यशास्त्र की ही है । सूत्रधार के कथन, हस्तक्षेप और अभिनेता की दर्शन से बातचीत के साथ वह पार्थक्य आ ही जाता है जिसकी बात आधुनिक रंगकर्मी करता है । विदेशी नाटक, विदेशी कृतियों के अनुवाद, पश्चिम की शैलियों के प्रयोग केवल एक महत्त्वाकांक्षा हो सकते हैं, सृजन नहीं । प्राचीन नाट्यशास्त्र सम्पूर्ण विश्वसाहित्य एवं कलाओं के लिए आधुनिकतम सिद्ध हो सकता है । आवश्यकता बड़े संस्थानों, महान् निर्देशकों द्वारा उसको जानने-पहचानने और आधुनिक दृष्टि से उसे ग्रहण करने की है ।

●

आधुनिक रंगमंच : विकास और सम्भावना

डॉ० जयदेव तनेजा

रंगमंच एक सहयोगी एवं संश्लिष्ट कला-रूप है जो नाट्य-लेखन से प्रदर्शन (प्रेक्षक) तक एक संयुक्त रचनात्मक प्रक्रिया से गुजर कर जीवन्त अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में साकार और सार्थक होता है। अनेक ऐतिहासिक और जटिल कारणों से हमारा आधुनिक भारतीय और विशेषकर हिन्दी रंगमंच कई प्रकार के अन्तर्विरोधों से घिरा है। जहाँ तक परिमाण, विस्तार और लोकप्रियता अथवा व्यावसायिक सफलता का प्रश्न है, इसमें कोई संदेह नहीं कि मराठी, बंगला और कन्नड़ जैसी रंग-समृद्ध भाषाओं के मुकाबले हिन्दी का रंगकर्म अभी उतना विकसित और समृद्ध नहीं है। परन्तु सवाल यदि प्रयोगशीलता, कलात्मकता और अकुंठ ग्रहणशीलता का है तो समकालीन हिन्दी रंगकर्म किसी से कम नहीं है।

मौलिक नाट्य-लेखन की दृष्टि से देखें तो आजादी के बाद भारती के 'अंधायुग', जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' ('शारदीया' और 'पहला राजा' के बावजूद), मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आधे-अधूरे', शंकर शेष के 'एक और द्रोणाचार्य' और 'पोस्टर', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'बकरी', भीष्म साहनी के 'हानुश', 'कबिरा खड़ा बजार में' और 'माधवी' तथा लक्ष्मीनारायण लाल के 'मादा कैक्टस' से 'गंगामाटी' तक कुछेक को निश्चय ही अपनी तमाम कमियों और सीमाओं के बावजूद उल्लेखनीय कृतियाँ कहा जा सकता है। बाद की पीढ़ी के रचनाकारों में 'द्रौपदी', 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'सेतुबंध' तथा 'आठवाँ सर्ग' के लेखक सुरेन्द्र वर्मा और उनके समकालीनों से काफी उम्मीदें थीं। लेकिन 'छोटे सैयद बड़े सैयद' जैसे विवादास्पद बड़े नाटक के बाद सुरेन्द्र वर्मा के अप्रकाशित किन्तु मंचित 'एक दूनी एक' तथा बहुप्रतीक्षित 'शकुंतला की अँगूठी' ने केवल उनकी तंत्र-कुशलता का ही प्रमाण दिया किसी नए, गहरे और उत्तेजक अनुभव-संचार से हमारा साक्षात्कार नहीं कराया। रमेश बक्षी 'तीसरा हाथी', 'वामाचार' और 'कसे हुए तार' के बावजूद 'देवयानी का कहना है' से आगे नहीं बढ़े, तो मुद्राराक्षस भी 'संतोला', 'गुफाएँ', 'तेंदुआ', 'तिलचट्टा' के बावजूद 'मरजीवा' और 'योअर्स फेथफुली' की जमीन पर खड़े हैं। मणि मधुकर ने 'बुलबुल सराय', 'दुलारी बाई', 'खेला पोलमपुर का' और 'इकतारे की आँख' जैसे छोटे-बड़े कई नाटक लिखे, लेकिन वह आज भी 'रस गंधर्व' के लेखक के रूप में ही उसी प्रकार जाने जाते हैं, जैसे ज्ञानदेव अग्निहोत्री 'शुतुरमुर्ग', बृजमोहन शाह 'त्रिशंकु', विपिन अग्रवाल 'तीन अपाहिज', बलराज पंडित 'पाँचवाँ सवार', दयाप्रकाश सिन्हा 'कथा एक कंस की', शरद जोशी 'एक था गधा उर्फ अलादाद खाँ', हमीदुल्ला 'उलझी आकृतियाँ', सुशीलकुमार सिंह 'सिंहासन खाली है', सत्यदेव दुबे 'सम्भोग से संन्यास तक', रमेश उपाध्याय 'पेपर वेट', गिरि-

राज किशोर 'प्रजा ही रहने दो', नरेन्द्र कोहली 'शम्बूक की हत्या', नाग बोडस 'कृति-विकृति' और कुसुम कुमार 'सुनो शेफाली' या 'दिल्ली ऊँचा सुनती है' जैसे आरम्भिक नाटकों के रचनाकारों के रूप में जाने जाते हैं ।

इसके बावजूद इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता कि स्व० शंकर शेष के 'कोमल गांधार', मृणाल पाण्डे के 'जो राम रचि राखा', 'आदमी जो मछुआरा नहीं था', 'चोर निकल कर भागा,' रामेश्वर प्रेम के 'अजातघर', 'चारपाई', कैम्प' और 'अन्तरंग', गिरिराज किशोर के 'घास और घोड़ा', असगर वज़ाहत के 'इन्ना' और 'वीरगति', त्रिपुरारी शर्मा के 'अक्स पहेली', 'बहू' तथा 'काठ की गाड़ी', कुसुम कुमार के 'रावण-लीला', प्रभातकुमार भट्टाचार्य के 'काठ महल', विभु कुमार के 'तालों में बन्द प्रजातन्त्र', नाग बोडस के 'टीन टप्पर', धर्मपाल अकेला के 'देखो, वह पुरुष', नरेन्द्र कोहली के 'निर्णय रुका हुआ' तथा 'हत्यारे', विनय के 'एक प्रश्न मृत्यु', राजेश जोशी के 'जादू जंगल', किरणचन्द्र शर्मा के 'सावधान पुरुखा', विलास गुप्ते के 'आदमी का गोश्त' जैसे चर्चित-अचर्चित कई मौलिक नाट्यालेख इस बीच हमारे सामने आए ही हैं ।

जहाँ तक कालजयी रचनाओं और बड़ी उपलब्धियों का सवाल है, कन्नड़ में आद्य रंगाचार्य के बाद गिरीश कनार्ड ने 'ययाति', 'तुगलक' और 'हयवदन' के बाद कुछ विशेष नहीं लिखा और उनके पुनर्लिखित नए नाटक 'बलि' ने निराश ही किया । कम्बार 'जो कुमारस्वामी' और लंकेश 'परतें' पर ही टिके हैं। बंगला में बादल सरकार ने 'एवम् इन्द्रजित', 'बाकी इतिहास', 'पगला घोड़ा', 'सारी रात' के बाद नाटक 'लिखने' के बजाए 'बनाने' का काम शुरू कर दिया और 'जुलूस' से शुरू होकर अब 'बासी खबर' भर बनकर रह गए हैं । मोहित के 'गिनी पिग' तथा देवाशीष मजुमदार के 'ताम्रपत्र' के अलावा काफी समय से कोई श्रेष्ठ मौलिक रचना बंगला में भी सामने नहीं आई है । मराठी में विजय तेंदुलकर 'खामोश, आदलत जारी है' और 'घासीराम कोतवाल' की अपनी ऊँचाई नहीं लाँघ पा रहे हैं, हालाँकि 'बेबी', 'अंजी', 'कन्यादान' और अब 'सौभाग्यकांक्षिणी' तक उनकी सतत् सक्रियता और रंग-शिल्प की विकसित होती समझ / कुशलता निश्चय ही प्रशंसनीय है । गोविन्द देशपाण्डे 'उध्वस्त धर्मशाला' पर अटके हैं और जयंत दलवी 'संध्याछाया' और 'सूर्यास्त' से आगे नहीं बढ़े । हाँ, महेश एलकुंचवार 'वासनाकांड', 'गार्बो' 'रक्त पुष्प', 'होली', 'पार्टी' से होते हुए 'विरासत' तक जरूर आए हैं, जबकि सतीश आलेकर 'महानिर्वाण' के बाद 'बेगम बर्वे', 'मिक्की और मेमसाब' तथा 'शनिवार-रविवार' की काम-कुंठाओं में ही उलझे हैं । कमोबेश यही स्थिति अन्य भाषाओं की भी है । मणिपुरी, उड़िया, मलयालम, गुजराती इत्यादि में भी मौलिक नाट्य-लेखन की स्थिति निराशाजनक ही है । हाँ, इनके कई निर्देशकों द्वारा लिखे कुछेक नाट्यालेख प्रदर्शनों में प्रभावी अवश्य सिद्ध हुए हैं । लेकिन केवल आलेख के रूप में देखने पर उन्हें भी श्रेष्ठ नाट्य-लेखन का उदाहरण नहीं माना जा सकता ।

अब निर्देशन और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से देखें तो आधुनिक भारतीय रंगमंच के उद्भव और विकास का दौर निस्संदेह बेहद उत्साहवर्द्धक रहा है । उस आरम्भिक चरण में हिन्दी रंगमंच की नींव को मजबूत करने वाले छोटे-बड़े शहरों-कस्बों के बहुसंख्य अज्ञात अथवा अल्पज्ञात उत्साही रंगकर्मियों के अलावा इब्राहीम अल्काजी, सत्यदेव दुबे, हबीब तनवीर, शान्ता गांधी, श्यामानन्द जालान, ब० व० कारंत, राजिंदर नाथ, शीला भाटिया, सथ्यू, ओम शिवपुरी, बृज-मोहन शाह, मोहन महर्षि, रामगोपाल बजाज, डॉ० लाल, सत्यव्रत सिन्हा, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, प्रो० सत्यमूर्ति, सरनबली, बीरेन्द्र मेंहदीरता वगैरह का निर्णायक योगदान रहा है । इनके बाद

देश भर में अपने स्तरीय रंगकर्म एवं बहुसंख्य रंग-प्रशिक्षण शिविरों के माध्यम से नई रंग-चेतना लाने वालों में एम० के० रैना, रंजीत कपूर, अमाल अल्लाना, बन्सी कौल, भानु भारती, देवेन्द्र राज अंकुर, राजेन्द्र गुप्त, फैजल अल्काज़ी, नादिरा बब्बर, रवि बास्वानी, रमेश मनचन्दा, राज बिसारिया, उर्मिलकुमार थपलियाल, कुमुद नागर, निरीश रस्तोगी, विमल लाठ, कृष्णकुमार, अतुलवीर अरोड़ा, अलखनंदन, सतीश आनन्द और अख्तर बन्धुओं जैसे अनेक युवा एवं उत्साही रंगकर्मियों मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। परन्तु मौजूदा हालत यह है कि पिछले काफी समय से हमारे ज्यादातर वरिष्ठ निर्देशक जहाँ के तहाँ खड़े प्रतीत होते हैं। अल्काज़ी 'तुगलक' में अपने चरम पर थे और उसी के साथ उन्होंने थियेटर छोड़ दिया। दुबे के 'अरण्य', 'बलि' और काफी हद तक विरासत' ने भी विकास के कोई संकेत नहीं दिए। हबीब तनवीर के 'हिरमा की अमर कहानी' ने निराश किया। श्यामानन्द जालान 'शकुंतला' या 'आधे अधूरे' में कहीं भरे-पूरे नहीं लगते। राजिन्दर नाथ 'घासीराम कोतवाल' और 'जात ही पूछो साधु की' की ऊँचाइयाँ लाँघ पाने में स्वयं को असमर्थ पा रहे हैं। शान्ता गांधी 'जसमा ओडन' से आगे नहीं बढ़ीं। शीला भाटिया अपने हर प्रदर्शन में पीछे नहीं तो ज्यादा से ज्यादा वहीं होती हैं जहाँ पहले थीं। सथ्यू फिल्म में 'गर्म हवा' और थियेटर में 'बकरी' से आगे बढ़ने का कोई संकेत नहीं देते। ओम शिवपुरी ने तो खैर रंगमंच पूरी तरह से छोड़ दिया, लेकिन बृजमोहन शाह और राम गोपाल बजाज भी खास कुछ नहीं कर रहे। मोहन महर्षि ने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रथम वर्ष के अपने छात्रों के साथ 'इडिपस रैक्स' में जिस सम्भावना का समर्थ संकेत दिया था, उसके विकास का कोई भी ठोस परिणाम इस बीच सामने नहीं आया।

विजया मेहता के 'हयवदन' और 'शकुन्तला' सौन्दर्य-बोध एवं प्रदर्शन-मूल्यों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु स्वयं उन्हीं की पूर्ववर्ती उपलब्धियों को आगे नहीं बढ़ाते। जब्बार पटेल 'घासीराम कोतवाल' तथा 'तीन पैशाचा खेला' और सतीश आलेकर 'महानिर्वाण' पर ही अटके हैं। इन दोनों के नए प्रदर्शन 'पड़घम' तथा 'शनिवार-रविवार' ने बुरी तरह निराश किया। कुमार सोहानी का 'अथं मानुस जगन है' महाराष्ट्र में पुरस्कृत एवं प्रशंसित होने के बावजूद बहुत सरलीकृत और फिल्मी-सी नाट्यकृति है। वरिष्ठ निर्देशकों में अकेले ब० व० कारंत ही हैं जिन्होंने 'स्कन्दगुप्त' से अपनी चार-पाँच साल की एकरसता को तोड़ने की सार्थक कोशिश करके अपनी रचनात्मकता का परिचय दिया है।

मलयालम में कवलम नारायण पणिक्कर और मणिपुरी में रतन थियम तथा कन्हाईलाल का नाम और काम राष्ट्रीय स्तर पर जाना और माना जाता है। पणिक्कर तथा थियम की कल्पनाशीलता और रंग-तकनीक भी पिछले कुछ समय से अति-परिचित-सी हो जाने के कारण अपना असर खोने लगी थी। परन्तु पणिक्कर ने 'कर्ण भारम' और रतन ने 'चक्रव्यूह' से नई ताजगी और प्रतिभा का प्रमाण देकर फिर से नई उम्मीद बँधाई है, जबकि मलयालम में ही जी० शंकर पिल्लई के 'कथा बीजम', एस० रामानुजम के 'करूथा देविआथे थेडी', बन्सी कौल के 'अंदनम अदाकोदनम', नरेन्द्र प्रसाद के 'सौपर्णिका' तथा 'वेल्लियाजचा' केवल मनोरंजक भर ही हैं। इसी प्रकार मणिपुरी में वाई० राजेन्द्र सिंह लिखित-निर्देशित 'नौग्दा अपाम थौएबा' तथा एच० कन्हाईलाल लिखित-निर्देशित 'लैंगी माचा सिंघा', 'इम्फाल-७३' और 'मृत्यु श्वोर' भी सिर्फ दिलचस्प ही रहे। कन्नड़ में जी० श्रीनिवास द्वारा रूपांतरित-निर्देशित ज्ञानपीठ पुरस्कार-

प्राप्त उपन्यास 'चिकवीर राजेन्द्र' बहुत कमजोर प्रदर्शन है। इसके मुकाबले प्रसन्ना के 'डांग्या मुंचीना दिनाग्लू', 'मदर' और 'गैलीलियो' में फिर भी ताजगी है।

कलकत्ता में बादल सरकार और प्रवीर गुहा के मंच-मुक्त प्रदर्शनों के अतिरिक्त 'चेतना' के अरुण मुखर्जी निर्देशित 'जगन्नाथ', 'बगिया बांछाराम की', 'रोशन' तथा 'मारीच सम्वाद' और 'नान्दीकार' के रुद्रप्रसाद सेनगुप्त निर्देशित 'सिक्स कैरेक्टर्स इन सर्च ऑफ एन आथर' (स्व० अजितेश बनर्जी की पुनर्निर्मिति), 'माननीय विचारक मंडली' (रशोमन) और 'एण्टीगनी' के अलावा साँवली मित्रा अभिनीत-निर्देशित कालीप्रसाद घोष के एकपात्रीय नाटक 'नाथवत अनाथवती' पुराने होने के बावजूद जीवित और चर्चित प्रदर्शन कहे जा सकते हैं।

पहले फिल्म और अब टी० वी० धारावाहिकों ने रंगमंच पर सीधा असर डाला है। वरिष्ठ, प्रतिष्ठित और प्रतिभावान् कलाकार भरपूर नाम और दाम देने वाले इन 'बड़े माध्यमों' की ओर भाग रहे हैं। इसमें गलत और सही का सवाल नहीं है, लेकिन यह एक कटु सच्चाई और वास्तविक स्थिति है—जिसे नकारा नहीं जा सकता। दो-एक अपवादों को छोड़ दें तो पिछले लगभग पाँच-छह वर्षों में कोई नया बड़ा नाटक, प्रदर्शन और अभिनेता उभर कर सामने नहीं आया। पुराने नाट्य-दल और निर्देशक या तो चुप हैं या फिर सिर्फ अपने आप को दोहरा-तिहरा रहे हैं। नये दलों और रंगकर्मियों में उत्साह तो है, लेकिन आस्था, समझ और कल्पना-शीलता की कमी है। नौसिखिए, शौकिया अथवा अर्द्धव्यावसायिक नाट्य-दलों की बात तो जाने ही दीजिए। सरकारी या अन्य संस्थानों की भारी/पूरी आर्थिक सहायकता पाने वाले तथाकथित व्यावसायिक रंगमंडलों की हालत भी खासी है। बड़े से बड़े आयोजन या महत्त्वाकांक्षी समारोह प्रायः रस्म-अदायगी भर होकर रह जाते हैं। वैविध्यपूर्ण रंग-प्रयोगों के बावजूद किसी आधुनिक भारतीय प्रदर्शन-शैली या अभिनय-पद्धति का विकास हम नहीं कर सके हैं। कभी हम स्तालिनोवस्की की ओर भागते हैं तो कभी ब्रेख्त, ग्रोतोवस्की, शेखनर या पीटर ब्रुक की ओर। हममें आत्मगौरव और आत्मविश्वास की सख्त कमी है। फिर भी इन सारे दबावों और तनावों के बावजूद यह सच है कि वरिष्ठ के मुकाबले आज नई पीढ़ी अपेक्षाकृत ज्यादा और बेहतर काम कर रही है। उपलब्धि की सम्भावना के बीज उसमें हैं। दिल्ली में अमाल अल्लाना के 'महाभोज', रंजीत कपूर के 'बेगम का तकिया' और 'मुख्य मंत्री' के बाद 'रुका हुआ फैसला', 'एक घोड़ा छह सवार', तथा 'नेक्रोसोव', एम० के रैना के 'मैं ही हूँ कालपुरुष, ओपन हाइमर', 'एण्टीगनी', 'कबिरा खड़ा बजार में' और 'माधवी', त्रिपुरारी शर्मा का 'काठ की गाड़ी', फैजल अल्काज़ी का 'रक्त-पुष्प', विनोद वर्मा का 'टुट्टू', देवेन्द्रराज अंकुर के 'महाभोज', 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'अनारो', राजेन्द्र गुप्त के 'जायज हत्यारे', 'कैम्प' और 'पाप और प्रकाश', सुभाष उद्गाथा के 'एक इंस्पेक्टर से मुलाकात', वीरेन्द्र सक्सेना के 'ये आदमी ये चूहे ', अमिताभ श्रीवास्तव के 'खूब मिलाई जोड़ी', भानु भारती के 'चन्द्रमा सिंह उर्फ चमकू' रमेश मनचन्दा के 'कोमल गांधार', प्रसन्ना के 'फूजीयामा' तथा इरपिन्दर पुरी के 'एक रौशन आवाज' को उल्लेखनीय प्रदर्शन माना जा सकता है। बम्बई में 'अंक' (दिनेश ठाकुर) के 'हाय मेरा दिल', 'गुले गुलजार', 'बीबियों का मदरसा', 'कमला', 'खामोश, अदालत जारी है', 'अपना-अपना', 'सपने' और 'अंजी', 'एकजुट', (नादिरा बब्बर के 'चन्दनपुर की चम्पाबाई', 'संध्याछाया', 'मैं जिन्दा हूँ, मैं सोचता हूँ', 'राग दरबारी', 'इप्टा' के 'सुफेद कुंडली, 'बकरी', 'होरी', 'एक और द्रोणाचार्य', 'शतरंज के मोहरे' कलात्मक उत्कृष्टता के कारण न सही, फिल्मी ग्लैमर के कारण ही सही लोकप्रिय तो हैं ही। 'आविष्कार' द्वारा जयदेव हटंगड़ी के निर्देशन में प्रस्तुत मराठी में 'चांगुष (यर्मा)',

'मीडिया' और 'शुतुरमुर्ग' तथा हिन्दी में 'पोस्टर', 'अबूहसन' तथा 'आधी रात के बाद' जैसे नाटक कलात्मकता और व्यावासायिकता का अच्छा सामंजस्य प्रस्तुत करते हैं। पिछले कुछ वर्षों में लखनऊ, कानपुर, बनारस, इलाहाबाद, नैनीताल, देहरादून, आगरा, पटना, राँची, आजमगढ़, जयपुर, बीकानेर और चण्डीगढ़ जैसे रंग-नगरों में भी कई चर्चित एवं स्तरीय प्रस्तुतीकरण हुए हैं, हो रहे हैं। इस बीच अपनी जमीन और जड़ों की तलाश में हम अपनी शास्त्रीय अथवा लोक-रंग-परम्पराओं की ओर भी मुड़े हैं। इस दिशा में संगीत नाटक अकादमी की ओर से युवा रंगकर्मियों को अपनी पारम्परिक रंगशैलियों में नए प्रयोग करने की व्यापक योजना ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इस योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत अनेक प्रदर्शनों में से रतन थियम के मणिपुरी प्रदर्शन 'चक्रव्यूह', उर्मिलकुमार थपलियाल और सूर्यमोहन कुलश्रेष्ठ के हिन्दी नाटक 'हरिचन्नर की लड़ाई' तथा 'रामलीला', भानु भारती के मेवाड़ी प्रस्तुतीकरण 'पशु गायत्री', बंसी कौल के मालवी प्रदर्शन 'खेल गुरू का', भरत दवे निर्देशित गुजराती प्रस्तुति 'मुक्त धारा', बी० जयश्री निर्देशित कन्नड़ नाटक 'लक्षपति राजा ने कथे' तथा नारायणपति लिखित-निर्देशित उड़िया नाटक 'मुक्तिपथ' को पारम्परिक रंग-शैलियों के आधुनिक प्रयोग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृतियाँ कहा जा सकता है। रंगमंच में बोलियों के रचनात्मक उपयोग की दृष्टि से म० प्र० रंगमंडल (भोपाल) द्वारा ब० व० कारंत के निर्देशन में प्रस्तुत 'मालविकाग्निमित्र', फ़िट्ज बेनेविट्ज निर्देशित 'इंसाफ का घेरा' (काकेशियन चाक सर्किल) तथा अलखनंदन निर्देशित 'गोडाला देखन हुन' (वेटिंग फार गोदो) बुन्देली में और 'कलासंगम' (पटना) द्वारा सतीश आनन्द निर्देशित 'अमली' तथा 'माटी गाड़ी' बिहार की भोजपुरी-मैथिली बोली/भाषा तथा बिदेसिया शैली में पर्याप्त सफलता के साथ पेश करने की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

दिल्ली के 'मंजर-थियेटर' और साहित्य-परिषद् के समारोहों और अन्य सरकारी-गैर-सरकारी आर्थिक सहायता-प्राप्त प्रदर्शनों ने प्रदर्शन-मूल्यों की दृष्टि से भले ही समकालीन रंगमंच को कोई लाभ पहुँचाया हो या न पहुँचाया हो, लेकिन यह तो निश्चित ही है कि इसके रंगकर्म की गतिविधियों का विस्तार हुआ है और रंगमंच की लोकप्रियता भी किसी हद तक बढ़ी ही है। इस लोकप्रियता को बढ़ाने में फिल्मों या दूरदर्शन के धारावाहिकों के लोकप्रिय कलाकारों के नाटकों का विशेष योगदान रहा है।

इस तकनीक-समृद्ध रंगद्वारी और आभिजात्य सौन्दर्य-बोध-सम्पन्न रंगमंच के समान्तर इस बीच एक कमखर्च, सादे, लेकिन प्रासंगिक और प्रभावशाली रंगमंच का विकास भी हमारे यहाँ हुआ है। इसे मंचमुक्त अथवा नुक्कड़ नाटक के नाम से जाना जाता है। यह तय करना शायद कठिन है कि इसकी जड़ों में हमारे लोकमंच की प्रेरणा अधिक है या ग्रोतोवस्की के 'पुअर थियेटर' अथवा बादल सरकार के 'तीसरे रंगमंच' की। यह आम आदमी द्वारा आम आदमी के के लिए आम आदमी का आम रंगमंच है। जो भ्रष्टाचार के छिपे हुए सूत्रधारों को बेनकाब कर जनता में जागरूकता लाने और विरोध/विद्रोह की प्रेरणा जगाने के लिए प्रतिबद्ध है। परन्तु कथ्य और शिल्प, दोनों धरातलों पर इसकी भी अपनी शक्ति और सीमाएँ हैं और एक हद के बाद इस क्षेत्र में भी ठहराव नहीं तो कमोबेश शिथिलता के संकेत तो मिलने ही लगे हैं।

नए मौलिक अथवा अनूदित/रूपांतरित अच्छे नाट्यालेखों की कमी को पूरा करने के लिए कथा-साहित्य ही नहीं, काव्य-क्षेत्र से भी बहुत कुछ रंगमंच पर लाया जा रहा है। यह काम नाट्य-रूपांतरों के माध्यम से भी हो रहा है और कहानी या कथा-मंच के माध्यम से भी। लेकिन

'गोदान', 'बेगम का तकिया', 'मुख्य मंत्री', 'महाभोज' और किसी हद तक 'राग दरबारी' या 'कभी न छोड़ें खेत' को छोड़कर कोई नया उल्लेखनीय उपन्यास-प्रदर्शन भी इस बीच नहीं हुआ है।

यह सच है कि पिछले लगभग बीस-पचीस वर्षों के बहुत थोड़े से समय में ही हमारे आधुनिक भारतीय रंगमंच ने उत्साहवर्द्धक विकास किया है। हमारी उपलब्धियाँ कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही हैं। लेकिन इंकार इस बात से भी नहीं किया जा सकता कि पिछले कुछ समय से यह विकास-प्रक्रिया न केवल शिथिल हुई है, बल्कि किसी हद तक उसमें ठहराव-सा भी आ गया है। इसके लिए नाटककार पाश्वकर्मी और अभिनेता की उपेक्षा तथा हिन्दी रंग-प्रेक्षक की संस्कार-हीनता के साथ-साथ रंगकर्मियों के झूठे अहं एवं संकीर्ण स्वार्थों की अर्थहीन टकराहट एवं राजनीति तथा सम्पादकों, पत्रकारों, समीक्षकों की गुटबाजी के अलावा/फिल्म टी० वी० के मुकाबले रंगमंच को गौण ही नहीं, नगण्य तक मानने की कुंठित/दूषित मनोवृत्ति भी जिम्मेदार है।

परन्तु जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, रंगमंच पर चारों ओर से घिरते आते इस घने काले अँधेरे के बावजूद जटिल अनुभव के इस जीवन्त एवं सर्वाधिक सशक्त अभिव्यक्ति-माध्यम के भविष्य को लेकर निराश होने की कतई कोई जरूरत नहीं है। विज्ञान, उद्योग और तकनीक की दृष्टि से विश्व के सर्वाधिक विकसित देशों का इतिहास इस बात का गवाह है कि सब प्रकार के चहुँतरफा आक्रमणों के चलते भी इस गहन गम्भीर त्रि-आयामी कला-माध्यम की लोकप्रियता एवं प्रतिष्ठा समय के साथ घटने के बजाए बढ़ी ही है। देर-सबेर हमारे यहाँ भी यही होने को है। रंगकर्म के क्षेत्र में देशव्यापी सरकारी/गैर-सरकारी विविध पुरस्कारों, सम्मानों, अनुदानों, समारोहों और प्रतियोगिताओं इत्यादि का सीधा असर हमारे रंगकर्म पर पड़ेगा ही। म० प्र० रंगमंडल (भोपाल), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमंडल (दिल्ली) और दिल्ली की नाट्य संस्था 'सम्भव' को यदि हम उदाहरण के तौर पर देख लें तो बेझिझक यह नतीजा निकाला जा सकता है कि संस्थान चाहे सरकारी हो, चाहे गैर-सरकारी, यदि आपमें इच्छा, इरादा और साहस/लगन है तो कुछ भी असम्भव नहीं है।

समग्रतः हम कह सकते हैं कि पिछले पाँच-सात वर्षों में भारतीय और विशेषकर हिन्दी रंगमंच पर कोई अपूर्व अथवा कालजयी महान् प्रस्तुति शायद नहीं हुई है। इन दिनों स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के यथार्थवादी नाटकों और व्यवस्था-विरोध के रंगद्वारी अथवा मंच-मुक्त नाटकों के साथ-साथ कई प्रकार के प्रयोगधर्मी नाटक भी खूब लिखे और खेले जा रहे हैं। अपनी गीत-संगीतमय समृद्ध लोकरंग-परम्परा से जुड़कर नए रास्ते निकालने की अर्थपूर्ण कोशिशें भी देश भर में अलग-अलग रूप-रंग और स्तर पर हो रही हैं। अभिनय-प्रधान मनोशारीरिक रंगशैली और निर्देशन-प्रधान तकनोक-समृद्ध रंग-पद्धति के प्रदर्शन भी एकसाथ दिखाई पड़ रहे हैं। हल्के-फुल्के हास्य-व्यंग्य प्रधान मनोरंजक अथवा रहस्य रोमांच के प्रस्तुतीकरण भी लोकप्रिय हुए हैं और विदेशी-खासकर ब्रेख्त और शेक्सपियर के नाटकों के अनुवादों/रूपान्तरों की भरमार हमेशा की तरह अब भी जारी है। स्पष्ट है कि समकालीन भारतीय रंगमंच की कोई निश्चित एवं निर्भ्रान्त दिशा/सम्भावना के विषय में कोई भविष्यवाणी करना फिलहाल सम्भव नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि एक व्यापक रंग-सक्रियता आई है जिसने हिन्दी-क्षेत्र के फिल्म-प्रेमी दर्शकों को एक नया रंग-संस्कार अवश्य दिया। स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों और सामाजिक स्तर पर भी नाट्य-प्रदर्शनों ने एक उल्लेखनीय लोकप्रियता/प्रतिष्ठा अर्जित की है। नाट्य-कर्मशालाओं के बहुस्तरीय

आयोजनों, बहुभावी राष्ट्रीय नाट्योत्सवों एवं बाल रंगमंच के विस्तार ने एक सर्जनात्मक भूमिक का निर्वाह किया है। यह नई फसल के बीजारोपण-सा एक बुनियादी और जरूरी काम है जो पिछले कुछ ही समय में हमारे यहाँ हुआ है। निरंतर बदलते हुए आज और समाज के बहुविध दबावों, तनावों और रचनात्मक चुनौतियों के भीतर से हमारा समकालीन रंगकर्म एक भारतीय, आधुनिक, प्रासंगिक, सार्थक और मौलिक रंगशैली की तलाश कर रहा है। यह एक जटिल, कठिन और लम्बी यात्रा है। अभी हमारी दृष्टि उपलब्धियों के बजाए दिशा और सम्भावना पर होनी चाहिए। हमें अपनी मौलिकता, प्रतिभा, सर्जनात्मकता और कल्पनाशीलता पर अटूट विश्वास होना चाहिए। रंगमंच कुछ सिर-फिरे और जिद्दी कलाकारों का माध्यम है। हमें उन पर और भविष्य पर विश्वास रखना चाहिए। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक बार कहा था, "जो कुछ हमें दिखाई देता है, उसका उतना महत्त्व नहीं है जितना हमारे देख पाने की व्याकुलता का है। और निश्चय ही हमारी यह व्याकुलता, छटपटाहट और तलाश अँधेरे की छाती चीर कर सुबह की रौशनी से हमारा साक्षात्कार कराएगी।"

आधुनिक भारतीय नाटक के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी नाटक की स्थिति

●

डॉ० प्रभाकर माचवे

संस्कृत के कालिदास के 'शाकुंतल' और शूद्रक के 'मृच्छकटिकम्' की विश्व भर में ख्याति हुई। अनेक भाषाओं में उनके अनुवाद हुए। वैसे ही 'उत्तररामचरित', 'मालतीमाधव' ने भवभूति की कीर्ति को, और उससे बहुत पहले भास की कीर्ति को 'प्रतिमा', 'मध्यम-व्यायोग', 'अविमारक' आदि अनेक नाटकों ने (जिनके अनुवाद मैथिलीशरण गुप्त ने किये, और कभी खेले नहीं गये) कितना ही भारत-विश्रुत किया हो, आधुनिक नाटक की महत्ता और विकास उन्नीसवीं शती से ही शुरू होता है। संस्कृत के पौराणिक नाटकों के अनुवाद, शेक्सपियर के अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद और उनकी शैली पर ऐतिहासिक-सामाजिक विषयों पर लिखे नाटक बीसवीं शताब्दि के पूर्वार्द्ध तक, स्वराज्य से पहले तक बहुत मिलते हैं। १९३० के बाद इब्सन, बर्नार्ड शॉ, गोगोल, चेखव के समस्या नाटकों के भी अनुवाद और उन 'मॉडलों' पर लिखे गये हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं के नाटक मिलते हैं। अब संक्षेप में भारतीय नाट्य-विकास का, विशेषतः साहित्यमान्य नाटकों का इतिहास देखें और साथ ही हिन्दी से उनकी तुलना, विशेषता और समानता पर एक दृष्टिपात करें। 'नाट्यं' भिन्न रुचिर्हिलोकाः' सही है। मार्गी के साथ-साथ देशी, यानी लोकनाट्य, जननाट्य भी पुनः विकसित हुआ। गत चालीस वर्षों में उसे विशेष मान्यता मिली। वह राजनैतिक विचार-प्रचार का संवाहक बना।

पूर्व

आसाम के प्राचीन 'अंकिया' नाटकों की भाषा ब्रजबुलि और मध्ययुगीन हिन्दी थी। विषय वैष्णव-आख्यान और कृष्णलीला थे। १९२९ के बाद ही आधुनिक राष्ट्रीयतापूर्ण नाटक असमिया में लिखे जाने लगे। वैसे तो 'रामनवमी' असमिया का प्रथम दुःखांत नाटक विधवा-विवाह समस्या पर है। इसमें सूत्रधार आखिरी दृश्य में आता है। अफीम की बुराइयों पर हेमचन्द्र बरुआ ने 'कानीया कीर्तन' १८६१ में लिखा। फिर चले वही 'सीताहरण', 'रावण-वध', 'सावित्री-सत्यवान', 'हरिश्चन्द्र' आदि पौराणिक आख्यान। १८८८ में शेक्सपियर के 'कॉमेडी ऑफ एरर्स' का 'भ्रमभंग' अनुवाद छपा। बाद में देवानन्द मराली ने 'मैकबेथ' का 'भीमदर्प', दुर्गेश्वर शर्मा ने 'एज यू लाइक इट' का 'चंद्रावती', पद्मधर चलिहाने ने 'रोमियो जूलियट' का 'अमर लीला' आदि अनेक अनुवाद किये। १९५० में अतुलचन्द्र हजारिका ने 'किंग लीयर' का अनुवाद 'अश्रुतीर्थ' किया। पद्मनाथ गोहांईबरुआ (१८७१-१९४५) ने कई प्रहसन, चार ऐतिहासिक नाटक और एक पौराणिक नाटक रचा। प्रहसन 'गाँवबूढ़ा' बहुत लोकप्रिय रहा। लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ (१८६८-१९३८) ने कई प्रहसन लिखे और तीन ऐतिहासिक नाटक भी रचे।

बेणुधर राजखोवा, दुर्गाप्रसाद बरुआ ('नीग्रो' नामक प्रहसन लिखा, बच्चों के लिए), चन्द्रधर बरुआ सब परम्परा-पालन करते रहे। मित्रदेव महन्त और अतुलचन्द्र हजारिका ने ही नये-नये प्रयोग किये और हास्यप्रधान तथा ऐतिहासिक विषय चुने। प्रवीण फूकान और ज्योतिप्रसाद अग्रवाल १६४०-४५ के पूर्व के, यानी 'सिनेमा युग' से पूर्व के प्रसिद्ध नाटककार थे। इसके बाद एकांकी और रेडियो-नाटक प्रसिद्ध हुए। स्वराज्य के बाद कई लोगों ने प्रयोग किये। पर कोई ऐसा बड़ा नाटक या नाटककार नहीं हुआ जिसका अन्य भाषाओं में अनुवाद हुआ हो।

बाँगला में आधुनिक नाटक का सूत्रपात वैसे तो १८५२ में योगेन्द्रचन्द्र गुप्त के 'कीर्ति-विलास' नामक मौलिक नाटक से माना जाता है, यद्यपि मंच का आरम्भ १७९५ में रूसी विद्वान् हेरासिय लेबेडेफ के प्रथम नाट्यशाला पर अनुवादित नाटक से ही हो गया था। गिरीश-चन्द्र घोष (१८४४-१९११) और माइकेल मधुसूदन दत्त (१८२४-१८७३) के मंच और नाटक का योगदान बहुत विख्यात है। फिर तो द्विजेन्द्रलाल राय के शेक्सपियर के ढंग पर नाटक हिन्दी में भी अनूदित हुए। रवीन्दनाथ ठाकुर के छह नाटक बहुत प्रख्यात हुए। उन्होंने गीतिनाट्य का प्रचलन किया, प्रतीकात्मक नाटक लिखे। 'जात्रा' नामक लोकनाट्य बराबर चलते रहे। १९४१ में रवीन्द्रनाथ की मृत्यु के बाद सुधीन्द्रनाथ राहा, महेन्द्रनाथ गुप्त, तुलसी लाहिड़ी, मन्मथ राय, शचीन्द्र सेनगुप्त का इस क्षेत्र में कार्य विख्यात था। फिर भी यह साहित्य-विधा बाँगला में उतनी समृद्ध नहीं जितनी काव्य या उपन्यास। आधुनिक काल में दस-बारह नाटक बहुत लोकप्रिय हुए : सलिल सेन का 'नूतन इहुदी', नीहाररंजन गुप्त का 'उल्का', विधायक भट्टाचार्य का 'बिछ बछर आगे', रवीन्द्रनाथ मैत्र का 'मानमयी गर्ल स्कूल', विजन भट्टाचार्य का 'नवान्न', उत्पल दत्त का 'अंगार', धनंजय बैरागी का 'एक मूठो आकाश'। गत दशक में समरेश बसु, मतिनन्दी, प्रतापचन्द्र, अजित गंगोपाध्याय, परेशधर आदि के नाटक बहुत विख्यात हुए, पर किसी भी हिन्दी नाटक का अनुवाद न असमिया, न बाँगला, न उड़िया में हुआ, न खेला गया।

ओड़िया नाटकों में पौराणिक विषयों पर संस्कृत से अनुवाद और मौलिक नाटक काफी लिखे गये। पर आधुनिक नाटक के प्रतिष्ठाता हैं 'रामशंकर राय', जिनके 'कांचिकापेरी' (१८८०) ने बड़ी ख्याति अर्जित की। पंडित गोदावरीश मिश्र, कालीचरण पट्टनायक, गोपाल छोटराय, मनोरंजन दास, रामचन्द्र मिश्र, भंजकिशोर पट्टनायक, कार्तिक घोष आदि अनेक प्रसिद्ध नाटककार हैं। पर पूर्वांचलय केन्द्रीय साहित्य अकादमी की स्थापना (१९५४) से आज तक ३२ वर्षों में किसी भी असमिया, बाँगला, उड़िया नाटककार को पुरस्कार नहीं दिया गया, सिवा बुद्धदेव बसु के नाट्य-काव्य 'तापसी अंतरंगिनी' और मनोरंजन दास के 'अरण्य फसल' के।

दक्षिण

चारों द्रविड़ भाषाओं में भी यही कथा है : संस्कृत के और शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद और बाद में सामाजिक प्रश्नों की ओर नाटककारों का ध्यान बीसवीं सदी के तीसरे दशक के बाद मुड़ना। फिर भी गुरजाड अप्पाराव के 'कन्याशुल्कम्' (१८९७) में बाल विधवा की स्थिति का बड़ा ही करुण वर्णन हुआ है। वैसे तो बेल्लारी के धर्मावरम् कृष्णमाचारी (१८५३-१९१३) ने १४ पौराणिक मौलिख नाटक लिखे। वैसे 'सारंगधर' तेलुगु में लिखा उनका प्रथम शोकांत नाटक है। समाज-सुधारक कु० वीरेशलिंगम् ने १८७६ में 'ब्रह्म विवाहम्' हास्य-नाटक लिखा। फिर चित्रकमूर्ति लक्ष्मीनरसिंहम्, वेदम् वेंकटराय शास्त्री, पतनगुंटि लक्ष्मीनरसिंहम्

आदि के नाटक मंच पर बहुत लोकप्रिय हुए। वेदम् के 'प्रताप रुद्रीयम्' में पात्रोचित भाषा का प्रयोग हुआ। नई 'व्यावहारिक' या बोलचाल की तेलुगु भाषा में चिलकूरि नारायण राव ने नाटक लिखने आरम्भ किये : चौधरी, चलम्, मुद्दुकृष्ण (इनके 'अशोकवन' का हिन्दी अनुवाद नाथूराम प्रेमीजी ने छापा था १६३७ में—मैंने उसका कवर-चित्र बनाया था)। १६२० के बाद राष्ट्रीय भावना से प्रेरित नाटक लिखे जाने लगे। साहिती समिति के सदस्य कविता के साथ नाटक भी लिखते थे। शिवशंकर शास्त्री ने 'दीक्षित दुहिता', विश्वनाथ सत्यनारायण ने 'अमर-कली', नोरी नरसिंह शास्त्री ने 'सोमनाथ विजयम्', दुब्बूरि रायिरेड्डी ने 'मीराबाई', अब्बूरि रामकृष्ण राव ने 'नदी सुन्दरी' सफल नाटक लिखे। वामपंथी विचारधारा के वासिरेड्डी भास्कर राव और सुन्कर सत्यनारायण के 'मा भूमि' बहुत प्रसिद्ध हुए। इन समाजवादी नाटककारों में आचार्य आत्रेय का 'एन-जी-ओ', 'ईनाडु', 'एकदेशम्', 'मिश्र शान्ति' बहुत लोकप्रिय हुए। अग्नि-सेट्टि सुब्बाराव का 'शान्ति' तेलुगु का प्रथम मूक नाटक था। नार्ला, पी० वी० राजमन्नार, श्रीवास्तव आदि ने एकांकी और रेडियो-नाटक लिखे। नार्ला के नाटक हिन्दी में हैं और एक-दो आत्रेय के। पर हिन्दी में और हिन्दी से तेलुगु भाषा में या भाषा से बहुत कम नाटक मिलते हैं। बाँगला के पचास नाटक हिन्दी में अनुवादित मिल जायेंगे। बादल सरकार, उत्पल दत्त, तरुण राय, डी० एल० राय, टैगोर, माइकेल, मन्मथ राय सबके नाटक हिन्दी में हैं।

तमिल का नाट्य साहित्य इतना विकसित नहीं। शंकरदास ने चालीस नाटक लिखे थे। फिर सुन्दरम् पिल्लै का 'मानोन्मणीयम्' (लिटन के 'दी सीक्रटेट' का अनुवाद) पद्य-नाटक था। सूर्यप्रकाश शास्त्री प्रबन्ध मुदालियर को आधुनिक नाटक का जन्मदाता मानते हैं। चित्रपट की तुलना में उमाचन्द्रन, पूर्णम् विश्वनाथन्, सुन्दा, सोमु, ज्ञान संबंदरा, बी० ए० कृष्णमूर्ति ने एकांकी और बड़े नाटक लिखे। हन्डा पार्थसारथी और 'चो' रामस्वामी के नये प्रयोग बहुत अच्छे हैं। पर पार्थसारथी के एकाध नाटक को छोड़ हिन्दी में तमिल से कोई नाटक नहीं।

कन्नड़ और मलयालम का नाट्य-साहित्य और मंच तुलना में अधिक विकसित है। गिरीश करनाड के 'हयवदन' से तो हिन्दी दर्शक सुपरिचित हैं। कन्नड़ नाटक का मूल लोकनाट्य यक्षगान बमलाया तालमद्द के आदि में मिलता है। यक्षगान के लिखे नाटक पद्य में हैं। वैसे तो सिंगरामे का मित्रविंदा (१६८०) कन्नड़ का प्रथम नाटक था। पर बाद में संस्कृत के और शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद ही उन्नीसवीं शती में मिलते हैं। सबसे बड़ा नाम टी० पी० कैलासम् का है जिनका 'होमरूल', श्रीरंग (प्रो० जमीरदार) का 'हरिजनवार', शिवराम कारंत का 'अर्थगुड़ी' प्रसिद्ध हुए। फिर आधुनिक कवियों में कुवेंचु, डी० टी० गुंडप्पा, पी० टी० नरसिंहाचार सभी ने नाटक लिखे। परन्तु बहुत कम नाटक कन्नड़ से हिन्दी में या हिन्दी से कन्नड़ में अनुवादित हुए हैं।

मलयालम में भी उन्नीसवीं सदी के अन्त में संस्कृत के और बाद में अंग्रेजी नाटकों के अनु-वाद से नाट्य-रचना विकसित हुई। संगीत नाटकों में के० सी० केशव पिल्लै का 'सदारामा', अच्युत मेनन का 'संगीत नैषध' खूब चला। फिर गद्य प्रहसन बहुत लिखे गये, पुराने कुंचन नंबियार की व्यंग्य-परम्परा में। राजनैतिक नाटकों में तोप्पल आसि के 'तुमने मुझे कम्युनिस्ट बनाया' नाटक हजारों बार खेला गया। जवाब में पी० केशवदेव ने 'मैं कम्युनिस्ट नहीं बना' गद्य लिखा। एन० कृष्ण पिल्लै ने समस्या-नाटक लिखे। सामाजिक गद्यकारों में सी० जे० रामस, जी० शंकर पिल्लै, टी० एन० गोपीनाथन नायर, एम० गोविन्दन्, के० टी० मुहम्मद, सदानन्दन, एन० के० आचारी आदि हैं। बहुत कम मलयाली नाटक हिन्दी में अनुवादित हुए या मकबूल हुए।

पश्चिम

पश्चिम भारत की मराठी, गुजराती, सिन्धी भाषाओं में से मराठी के कुछ नाटक विशेषत: मामा बरेरकर या विजय तेंडुलकर या वसन्त कानेटकर के हिन्दी में अनुवादित हुए और काफी लोकप्रिय भी हुए (जैसे 'शांतता, कोर्ट चालू आहे', 'सखाराम बाइंडर', 'घाशीराम कोतवाल', 'गिद्ध', 'कमला' तेंडुलकर के नाटक हैं)। परन्तु १८४३ से विष्णुदास आर्य से मराठी नाटक की नींव पड़ी। बाद में अण्णासाहेब किर्लोस्कर (१८४३-१८८५) और गो० ब० देवल (१८५४-१९१६) के संगीत नाटक या संस्कृत-अंग्रेजी नाटकानुवाद या 'शारदा' जैसे बालविवाह-विरोधी नाटक के हिन्दी में अनुवाद नहीं हैं। कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर (१८७२-१९४८) पत्रकार थे, पर उनका 'कीचक-वध' (१९१०) कर्जनशाही का शिकार बनकर जब्त हुआ। बाद के रामगणेश गडकरी या आचार्य प्र० क० अत्रे जैसे प्रसिद्ध नाटककारों की भी रचनायें हिन्दी में नहीं हैं। मराठी नाटक को सवाक्पट (सिनेमा) ने बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। नये कलाकारों में पु० ल० देशपांडे, चि० त्र्यं० खानोलकर के नाटकों के अनुवाद हुए हैं, पर दारवेकर, एल-कुंचवार, अनिल बर्वे के कम हुए। गो० त्र्यं० देशपांडे का 'उध्वस्त धर्मशाला' का अनुवाद हुआ था। इससे उलटे हिन्दी के मोहन राकेश के 'आधे अधूरे' को छोड़ शायद ही कोई हिन्दी गद्य मराठी में अनुवादित या मंचित हुआ है।

गुजराती का रंगमंच बहुत विकसित नहीं। पर चन्द्रवदन मेहता, क० मा० मुन्शी, रमन-लाल देसाई, कृष्णलाल श्रीधामी, यशवन्त पंड्या, मधु राय, लाभशंकर ठक्कर के नाटकों के कुछ अनुवाद हिन्दी में हैं। कुछ खेले भी गये, जैसे 'कोई पत्र एक फूलनुं नाम ल्यो' या 'बरगद'। एकांकियों में उमाशंकर जोशी, जयन्ती दलाल, गुलाबदास ब्रोकर, यशवन्त पंड्या और शांता गांधी की 'जसमा ओडन' का भवाई शैली में मंचन आदि प्रसिद्ध हैं। फिर भी हिन्दी का शायद ही कोई नाटक गुजराती में अनूदित हुआ, सिवा विष्णु प्रभाकर के एकांकी के, जो रेडियो सब भाषाओं में अनुवादित करता रहता है।

सिन्धी नाटकों में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। एम० यू० मलकाणी और राम पंचवानी ने कुछ नाटक अच्छे लिखे हैं। तीरथ बसन्त का 'रस गोलो' अभिनेय नहीं। वैसे किशोर पट्टजा, कृष्णा राही, जीवन गुर्सहाणी, हरिकांत, गोवर्धन भारती के नाटक लोकप्रिय हैं। जेठानन्द नारायणी के नाटक हास्य-व्यंग्यपूर्ण हैं। कोई भी सिन्धी नाटक हिन्दी में अनुवादित होकर खेला गया हो और प्रसिद्ध हुआ हो, ऐसा नहीं सुना। वही हाल हिन्दी से सिन्धी में है।

उत्तर

उत्तर भारत की हिन्दीतर तीन भाषाओं में कश्मीरी में तो नाटक बहुत ही कम हैं। १९४७ के बाद कुछ संगीतरूपक लिखे गये—दीनानाथ 'आदिम' का 'यंबुर-बबाजल' विख्यात है। अली मोहम्मद लोन, सोमनाथ जुत्शी, पुष्कर भान, सोमनाथ साधु, बंसो निर्दोष के रेडियो-नाटक बहुत लोकप्रिय हैं। पर हिन्दी में शायद ही कोई अनुवाद है।

वही हाल पंजाबी का है : बलवंत गार्गी और करतार सिंह दुग्गल, ये दो नाम पूरे नाटक और एकांकी क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं। कुछ और भी नाट्य-प्रयोग यत्र-तत्र हुए हैं। पर कोई बड़ा नाटक न पंजाबी से हिन्दी में, न हिन्दी से पंजाबी में अनुवादित हुआ। यद्यपि भारत-विभाजन ने इन तीनों भाषाओं को प्रभावित किया था—हिन्दी, उर्दू, पंजाबी।

उर्दू के सभी साहित्येतिहासकार मानते हैं कि वाजिदअलीशाह की 'इन्दरसभा' से थियेटर शुरू हुआ; पारसी थियेट्रिकल कम्पनी ने आगा हश्र कश्मीरी जैसे नाटककारों की मौलिक और अनुवादित रचनाओं को इतना लोकप्रिय बनाया, फिर भी इम्तियाज़ अली 'ताज' या शौकत थानवी के कुछ नाटक और 'फार्सो' को छोड़कर कोई बड़ा नाटककार उर्दू में पैदा नहीं हुआ। कृशनचन्दर ने भी कुछ प्रगतिशील एकांकी लिखे; फिक्र तौंसवी और कन्हैयालाल कपूर के भी कुछ खाके हैं; राजेन्द्रसिंह बेदी का भी नाटक है; मुहम्मद मुजीब और मुहम्मद हसन ने भी १८५७ और गालिब पर नाटक लिखे—पर यह विधा वहाँ अविकसित रही। जो भी कारण रहे हों, जबकि सिनेमा, टी० वी०, मंच पर अभिनय-क्षेत्र में पचासों उर्दू भाषाभाषी मशहूर हैं।

हिन्दी

ऊपर की विहंगमावलोकन शैली में आधुनिक नाटक की संक्षिप्त कहानी हिन्दीतर भाषाओं में देने के बाद हम हिन्दी की ओर मुड़ें। स्वराज्य से पहले तक हिन्दी के अधिकांश नाटक पाठ्य थे। साहित्यिक थे। चाहे वे 'प्रसाद' के हों, या सेठ गोविन्ददास के, लक्ष्मीनारायण मिश्र के और किसी बड़े नाटककार के। शेक्सपियर और संस्कृत नाटकों के अनुवाद भी बहुत हुए, पर मंच पर शायद ही कोई नाटक सारे हिन्दी-जगत् में चला हो। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'अंधेर नगरी' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' (यह एकमात्र नाटक महात्मा गांधी ने देखा था) से शुरू होकर आज डेढ़ सदी की हिन्दी नाटक की यात्रा है। सैकड़ों पूरे नाटक और हज़ारों एकांकी नाटक लिखे गये। प्राय: सब बड़े लेखकों और कवियों ने नाट्य, पद्यनाटक लिखे : प्रेमचन्द ने 'कर्बला', पन्त ने 'ज्योत्स्ना', यशपाल ने 'नशे-नशे की बात', भगवतीचरण वर्मा ने 'रुपया तुम्हें खा गया', अमृतलाल नागर ने 'सुहाग के नूपुर', वृन्दावनलाल वर्मा ने भी एकांकी लिखे। जैनेन्द्रकुमार ने मेटरलिंक और टाल्सटाय के नाटकों के अनुवाद किये। 'दिनकर' और अज्ञेय के भी पद्य-नाटक ('रश्मिरथी' और 'उत्तर-कलिंग') हैं। और कितने सारे नाम गिनाये जा सकते हैं। बच्चन और रघुवीर सहाय ने शेक्सपियर के अनुवाद किये—पर केवल नाटक लिखने वाले भुवनेश्वर, जगदीशचन्द्र माथुर, मोहन राकेश ही प्रसिद्ध हुए। एकांकी के क्षेत्र में 'प्रेमी', 'मिलिंद', उपेन्द्रनाथ 'अश्क', डॉ० रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर आदि अनेक हुए। कुछ लोकप्रिय भी हुए, कुछ आकाशवाणी के कारण अधिक प्रसिद्ध हुए। परन्तु मौलिक नाटक हिन्दी में मंच-योग्य बहुत कम हैं। परिणाम यह है कि राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय (दिल्ली) और अन्यत्र थियेटर ग्रुप उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान सर्वत्र अनुवादित नाटक ही अधिक खेलते हैं। कहीं विदेशी भाषाओं के रूपान्तर हैं, कहीं भारतीय भाषाओं के। कुछ लोगों ने, जैसे पृथ्वी थियेटर से लगाकर हबीब तनवीर के प्रयोगों तक, जन-नाट्य से भी प्रेरणा ली। मुद्राराक्षस ने नौटंकी को आधार बनाया। बंसी कौल और बी० एम० शाह ने अन्य कई लोकशैलियों को पुनरुज्जीवित किया। पर कुल मिलाकर हिन्दी नाटक या मंच आज उतना विकसित नहीं है जितना बँगला या मराठी थियेटर। मेरे मत से इसके निम्न दस कारण हैं—

(१) बहुत कम हिन्दी लेखक केवल नाटक-लेखन को समर्पित हैं।

(२) जो हैं, उनका मंच-सम्बन्धी अनुभव प्राय: नहीं है, या बहुत सीमित है।

(३) अभिनेता और नाटककार एकसाथ हों, ऐसे हबीब तनवीर या सत्यदेव दुबे अपवाद हैं।

(४) हिन्दी-भाषी समाज में व्यावसायिक रंगमंच विकसित नहीं हुआ है। जो अच्छे अभिनेता-अभिनेत्रियाँ ख्याति प्राप्त करते हैं, सिनेमा या टी० वी० में चले जाते हैं।

(५) अच्छी रंगशालाएँ (थियेटर) बड़े या छोटे शहरों में नहीं हैं जिनमें जनसामान्य उसी प्रेम से जाकर सस्ते में नाटक देख सकते हैं, जैसे कलकत्ता या बम्बई में, पूना या त्रिवेन्द्रम में।

(६) मौलिक नाटक-लेखन को कोई प्रोत्साहन नहीं है। दो-तीन अच्छे नाटक लिखने के बाद हिन्दी का नया नाटककार चुप हो जाता है। चूँकि नाट्यकर्मी अनुवाद अधिक खेलते हैं।

(७) इस दिशा में आकाशवाणी ने पहल की थी। पर बाद में वह भी बहुत साधारण नाटकों से काम चलाने लगी। दूरदर्शन पर भी कोई सशक्त हिन्दी नाटक छह महीने में एक बार कभी 'ईद के चाँद' की तरह दिखाई देता है।

(८) प्रसिद्ध उपन्यास या कथाओं के नाट्य-रूपांतर भी वे लोग करते हैं जिन्हें मंच का बहुत कम अनुभव होता है। फिर वे चलते नहीं।

(९) नाट्य-समीक्षा का स्तर बहुत ही अविकसित है। या तो गुटबाज आलोचक सामान्य को असामान्य बनाने में जुटे हैं, या अकादमिक आलोचक केवल नाम-सूचियाँ देते हैं। न वे नाटक पढ़ते हैं, न उनका मूल्यांकन करना जानते हैं। कोई भी हिन्दी का साहित्येतिहास उठाकर देख लीजिये, किसी में भी हिन्दी नाटक की आज की स्थिति पर, मंच की दृष्टि से या समूचे भारतीय नाट्य-साहित्य की दृष्टि से कोई विवेचन नहीं मिलेगा।

(१०) हिन्दी की पत्र-पत्रिकाएँ न एकांकी, न पूरा नाटक कुछ नहीं छापतीं। 'सांस्कृतिक समाचार' में कुछ जानकारी दे दी जाती है जो बहुत अनभिज्ञ और अविश्वसनीय होती है।

(११) नाटक के क्षेत्र में भी राजनीति और उसकी सब बुराइयाँ घुस आई हैं।

(१२) जो पाठ्यक्रम में नाटक पढ़ाये जाते हैं, उनका सर्वेक्षण किया जाये तो उसमें कोई परिवर्तन वर्षों से नहीं हुआ है। विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागों में (जो कम से कम साठ हैं, देश में) कितने नाटककार, नाट्य-विशेषज्ञ या मंच के जानकार हैं? बहुत कम हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में नाट्य-विभाग है, जैसे पंजाब या बड़ौदा, विश्वभारती या मैसूर में है। विक्रम में कालिदास नाट्य विभाग होना चाहिए, वाराणसी में भारतेन्दु आदि।

नाटककार भारतेन्दु : रंगमंचीय अभिज्ञा और प्रतिज्ञा

●

डॉ० ओम अवस्थी

रंगमंचीय अभिज्ञा का व्यवहार यहाँ मुख्य रूप से उस "थिएट्रिकल अवेयरनैस" के अर्थ में किया जा रहा है जो किसी रंग-नाटककार के कथ्य और कथन की द्वन्द्वशीलता में निरन्तर उपस्थित रहती है और जिसके कारण लिखित नाटक मंच-व्यापार में तब्दील होने की सम्भावनाओं को उजागर करता है।

हिन्दी का यह सौभाग्य था कि भारतेन्दु के रूप में उसे एक ऐसा 'आरम्भशूर' नाटककार मिला जिसने अपनी सम्पूर्ण नाट्य-कला को देश की नियति के साथ जोड़ा था। भारतेन्दु की अशेषता उनके नाटकों में है, उनकी कविता में नहीं।

कोई भी नाट्यकृति अथवा किसी भी नाट्ककार की विकसित रंगमंचीय अभिज्ञा अपना उद्देश्य आप बन कर सफल नहीं हो सकती। देखना यह होता है कि वह किस प्रतिज्ञा को समर्पित है। भारतेन्दु का सम्पूर्ण रंगबोध अपने जमाने के सामाजिक-राजनैतिक जीवन से अनेक स्तरों पर सम्बन्ध स्थापित करने की ललक से अभिप्रेरित है। नाटक और रंगमंच को इसीलिए उन्होंने एक महान् सामाजिक अनुष्ठान की गम्भीरता से ग्रहण किया था। महज चौंतीस वर्षों के अल्प जीवन-काल में विपुल काव्य और गद्य लिखने के अतिरिक्त सात छोटे-बड़े पूरे मौलिक नाटक, दो अधूरे मौलिक नाटक, एक अर्द्ध-मौलिक नाटक, चार नाट्य-संवाद, पाँच अनूदित नाटक, एक संशोधित नाटक और कुछ अन्य प्रकार की मंचोपयोगी झलकियाँ लिखकर उन्होंने अपने रचनाकार को अन्तरतम तक आलोड़ित करने वाली उस अदम्य सिसृक्षा को आकार दिया था जो हर हालत में देशवासियों से सम्बन्धित होना चाहती थी; उनकी सांस्कृतिक वास्तविकता, दासत्वकालीन दुर्दशा और विसंगतियों को नाट्य-मुकुर में दिखाना चाहती थी और उनमें सामाजिक परिवर्तन की उत्कट आकांक्षा को जगाकर उन्हें जातीय गौरव के अनुरूप बेहतर तथा स्वतंत्र बनाना चाहती थी। यही कारण है कि अपने लगभग सभी मुख्य नाटकों में उन्होंने कथ्य-चेतना के स्तर पर इस प्रतिज्ञा को बार-बार दोहराया है; इतना दोहराया है कि अगर इनमें रंगमंचीय अभिज्ञा और भाषिक प्रस्तुति की नवलता से उत्पन्न अपनी-अपनी रूपगत ताजगी न होती तो हमें लगता कि वास्तव में हम एक ही नाटक देख रहे हैं।

भारतेन्दु की नाट्यात्मक प्रतिज्ञा का मूल मन्तव्य 'भारत-दुर्दशा' (१८७६-७७ ई०) के मंगलाचरण में सूत्र रूप से समझा जा सकता है। इसमें उन्होंने नये युग के संस्थापक श्रीकृष्ण की अभ्यर्थना में लिखा है—"जय सतयुग-थापन-करन, नासन म्लेच्छ-अचार। कठिन धार तरवार कर, कृष्ण कल्कि अवतार।" यह पुराने ढंग का औपचारिक रूढ़ि निर्वाह नहीं है। इसके पीछे

नाटककार का रचनात्मक संकल्प तीन आयामों में मुखर होना चाहता है—सत्युग की स्थापना, म्लेच्छाचार अथवा नवयुग-विरोधी तत्त्वों का निदर्शन और तलवारधारी कृष्ण के कल्कि-अवतार का आवाहन। पहले का निहितार्थ है कि भारतेन्दु का युग भारतवासियों के लिए कलियुग है, विसंगतिपूर्ण है, त्रासद है, अश्रेयस्कर है और उसमें संगति, आत्मनिर्भरता तथा एकता का सत्युग लाने की परम आवश्यकता है। दूसरे की व्यंजना है कि भारतवर्ष में व्याप्त सभी असंगतियाँ—विदेशी शासन, गुलाम मानसिकता, निरुद्यमता और आपसी झगड़े व्यापक म्लेच्छाचरण की उपज हैं। तीसरे में संकेत है कि अनाचार के उच्छेदन और मानवीय मूल्यों की बहाली के लिए किसी क्रान्तदर्शी जननेता की आवश्यकता है। हालत इतनी खराब हो चुकी है कि परिवर्तन केवल एक कठिन-कठोर युगान्तकारी आन्दोलन द्वारा लाया जा सकता है। भारतेन्दु के सभी महत्त्वपूर्ण नाटक भारत-कल्याण के बीज-प्रयोजन के इन तीन बिन्दुओं से जुड़े हुए विचारों की मार्मिक व्याख्या करते हैं। इन विचारों में राष्ट्रीयता के अवरोधक और पोषक, दोनों प्रकार के अनेक तत्त्वों का रेखांकन भी उनके नाटकों में स्थान-स्थान पर होता रहता है।

जो लोग भारतेन्दु-युग के अन्तर्विरोधों को केवल भारतेन्दु के व्यक्तित्व पर थोप कर एक बन्द आधुनिकतावादी बँहस को उठाते हैं, वे उनके नाटकों में लेखकीय प्रयोजन के उक्त तीसरे आयाम, अर्थात् अँगरेज-विरोधी रुख के पक्ष की प्रामाणिकता पर आशंका व्यक्त करते हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने बहुत युक्तियुक्त ढंग से भारतेन्दु की अपने युग के साथ टकराहट को विश्लेषित किया है; फिर भी कुछ लोग तर्क दिए चलते हैं कि भारतेन्दु ने अँगरेजी-शासन का, विशेष रूप से महारानी विक्टोरिया का गुणगान कर राजभक्ति का परिचय दिया है, कि सन् सत्तावन की क्रान्ति का एक भी हवाला उनकी रचनाओं में नहीं मिलता, कि 'विषस्य-विषमौषधम्' नाटक (१८७६) में तो उन्होंने साफ निष्कर्ष दिया है कि भारतीय राजा म्लहार राव का राज्य हड़प कर अँगरेज सरकार ने एक अच्छा कर्म किया था। वास्तव में ये लोग पहली नजर में सब कुछ भाँप कर आरोप लगाने की जल्दबाजी के दोषी हैं।

आरोप लगाने वालों के गलत व्यवहार से स्वयं भारतेन्दु भी परिचित और पीड़ित थे। 'प्रेम जोगिनी' (१८७५) के प्रारम्भ में सूत्रधार परिपार्श्वक को बताता है कि उसका "प्रभु पर से विश्वास उठा जाता है और सच है क्यों न उठे, यदि कोई हो तब न उठे।" परिपार्श्वक पूछता है—"यहाँ ईश्वर का निर्णय करने आए हो कि नाटक खेलने आए हो?" सूत्रधार जवाब देता है—"क्या नाटक खेलैं, क्या न खेलैं!...क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बन्धु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एकमात्र मूर्ति, सत्य का एकमात्र आश्रय, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिन्दी का एक मात्र जनक, भाषा-नाटकों का एक मात्र जीवनदाता, हरिश्चन्द्र ही दुःखी हो?" फिर सूत्रधार मंच पर और नाटक में अनुपस्थित पात्र भारतेन्दु को सुनाकर कहता है—"ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत होकर भी इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे...मित्र, मैं जानता हूँ कि तुम पर सब आरोप व्यर्थ हैं। बड़ा विपरीत समय है।" "यह बड़ा विपरीत समय है" सारे मर्म और अन्तर्विरोधों को खोलता हुआ, भारतेन्दु के नाटकों में अनेक स्थलों पर अभिव्यक्त हुआ है।

नहीं भूलना चाहिए कि भारतेन्दु गुलाम भारत में रहकर अनेक प्रकार के दबावों में अपनी आवाज बुलन्द कर रहे थे। अगर मुसलमानों के और कम्पनी के शासन की तुलना में उन्होंने विक्टोरिया के जमाने में अधिक सुख-सुविधाओं के आबंटन की बात दो-चार जगहों पर की है, तो सैकड़ों प्रसंगों में उसी शासन से भारतीयों के मोहभंग का भी विडम्बनापूर्ण चित्रण

किया है। 'विषस्य-विषमौषधम्' ही में एक ओर यदि उन्होंने तर्क दिया है कि म्लहारराव खुद भारतीयता के नाम पर कलंक होने के कारण जहर से जहर को मारने के सुलूक का अधिकारी था, तो दूसरी ओर यह भी लिखा है कि "सन् १५६६ में जो व्यापार करने आए थे, आज स्वतन्त्र राजाओं को भी दूध की मक्खी बनाते हैं।" 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (१८७३) में जब कुकर्मी गृध्रराज को यमराज की कचहरी में पेश किया जाता है, तब चित्रगुप्त शिकायत करता है कि "महाराज! सरकार अंग्रेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार करता है, उसको 'स्टार ऑफ इण्डिया' की पदवी मिलती है।" इस राजा को कोड़े लगाये जाते हैं और अंधतामिस्र नामक नरक में भेजा जाता है। उसके लोलुप मंत्री को भी कड़ी सजा दी जाती है और चित्रगुप्त उसे क्रोध से कहता है—"अरे दुष्ट! यह भी क्या मृत्युलोक की कचहरी है कि तू हमें घूस देता है और क्या हम लोग वहाँ के न्यायकर्ताओं की भाँति जंगल से पकड़ कर आए हैं कि तुम दुष्टों के व्यवहार नहीं जानते?" यह जंगल का न्याय अँगरेज का नहीं तो किसका है? मृत्युलोक की कचहरी की ओट में नव-स्थापित अँगरेजी हाईकोर्ट पर नहीं तो किस पर व्यंग्य कसा गया है? 'भारत-दुर्दशा' में भारत-दुर्दैव का सारा दलबल अँगरेजों की नहीं तो किसकी कूटनीति को प्रतीकों में व्यंजित करता है? इसी नाटक में 'कविवचन सुधा' को जब्त करने का भण्डाफोड़ किसके विरुद्ध किया गया है? 'अंधेर नगरी' (१८८१ ई०) में तो भारतेन्दु और भी बेबाक हो कर लिखते हैं—'चना हाकिम सब जो खाते, सब पर दूना टिकस लगाते।' 'पाँचवें पैगम्बर' (एकालाप) का चूसा स्पष्ट घोषणा करता है कि भारतीय पूँजी को चूसने के कारण ही उसका नाम सार्थक है और कोहचूर पर ही उसका निवास है क्योंकि वह भारतवासियों के धन-बल को चूर करके वहाँ ले जाता है। वह भारतवासियों को बड़ी कुटिलता से सीख देता है—"देखो! शराब पियो······, लव करना सीखो, स्पीच दो, क्रिकेट खेलो···, दरबारदारी करो···, पूजा-पजी करो···, पोशाक सब तंग रखो···।" 'प्रेम जोगिनी' में भारतेन्दु ने एक परदेशी द्वारा काशी नगरी की पहले भर्त्सना करवाई है और फिर सुधाकर के मुख से उसी नगरी की गौरव-गाथा सुनवा कर भारतवर्ष ही के वर्तमान और अतीत की विषमता को दिखाया है। जहाँ उन्हें दुःख है कि "भूखे पेट कोई नहीं सुनता, ऐसी है ई कासी···, दाल की मंडी रंडी पूजैं, मानो इनकी मासी"—वहाँ तनिक संतोष भी है कि "अब भी बाबू हरिश्चन्द्र इत्यादि गुणग्राहक इस नगर की शोभा की भाँति विद्यमान हैं" 'अंधेर नगरी' में गोवर्धनदास का गीत विदेशी सरकार पर बहुत ही आक्रामक कटाक्ष करता है—'अंधाधुंध मच्यौ सब देसा, मानहुँ राजा रहत बिदेसा।' अब अगर कुछ लोगों का असल एतराज यह हो कि भारतेन्दु ने पिस्तौल क्यों नहीं पकड़ी, तब बात दूसरी है। वरना सच यह है कि जिस ऊँचाई पर जाकर उन्होंने अपने अभिजात वर्ग और व्यवस्थावादी आनुवंशिक संस्कारों को सामान्य जन की चिन्ता के व्रत में अतिक्रमित किया था, वह ऊँचाई प्रत्येक युग के साहित्यकार के लिए स्पृहणीय हो सकती है।

भारतेन्दु का रचना-काल भारतवर्ष में साम्राज्यवाद के प्रारम्भ (१८६०-१८९७ ई०) का समय कहलाता है। यह वह काल-खण्ड था जिसमें ब्रिटेन भारतीय व्यापार को उपनिवेशवादी मानसिकता से अपनी आर्थिक दृढ़ता के हित में इस्तेमाल कर रहा था। अमरीकी गृहयुद्ध (१८६२-६५) की वजह से भारत ही उसके लिए कपास और खाद्यान्न के निर्यात का मुख्य भण्डार रह गया था। अतः सन् १८६०-६८ के बीच भारतीय कपास पहले से तीन गुनी अधिक मात्रा में बाहर जाने लगी थी, लेकिन अमरीकी गृहयुद्ध की समाप्ति पर उसके भाव भी अप्रत्याशित रूप से गिरा दिए गए थे। भारत की उस ८० प्रतिशत निर्यातित कपास से जो महँगा कपड़ा

बन कर आता था, या उसके बदले में जो कीमती माल खरीदा जाता था, उसकी आवक लगभग छह गुना बढ़ गई थी। बढ़ती हुई महँगाई के अतिरिक्त अकाल और अनावृष्टि की मार अलग पड़ रही थी। इसके बावजूद ग्रामीण जनता पर नये टैक्स लगाये जा रहे थे। कुछ ही वर्षों में भूमि-कर की प्रति-वर्ष वसूली साढ़े तीन करोड़ से तकरीबन साढ़े आठ करोड़ रुपये तक उठ गयी थी। किसान और आम आदमी की हालत बहुत बुरी होती जा रही थी। उधर भारत का व्यापारी वर्ग महाजनी जमात में बदलता जा रहा था और गरीब किसानों से सस्ते मूल्य पर जमीनें खरीद कर जमींदारों के तबके में भी शामिल हो रहा था। गेहूँ की पैदावार के लिए प्रसिद्ध अकेले पंजाब ही में सन् १८७०-७५ तक लगभग ५० प्रतिशत कृषि-भूमि इस नव-धनाढ्य वर्ग के पास रहन पड़ चुकी थी और असंख्य किसान महज़ मुज़ारे बन गये थे। गैर-कृषि क्षेत्रों में अंगरेजी पूँजी का निवेश निरन्तर बढ़ रहा था। चाय, कॉफी, रबड़ आदि की पैदावार के अलावा खदानों, फैक्टरियों और अधिकांश कपड़ा-मिलों पर उसी पूँजी का कब्जा था। बिचौलिये सौदागरों की चाँदी थी। शोषण की इस व्यवस्था में नवोदित मजदूर वर्ग की हालत बहुत पतली थी जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय अन्तर्विरोध खुल कर सामने आने लगे थे। मजदूर दिन में सोलह घण्टे काम करता था, फिर भी भूखा मरता था। रेलें बिछ रही थीं, फिर भी कच्चे माल के उत्पादकों को लाभ नहीं हो रहा था। अँगरेजी भाषा के सम्पर्क से नयी रोशनी आ रही थी, फिर भी दिलों में अंधकार बढ़ रहा था। निज भाषा के महत्त्व को रेखांकित किया जाने लगा था, फिर भी हिन्दी और उर्दू आपस में लड़ रही थीं। अखबार छप रहे थे, फिर भी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश था। इस सब के कारण देश में एक व्यापक असंतोष था जो सन् १८५७ की क्रान्ति के सबक के कारण निराशा और निष्क्रियता में गहरा रहा था। कुछ जगहों पर किसान मजदूरों के आन्दोलनों ने सिर भी उठाया था, मगर अपने लोग ही इन अपनों का दमन करने के माध्यम बन गये। यह सांस्कृतिक अधःपतन का सबसे भयानक युग था। शासन के साथ जुड़े हुए कुछ शिक्षित लोग अँगरेजी तौर-तरीके की नकल में अपनी शान समझ रहे थे, अपठित सम्पन्नों को वैसे भी सांस्कृतिक मूल्यों से कोई सरोकार नहीं था और भारी गिनती वाले निम्न-वर्गीय भारतवासी भाग्यवाद, परिश्रमहीनता, अंधविश्वासों, धार्मिक झगड़ों और अनेक प्रकार की कुरीतियों का शिकार होकर बाहर-भीतर से टूट-बिखर रहे थे।

इसी विगलित वस्तु-स्थिति की पृष्ठभूमि पर भारतेन्दु ने अपने नाटक रचे और दिखाये थे। 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी', 'प्रेम जोगिनी' आदि दस्तावेजी नाटकों के पीछे उनके प्रत्यक्ष अनुभवों का साक्ष्य है। वे आठ वर्ष के थे जब ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक ऐक्ट की तहत ईस्ट इण्डिया कम्पनी को खत्म कर दिया था और ग्यारह वर्ष के थे जब प्रथम अँगरेज वाइसराय लॉर्ड कैनिंग के शासन-काल में हाईकोर्ट की स्थापना हुई थी। इस परिवर्तन से भारतवासियों को अधिकार और न्याय मिलने की आशा थी, लेकिन भारतेन्दु ने आशा को धीरे-धीरे दम तोड़ते हुए देखा था। प्रथम, जनवरी, १८७७ को महारानी विक्टोरिया को विधिवत् भारत की साम्राज्ञी घोषित किया गया, मगर भारतेन्दु को यह समझने में देर न लगी कि सात समन्दर पार बैठी राजरानी तक भारतवासियों की समस्याएँ ठीक ढंग से कभी नहीं पहुँच सकतीं। इस समय वे अपने रचना-कर्म में प्रवृत्त हो चुके थे। अपने रचना-काल में उन्होंने लॉर्ड लिटन और लॉर्ड रिपन के शासन में हिन्दू-मुस्लिम टकराहटों को पनपते हुए भी देखा था और कुल मिलाकर वे देश की बिगड़ती हुई हालत से बहुत चिन्तित थे। वे बंगाल में बंकिमचन्द्र चटर्जी की क्रान्ति-कारिता से भी परिचित थे, पूना की सार्वजनिक सभा से प्रभावित थे, तिलक की 'केसरी' पत्रिका भी उनकी नजरों से गुजरती थी, अपने प्रथम नाटक 'वैदिकी हिंसा' में उन्होंने दयानन्द स्वामी

के सुधारवाद का भी समर्थन किया था—मगर इस सब के बावजूद उनकी वैष्णवी आस्था बहुत हताश थी। उनके नाटकों में निराशा की मुखरता से पता चलता है कि व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक व्यवहार में अनेक परिवर्तनदारी कदम उठा कर भी वे शीघ्र ही किसी बड़े परिवर्तन के आगमन के विषय में आश्वस्त नहीं थे। निकट भविष्य में अपने देश के सुनिश्चित जागरण के सम्बन्ध में अगर वे बहुत दूर तक आशावादी नहीं थे, तो इतने निराश भी नहीं थे कि अंधकार को चीर कर फूटने वाली किरणों के प्राकृतिक और ऐतिहासिक विधान पर से उनका विश्वास उठ जाता। इसीलिए उनकी नाट्यात्मक प्रतिज्ञा बहुत अपराजेय थी। कुछ विद्वानों की धारणा है कि दु:खान्त 'भारत-दुर्दशा' में भारत की अटूट मूर्च्छा और भारत-भाग्य की आत्महत्या में भारतेन्दु की यह प्रतिज्ञा खण्डित हुई है। यह बात नहीं है। नाटक के इस अन्त से उल्टा यह सिद्ध होता है कि देश की पहचान से ही देशवासियों की पहचान बनती है कि देश नहीं तो हम भी नहीं हो सकते।

एक निर्धारित लक्ष्य की अनुपालना में रंग-नाटक लिखकर भारतेन्दु ने रंगमंच को अपने देश के लोगों से अपील करने का अधिकतम प्रभावशाली और चित्ताकर्षक प्लेटफार्म बनाना चाहा था। उनसे पहले का हिन्दी साहित्य इस तरह की जागरूक और दायित्वपूर्ण भूमिका निभाने में अक्षम रहा था। उसका ध्यान नारी के रोमानी या भोग्या रूप पर अधिक टिका रहा और संगठित युवा-शक्ति तो उसके परिवृत्त में कभी नहीं आ सकी थी। भारतेन्दु ने पहली बार भारत की शोषिता नारी और दिशाहीन युवकों को ईमानदारी से झंझोड़ने का काम बड़ी कुशलता से सम्पन्न किया। इन प्रसंगों में उनकी लेखनी और भी धारदार नजर आती है। उनका 'नील देवी' (१८८१) नारी-जागरण के उन प्रारम्भिक स्वरों को उभारता है जिनका परिपाक प्रेमचन्द के उपन्यासों में और एक सीमा तक प्रसाद के नाटकों में जाकर हुआ। नील देवी जब पति-वध और वासना-भरे अपमान का बदला लेने के लिए छद्म रूप धारण कर अमीर की मजलिस में पहुँचती है, तब अपना नाम 'चण्डिका' बताती है और चतुराई से उसकी छाती में छुरा घोंप कर कहती है—"ले चाण्डाल पापी! मुझको जान साहब कहने का फल ले, महाराज के वध का बदला ले।" उस नाटक की भूमिका में भारतेन्दु ने दुर्गा-पाठ दिया है, अँगरेजी में नील देवी की काव्य-प्रशस्ति जोड़ी है और "मातृ भगिनी सखी तुल्या आर्य ललनागण" से २५ दिसम्बर, १८८१ को बड़े दिन के पर्व पर सीधी अपील की है जो एक प्रकार से उनके नाट्यात्मक संकल्प का घोषणा-पत्र है। यह अपील भारतेन्दु की नयी और प्रगतिशील विचारणा का खूबसूरत हिस्सा है। इसमें भारतीय नारी को पाश्चात्य नारी की आत्म-पहचान अपनाने को कहा है और भारतीय कुल-परम्परा को नारी के लिए अहितकर ठहराया है। इसका सार यह है कि जब वे "अँगरेजी रमणी लोग" को स्वतंत्रता की दशा में देखते हैं, तब उन्हें "इस देश की सीधी-सीधी स्त्रियों की हीन अवस्था स्मरण आती है।" वे स्पष्ट करते हैं कि उनका आशय यह नहीं कि भारतीय नारी अँगरेज नारी की भाँति लज्जा को तिलांजलि दे। उनका मन्तव्य यह है कि इस देश की नारियाँ मनुष्य-जीवन को गृहदासता और कलह में न खोकर अपना स्वत्व पहचानें, अपनी जाति और अपने देश की सम्पत्ति को समझें। भारतेन्दु यह भी लिखते हैं कि "इस उन्नति पथ की अवरोधक हम लोगों की वर्तमान कुल-परम्परा मात्र है, और कुछ नहीं है।" इसी प्रकार 'सत्य हरिश्चन्द्र' (१८७६) की लम्बी भूमिका के आरम्भ में उन्होंने स्वीकार किया है कि यह नाटक मित्र बालेश्वर प्रसाद की प्रेरणा से लड़कों को पढ़ने-पढ़ाने के उद्देश्य से लिखा गया है। अपने प्रसिद्ध बलिया-भाषण में नव राष्ट्र-निर्माण की इन दोनों शक्तियों पर भारतेन्दु ने विशेष बल दिया है। अतः इस विषय में कोई भ्रम

नहीं रह जाता कि अतीत-स्मरण, वर्तमान-निन्दन और नव-प्रशिक्षण के झरोखों से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नाटक और रंगमंच को भारतीय मानस की मुक्ति के औजार के रूप में देखते थे।

नाट्य-प्रतिज्ञा से हटकर नाट्य-प्रस्तुति के व्यावहारिक पक्ष को केन्द्र में रखें, तो किसी नाटककार की रंगमंचीय अभिज्ञा की तलाश इस संदर्भ में अनिवार्य हो जाती है कि उसे अपने जमाने में कौन-सा रंगमंच उपलब्ध था, इस रंगमंच पर किस प्रकार के नाटक खेले जाते थे, उन नाटकों की सामाजिक स्थिति और मूल अभिरुचि कैसी थी और स्वयं नाटककार ने अपनी वैचारिक संकल्पना का निर्वाह करते हुए उस रंगमंच को किस दिशा में विकसित करना चाहा था?

जहाँ तक भारतेन्दु का सवाल है, उनके युग ने उन्हें कोई भी आदर्श रंगमंच प्रदान नहीं किया था; जो थोड़ा-बहुत किया भी था, वह या तो स्वस्थ होकर भी बहुत अपर्याप्त था, या फिर अस्वस्थ, असाहित्यिक और नितान्त अविश्वसनीय था। स्वयं भारतेन्दु ने 'नाटक' नामक निबंध में स्वीकार किया है कि हिन्दी या भाषा में वास्तविक नाटकाकार ग्रन्थों की सृष्टि का इतिहास उनके जीवन-काल के सातवें वर्ष से पुराना नहीं है और 'नहुष' तथा 'शकुन्तला' के बाद हिन्दी का जो तीसरा नाटक प्रकाश में आया, वह उनका अपना 'विद्यासुन्दर' था जिसे उन्होंने सन् १८६६ में छायानुवाद के रूप में लिखा था। इसलिए जब खड़ीबोली हिन्दी में भारन्तेदु से पूर्व नाटकों की रचना ही न के बराबर थी, तब हिन्दी के किसी साहित्यिक रंगमंच से उनके अभिप्रेरित होने का सवाल ही नहीं उठता। वास्तव में हिन्दी में स्तरीय नाट्य-लेखन की तरह गम्भीर और अनुकरणीय नाट्य-मंचन के आन्दोलन के शुभारम्भकर्ता भी वे स्वयं ही थे। उनका मत है, और डॉ० अज्ञात को छोड़कर रंगमंच के लगभग सभी अध्येता इस बात से सहमत हैं कि साधु हिन्दी का पहला अभिनीत नाटक शीतलाप्रसाद त्रिपाठी कृत 'जानकी-मंगल' था जो काशी के प्रसिद्ध रईस ऐश्वर्यनारायण सिंह की प्रेरणा से वहीं के थियेटर रॉयल में ३ अप्रैल, १८६८ को खेला गया था और जिसमें भारतेन्दु ने लक्ष्मण की भूमिका में उतरकर अभिनय-कला पर स्वाभाविक पकड़ के लिए दर्शकों से सराहना प्राप्त की थी। जाहिर है कि भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित हिन्दी रंगमंच का स्वरूप सांस्कृतिक था, वह सामान्य जनता को मनोरंजन के माध्यम से आत्मवास्तवीकरण का अवसर प्रदान करने के प्रयोजन से प्रेरित था, वह युग की जरूरतों के साथ जुड़ा हुआ था, उस पर शब्दकार भी सामूहिक अनुष्ठान में प्रतिभाग लेता था और वह प्रस्तुति-तंत्र की खर्चीली बारीकियों में न उलझकर सादगी से अपनी बात कहने में विश्वास रखता था। यह जान कर सुखद आश्चर्य होता है कि भारतेन्दु अपने जीवन के अठारहवें वर्ष में 'जानकी-मंगल' की बनारस वाली प्रस्तुति से लेकर जीवन के अन्तिम वर्ष में बलिया के ददरी मेले में 'सत्य हरिश्चन्द्र' की प्रस्तुति तक रंगमंचीय गतिविधियों का अटूट हिस्सा बने रहे। उन्होंने 'नील देवी' के पागल और 'पाँचवें पैगम्बर' के चूसा के रोल भी खुद किये थे। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के इस मंचन में भी उन्होंने ही हरिचन्द्र की भूमिका निभाई थी और राधाकृष्ण दास तथा रविदत्त शुक्ल को भी मंच पर उतारा था। इसका रंगमंच बहुत सादा था, केवल कुछ कपड़े तानकर नेपथ्य को अभिनय-स्थल से अलगाया गया था और दृश्य-परिवर्तन के लिए भी अन्य पर्दों का उपयोग नहीं किया गया था।

सन् १८६८ और १८८४ की इस छोटी-सी अवधि में उनके अधिकांश नाटकों का अभिनय काशी-नरेश की सभा के बाहर भी कानपुर, प्रयाग, बलिया, डुमराँव, आगरा, बनारस के अन्य

स्थानों तथा अनेक दूसरे नगरों में होने लगा था। भारतेन्दु की प्रेरणा से अनेक समकालीन नाटककारों ने रंगमंच की माँग पर मंगलकारी नाटक लिखे। वे स्वयं भी विद्वान् मित्रों, अभिनेताओं और नाट्य-संरक्षकों के स्वस्थ आग्रह पर मंचोपयोगी और जनहितकारी नाटक लिखकर हिन्दी के नये रंग-आन्दोलन का प्रवर्तन कर रहे थे। इस आन्दोलन के प्रति उनकी निष्ठा इतनी गहरी थी कि वे अक्सर स्वाँग धारण करके अपनी मण्डली के मित्रों को पुलकित ही नहीं करते थे, बल्कि नाटक और रंगमंच को जीवन में भी उतारते थे। उनके द्वारा स्थापित 'पेनी रीडिंग क्लब' इस प्रकार की स्वाँगात्मक गतिविधियों का केन्द्र हुआ करता था। उनके संरक्षण में बनारस के 'कुछ बंगालियों और हिन्दुस्तानियों ने दशाश्वमेध के पास 'हिन्दू नेशनल थियेटर' नाम की रंग-संस्था आरम्भ की थी जिसके लिए उन्होंने 'अंधेर नगरी' नामक प्रतिबद्ध प्रहसन एक ही दिन में लिख डाला था। रामदीन सिंह के अनुसार भारतेन्दु ने महाराष्ट्री और पारसी रंगमंच पर प्रचलित 'अंधेर नगरी' की विशुद्ध मनोरंजनात्मक कथा को उत्तम शिक्षा, उदात्त काव्य-कल्पना और रंगमंचीय सम्बद्धता से समन्वित करने के उद्देश्य से ही नवीन नाटक के रूप में प्रस्तुत किया था। उनके बहु-आयामी सद्प्रयासों को देखकर अन्य नगरों में भी हिन्दी की अपनी रंग-संस्थायें खुलने लगी थीं। नाट्य-कर्म को प्रोत्साहन और ठीक दिशा प्रदान करने के लिए उन्होंने फरवरी, १८७२ की 'कविवचन-सुधा' में एक नाट्य-प्रतियोगिता घोषित करने की पहल भी की थी। इस प्रकार उनकी तमाम रचनात्मक शक्ति मुख्य रूप से हिन्दी के अव्यावसायिक, कलात्मक और 'आर्यशिष्टजनोपयोगी' रंगमंच के निर्माण और विकास पर केन्द्रित थी।

इस बात पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है कि यह 'आर्यशिष्टजनोपयोगी रंगमंच' भारतेन्दु की अपनी रचनात्मक कल्पना और सामाजिक सरोकारी की नयी उपज था। वे किसी भी पूर्व विद्यमान रंगमंच के अनुकर्ता न होकर, एक बहुत बड़े प्रयोग-पुरुष थे। नाट्य-सम्बन्धी उनके उपर्युक्त उद्यम से सिद्ध हो जाता है कि उनके सामने एक खुले और सर्वजनग्राह्य रंगमंच की मौलिक परिकल्पना थी जो केवल बन्द प्रेक्षागृहों पर निर्भर न होकर मेलों, उत्सवों और जनता के संवाद-स्थलों पर, बिना किसी औपचारिक ताम-झाम के, सरलता से नाटक खेलने के काम आ सके।

चूँकि भारतेन्दु अपनी प्राचीन नाट्यशास्त्रीय परम्परा से बहुत प्रभावित थे और भारत को नाट्य का प्राचीनतम देश मानते थे, इसलिए संस्कृत नाटक और रंगमंच के ह्रास के बावजूद अपने नूतन रंग-प्रयोगों में वे उसी की प्रस्तुति-शैली की ओर सर्वाधिक उन्मुख हुए। इस उन्मुखता का कारण शास्त्रीय मोह नहीं था। उन्होंने साफ स्वीकार किया कि भरत के 'नाट्यशास्त्र' में बहुत कुछ ऐसा है जो आज के रंगमंच और नाट्य-विधान के सन्दर्भ में ग्राह्य नहीं है, मगर बहुत कुछ ऐसा भी है जो समकालीन रंग-सृष्टि के लिए शक्ति का स्रोत बन सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत नाट्य-पद्धति ने उन्हें तीन मुख्य कारणों से आकृष्ट किया था। पहला कारण उसका वह आधारभूत सामर्थ्य है जो रंगमंच पर लेखक, प्रस्तोता, अभिनेता और दर्शक को एक विलक्षण साझेदारी में बाँधता है और जिसे भारतेन्दु अनुभव का "काव्यमिश्रित" स्वरूप कहकर शीर्षस्थ मानते थे। दूसरा कारण उसमें नाटकीय समस्या को उपस्थापन से लेकर निष्कर्ष तक पहुँचाने की क्षमता है और तीसरा कारण यह है कि भारतेन्दु को उसमें प्रयोग तथा नवीकरण की प्रचुर सम्भावना नज़र आती थी। इन तीनों कारणों के परिणामों को भारतेन्दु के नाटकों से उदाहरण देकर गिनाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ये तीनों उनकी रंग-प्रक्रिया के अनिवार्य

घटक हैं। यहाँ केवल यही कहना अभीष्ट है कि विविधता की दृष्टि से प्रहसन, भाव, नाटक-नाटिका, नाट्यरासक, अंक, वीथी, व्यायोग, सट्टक आदि प्राचीन नाट्य-रूपों को लेकर भी उन्होंने न तो इनके ढाँचे को पूरी तरह स्वीकार किया है, न इनकी अन्तर्वस्तु के बन्धनों को, न इनकी वर्जनाओं को और न इनकी सम्पूर्ण रंग-युक्तियों को। उनका सूत्रधार मंच पर आता है, तो एक नया सूत्रधार लगता है; वह एक ऐसा 'रंगरेज' है जो नाट्य-रूढ़ियों के परे जाकर केन्द्रीय विचार-वस्तु या समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में स्थापित करता है, ताकि दर्शक लोग नाटकीय मनोरंजन ही में गुम न होकर नाटक के बाहर भी रहें और विषय को गम्भीरता से पकड़ सकें। कभी वह नाटककार की आलोचना करता-करवाता है और यहाँ तक कहलवा लेता है कि भारतेन्दु नौसिखिये को नाटक लिखना कहाँ आता है; कभी वह कहता है कि संस्कृत नाटकों के बासी अनुवाद के स्थान पर एक "नया नाटक" लेकर आया है जिसका आज मंच पर 'प्रयोग' करने जा रहा है और कभी वह बहुत तीखेपन से दर्शकों की युग-चेतना को भी कुरेदता है। बातों-बातों में ही वह यह भी बता देता है कि अमुक अभिनेता अमुक पात्र की भूमिका में उतर रहा है और शेष पात्रों का अभिनय करने वाले कलाकारों की तैयारी को भी उसे देखना है।

रंगमंच पर हास्य अथवा विनोद की कलात्मक और उद्देश्यपूर्ण सृष्टि को जिस बारीकी से भारतेन्दु ने समझा था, उस बारीकी से हिन्दी के बहुत कम नाटककार समझ सके हैं। विदूषकत्व की परिकल्पना को तो उन्होंने इतना बड़ा आयाम दिया है कि संस्कृत का परम्परागत विदूषक उनके यहाँ अपनी संज्ञा, संख्या, नायक-निर्भरता, हल्की-फुल्की मोदकता आदि को छोड़ कर पूरी प्रस्तुति के व्यंग्यात्मक और कई बार आक्रामक स्वर में बदल जाता है। यह आश्चर्य का विषय है कि उनके विदूषकाभासी पात्र अनेक बार मंच पर अपनी ऊलजलूल भाषा और हरकतों से अकथनीय को इस प्रकार कथनीय बना कर सम्प्रेषित करते हैं कि बहुत बाद में लिखे जाने वाले विसंगत नाटकों के बिम्ब उभरने लगते हैं। 'नीलदेवी' में पागल पात्र की स्वरूपगत और भाषिक अवतारणा में अनायास ही भुवनेश्वर का 'ताँबे के कीड़े' का झुनझुने वाला बहुत पहले से ही हिन्दी नाटक में दिखायी देने लगता है। इसका मतलब यह नहीं है कि हम किसी भी प्रकार से भारतेन्दु के नाटकों को विसंगत नाट्य की उद्भावना या परम्परा से जोड़ कर देखने की ग़लती करें; इसका मतलब यह है कि भारतेन्दु को नाट्य-विधा में कथ्य और कथन की एकता पर स्वाभाविक पकड़ थी। 'नीलदेवी' ही का चपरगट्टू खाँ, पीकदान अली और यहाँ तक कि अमीर भी, सब मिलकर नाटक के हास्यास्पद दीखने वाले मंच-व्यापार को अजीब-सी त्रासद विडम्बना में ढालने लगते हैं। इसी प्रकार 'प्रेम जोगिनी' में झटपटिया, टेकदास और बालमुकन्द की वर्गीय स्थिति भी विदूषकत्व या 'जेस्टर' के नये, मगर ऐसे प्रामाणिक प्रयोग के भीतर से उभारी गयी है जो आज के नुक्कड़ नाटकों के बहुत निकट पड़ता है। ये लोग स्त्रियों से लेकर 'अंधरी मजिस्टरों' (ऑनरेरी मजिस्ट्रेटों) तक को अपने व्यंग्य से छील डालते हैं। अगर संस्कृत की रूपक-पद्धति पर भारतेन्दु द्वारा किए गए अपने नाटकों के विधात्मक नामकरण पर विचार करें, तो प्रहसन के अन्तर्गत उनके 'वैदिकी हिंसा' और 'अंधेर नगरी' को ही रखा जा सकता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि उनका कोई भी नाटक प्रहसन की आत्मा से रहित नहीं है। संस्कृत का यह नाट्य-रूप उन्हें इसलिए सर्वाधिक पसंद था क्योंकि शास्त्रीय अर्थ में भी इसके शुद्ध और संकीर्ण नामक दोनों प्रकारों में समकालीन समाज के आडम्बरों और पाखण्डों के प्रति उपहास-मिश्रित व्यंग्य का भाव वर्तमान रहता है। भारतेन्दु जानते थे कि रंगमंच पर अभिनय की खुली छूट और लोकप्रियता

प्रदान करने वाला यह नाट्य-रूप सामाजिकता के गुण में भी सब से आगे होता है; इसीलिए उन्होंने अपने नाटकों में इसका खूब इस्तेमाल किया है।

संस्कृत नाटकों की किताबी प्रस्तुति-पद्धति के अतिरिक्त नाटककार भारतेन्दु को प्रत्यक्ष और समकालीन रंगमंच के रूप में पारसी थियेटर मिला था जो अभी अपने उद्भव-काल (१८५३-१९०० ई०) के प्रथम चरण में था और बम्बई में २६ नवम्बर, १८५३ को 'हिन्दी ड्रामैटिक कोर' के तत्त्वावधान में खेले गए पहले हिन्दुस्तानी ड्रामा 'राजा गोपीचंदर' से लेकर १८८४-८५ तक कुछ अन्य कम्पनियों के रूप में व्यावसायिक स्तर पर फैल रहा था। इसके अन्तर्गत सन् १८६१ में स्थापित 'एल्फिस्टन नाटक मण्डली', १८६७ में स्थापित 'विक्टोरिया नाटक कम्पनी' और १८७१ में स्थापित तथा १८८४ में विस्तारित 'अल्फ्रैड नाटक कम्पनी' भारतेन्दु के जीवन-काल की मुख्य पारसी रंग-संस्थाएँ थीं। ये संस्थायें अधिकांशतः उर्दू-फारसी और हिन्दुस्तानी की कुछ प्रचलित कथाओं को हल्के-फुल्के रूप में मंच पर पेश किया करती थीं। चूँकि इनके मालिक पारसी लोग थे, इसलिए जनता ने इन्हें पारसी थियेटर का नाम दिया था। भारतेन्दु इस थियेटर को 'भ्रष्ट' कहते थे और उनकी मण्डली के अन्य नाटककार भी इसके कट्टर विरोधी थे। जो शिकायत बाद में 'अंधा युग' के सर्जक को पृथ्वी थियेटर से रही है, कुछ वैसी ही शिकायत लगभग सौ वर्ष पूर्व भारतेन्दु को पारसी रंगमंच से थी। भारती के अनुसार पृथ्वी थियेटर में सब कुछ था, बस नाटक ही नहीं था। भारतेन्दु की नापसंदगी कुछ ज्यादा व्यापक थी। पारसी रंगमंच पर धनोपार्जन की लालसा से विशुद्ध मनोरंजनात्मक नाटक खेलना, लोकनाट्य-परम्पराओं को विकृत से विकृततर रूप से इस्तेमाल करना, विदेशी अंधानुकरण करना, संस्कृत के अच्छे-भले नाटकों को बिगाड़ देना, अँगरेज़ों के इशारे पर चलना, सस्ती इश्कबाज़ी तथा रोमांचकता के अतिरिक्त व्यर्थ की तड़क-भड़क को प्रश्रय देना आदि उन्हें बहुत नागवार गुज़रता था। वे लिखते हैं—"काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुन्तला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यन्त खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा, तब डॉक्टर थिबो, बाबू प्रमदादास मिश्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालीदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं। यही दशा बुरे अनुवादों की भी होती है।" लेकिन इस चिढ़ के बावजूद भारतेन्दु ने भटके हुए बहुसंख्यक भारतीय दर्शकों को अपने 'आर्यशिष्ट' रंगमंच की ओर खींचने के लिए पारसी थियेटर की प्रस्तुति-शैली के कुछ लोकप्रिय तत्त्वों को परिष्कृत रूप में अपने साहित्यिक नाटकों में प्रयोग के धरातल पर समन्वित किया। पारसी रंगमंच की तरह उन्होंने भी अभिनेता को आत्यन्तिक केन्द्र में रखा, लेकिन उसके उच्चरित कार्य-व्यापार को निरर्थक तुकबन्दी और कृत्रिमता से मुक्त किया, उसकी देखने-चलने-मुड़ने आदि की हरकतों को मंच के आवश्यक नियमों से अनुशासित किया और उसे नाटक के पात्रों से विचलन की मनमानी छूट न देकर उनको कलात्मक पुनस्सृष्टि का मार्ग भी दिखाया। भारतेन्दु के भी कई पात्र नाचते-गाते हुए मंच पर प्रवेश करते हैं, मगर इस प्रवेश में नृत्य-गान के प्रति हल्का या अतिरिक्त आग्रह न होकर पात्रों का आत्म-परिचय ही प्रधान है। पारसी रंगमंच पर हारमोनियम वाला या पेटीमास्टर हमेशा एक कोने में विराजमान रहता था, भारतेन्दु ने उसे नेपथ्य में भगा दिया, मगर मंच पर गीत-ग़ज़ल के गायन की पारसी तर्ज़ में विषयानुकूल विचारों को इस प्रकार निबद्ध किया कि प्रस्तुति में रोचकता और ताज़गी के साथ वातावरण की गम्भीरता भी बनी रहे। उनके दस मौलिक-अर्द्धमौलिक नाटकों में केवल

दो-तीन ऐसे हैं जिनमें ग़ज़लों का उपयोग हुआ है, लेकिन वह उपयोग पात्रों के संस्कारों से हट कर नहीं है। फिर भी भारतेन्दु कहीं-कहीं अन्तर्विरोध से बच नहीं पाते और 'चन्द्रावली' की वन-देवी मंच पर सीटी बजाने का फायदा उठा लेती है, 'वैदिकी हिंसा' का मंत्री भी "कि साकी हाथ में मै का लिए पैमाना आता है" गा उठता है और अन्य नाटकों में कितने ही स्थलों पर मसनवी शैली भी मुँहज़ोर हो उठती है। लम्बे एकालापों और संवादों की योजना, अभिनय में संवादों की अदायगी पर अत्यधिक बल देना, नीरसता को चुटकलों, चुहुलबाज़ी, प्रसिद्ध उद्धरणों, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि से दूर करने का प्रयास करना, सम्बोधनों में, विशेष रूप से प्रेम-सम्बोधनों में अत्यधिक भावुक और बाज़ारू हो जाना, कौतूहल को चमत्कार की सीमा तक खींचना आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके मूल में पारसी रंगमंच का प्रभाव साफ नज़र आता है।

भारतेन्दु-कालीन रंगमंच के अन्तर्गत लखनऊ का रंगमंच भी मनोरंजन-कामी दर्शकों के लिए बहुत आकर्षक और दिलफरेब था। वहाँ सैयद आगा हसन 'अमानत' लखनवी की 'इन्दर सभा' को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। सन् १८५७ के आसपास रचित यह रचना स्वतन्त्र रंगमंच की ख्याति अर्जित कर चुकी थी। इसकी देखा-देखी बहुत-सी इन्दर-सभाएँ लिखी और खेली जा रही थीं। लखनऊ के बाहर भी पारसी-गुजराती तथा मराठी रंगमंच पर इसके प्रयोग किये जा रहे थे। देश की कुछ भाषाओं के अतिरिक्त जर्मन और फ्रेंच में भी इसके अनुवाद या रूपान्तर हुए थे। यह एक प्रकार का संगीतक था जिसमें हिन्दू देवता को इस्लामी पद्धति से पेश किया जाता था। इसके मंचन को जलसा कहा जाता था जिसमें केवल एक पर्दा गाड़कर उसके आगे राजा इन्दर के लिए एक तख्त और परियों के लिए कुर्सियाँ रख दी जाती थीं, फिर राजा इन्दर की आमद गायी जाती थी और मेहताब छूटने के साथ ही वह काले और लाल देवों के साथ मंच पर प्रवेश करता था और उन देवों के बुलाने पर गाती हुई परियाँ आती थीं जिनके वार्तालाप को मंच के तीनों ओर बैठे दर्शक देखा-सुना करते थे। सारा नाट्य-आधार काल्पनिक, रोमानी और अतिरंजनापूर्ण हुआ करता था और कोई भी पात्र मंच पर आकर वापस नहीं जाता था। भारतेन्दु 'इन्दर सभा' को नाटक न मान कर नाट्याभास कहा करते थे और इसकी प्रतिक्रिया में उन्होंने छोटी-सी 'बन्दर सभा' लिख कर इसके सीमित उद्देश्य तथा रंग-विधान को चिढ़ाया भी था। 'बन्दर सभा' के प्रारम्भ में उन्होंने बताया है कि उर्दू की 'इन्दर सभा' यदि नाटकाभास है, तो 'बन्दर सभा' उस आभास का भी आभास है। इसका राजा बन्दर कहता है—"पाजी हूँ मैं कौम का बन्दर मेरा नाम" और इस राजा की शरण में पलने वाली 'शुतुरमुर्ग परी' को तो केवल पैसे की भूख है। उसके मुख से 'बन्दर ज़र हो तो इन्दर है, ज़र ही के लिए कसबो हुनर है' कहलवा कर भारतेन्दु ने गोया 'इन्दर सभा' का ही मूल्यांकन किया है। लेकिन दूसरी ओर इन्दर सभा-मंच की कुछ रंगयुक्तियों को उन्होंने अपनी सोच से विकसित भी किया था। 'चन्द्रावली', 'भारत-दुर्दशा' और ऐतिहासिक रीतिरूपक 'नीलदेवी' में पात्रों के प्रवेश, प्रेमाभिव्यक्ति के प्रसंगों, अप्सरा-गायन आदि में इन विकसित प्रयोगों को देखा जा सकता है। भारतेन्दु के रचनाकाल से कुछ पहले लखनऊ में वाजिदअली शाह का परीखाना रंगमंच भी उर्दू-हिन्दी की नाट्यात्मक प्रस्तुतियों का विशेष केन्द्र था, मगर राजमहल तक सीमित होने के कारण वह आम जनता की पहुँच से परे था। इसी की परिणति जब 'इन्दर सभा' के रूप में सामने आई, तब जनता के लिए रंगमंच खुल गया और यह अच्छी बात है कि भारतेन्दु लोकरुचि की अवहेलना न कर सके, बल्कि उसी की ज़मीन पर उसका परिमार्जन करते-करते उन्होंने ज़मीन ही को बदल डाला।

हालाँकि भारतेन्दु ने भाँड़, रास, यात्रा, लीला, झाँकी, नौटंकी आदि लोकनाट्य-मंच को भी अंशतः शुद्ध कौतुकों और अंशतः नाटकत्वहीन भ्रष्ट रंगमंच के अन्तर्गत रखा है, फिर भी इस सम्बन्ध में उनके एकाध वक्तव्य को प्रमाण-वाक्य न मानकर उनकी नाट्य-रचनाओं को ही आधार बनाना चाहिए। सच यह है कि विषय-वस्तु की दृष्टि से वे इन नाट्य-रूपों से जितना दूर थे, प्रस्तुति-तंत्र में उतना ही इनके नज़दीक भी थे। इनके वही नाटक सर्वोत्तम हैं जो लोक-नाट्य से शक्ति लेकर प्रयोग की ओर उन्मुख हुए हैं। आज यदि उनके नाटकों को हम वरीयता के क्रम में रखना चाहें, तो सब से पहला स्थान 'अंधेर नगरी' को मिलेगा और दूसरा स्थान 'प्रेमजोगिनी' को मिलना चाहिए जो अधूरा होकर भी अन्य पूरे नाटकों से कहीं बेहतर है। मच की आलेखगत चुस्ती और प्रभाव की समग्रता की दृष्टि से ये दोनों 'भारत-दुर्दशा' और यहाँ तक कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' से भी आगे निकल जाते है। इसका श्रेय भारतेन्दु की लोकनाट्य-चेतना को जाता है जो संस्कृत नाटक और रंगमंच के बाद परम्पराशीलता के नव्य आकलन में उनकी प्रेरणा का सशक्त स्रोत बनती रही है। 'अंधेर नगरी' में नारंगीवाली, हलवाई, कुंजड़िन, पाचकवाला, मछलीवाली, बनिया, महन्त और उसके चेले, नौकर-सिपाही, भिश्ती, कसाई, कोतवाल आदि सब मिलकर लोकमंच की हुज्जतबाज़ी, जन-सम्प्रेषण की तीखी सहजता, लोकप्रचलित धुनों की मस्त स्वच्छन्दता आदि से समूहन की प्रक्रिया को अद्भुत अन्विति में बाँध देते हैं। इसी प्रकार 'प्रेम-जोगिनी' में लोक-मानस के यथार्थपरक उतार-चढ़ावों को लोकभाषा के पूरे कौशल के साथ व्यक्त किया गया है। कजली, विरह, लावनी, दोहा आदि लोक-छन्द तो भारतेन्दु के नाटकों में सर्वत्र व्याप्त हैं। 'विषस्य विषमौषधम्' का सारा एकालाप ही 'भण्डाचार्य' के मुख से आरोह-अवरोह में प्रस्तुत किया गया है। 'चन्द्रावली' का आधार राम-लीला है, 'अंधेर नगरी' का नौटंकी है और नाटक के लिए तमाशा, लीला, कौतुक आदि का प्रयोग तो भारतेन्दु ने अपने अनेक नाटकों की भूमिकाओं और समर्पणों में दिया ही है। ज़ाहिर है कि भारतेन्दु जिस नये रंग-मंच के स्वरूप को तराश रहे थे, उसमें लोकधर्मिता की विशेषताओं का बहुत बड़ा सम्बल भी अनुप्राणित था।

भारतेन्दु का साक्षात्कार 'नवीन' नाटक और रंगमंच से भी हुआ था। वे मानते थे कि "यद्यपि हिन्दी भाषा में दस-बीस नाटक बन गए हैं, किन्तु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बनते जायेंगे और अपनी सम्पत्तिशालिनी ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा के अक्षयरत्न भाण्डागार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करे।" वे अंगरेज़ी और बंगला के नाटक खूब पढ़ा करते थे और इन दोनों भाषाओं के अपेक्षाकृत विकसित तथा आधुनिकतावादी रंगमंच को भी प्रशंसा की दृष्टि से देखा करते थे। उनकी निश्चित धारणा थी कि इनकी पुरानी प्रवृत्तियों से लाभ उठाये बिना हिन्दी का रंगमंच उन्नति नहीं कर सकता। उनके भीतर का जागरूक नाटककार और रंगकर्मी इस तथ्य को ध्यान से कभी ओझल नहीं कर सकता था कि विदेशी ढंग पर कुछ अंगरेज़ी के और कुछ अंगरेजी से बंगला में अनूदित नाटक खेलने के लिए १८वीं शती के अन्तिम दशक में रूसी रंगपुरुष लेवदेफ ने कलकत्ता में एक नवीन रंगमंच की नींव रखी थी जो इस समय तक अपने प्रभाव को पूरे भारत में फैला चुका था। उन्हें यह बात बहुत अखरती थी कि व्यावसायिक रंग-मंच ने इस प्रभाव को कुत्सित ढंग से अपना कर अपनी भारतीय आत्मा को ही बेच डाला था। अतः जिस सीमा तक हिन्दी का आर्यशिष्ट रंगमंच अपने आधारभूत निजत्व को खोये बिना कुछ

नये गुणों की सीख ग्रहण कर सकता था, उस सीमा तक भारतेन्दु इस पश्चिमागत रंगमंच के प्रति बहुत कृतज्ञ थे और नवीन नाट्य-रचना के लिए इससे रौशनी प्राप्त करने की प्रक्रिया को अनिवार्य समझते थे। उन्होंने लिखा भी था—"स्वदेशीय तथा भिन्नदेशीय सामाजिक रीति, व्यावहारिक नीति-पद्धति का निदान, फल और परिणाम और इन तीनों का विशिष्ट अनुसंधान नाटक-रचना का उत्कृष्ट उपाय है।" इसी अनुसंधान के कारण उनकी रंगमंचीय अभिज्ञा उत्तरोत्तर यथार्थोन्मुखी और प्रगतिशील होती गयी थी। उसी के प्रभावस्वरूप उन्होंने बहुत-सी परम्परागत नाट्यशास्त्रीय रूढ़ियों का परित्याग किया था। दुःखान्त नाटकों को अधिक द्रवणशील माना था, नये रंग-संकेतों का आश्रय लिया था; अंक-विभाजन, दृश्य-परिवर्तन और यवनिका के प्रयोग को नये रंग-विधान में ढाला था, नाटकीय संघर्ष को पहचाना था, रंगकर्म के तत्त्वों को आत्मसात् किया था और भारतीय लय में कोरस की संयोजना को अपनाया था। संस्कृत, बंगला और अंगरेज़ी नाटकों के जो अनुवाद उन्होंने प्रस्तुत किये, उन सब के पीछे एक समन्वित रंग-दृष्टि थी जो हिन्दी के राष्ट्रीय रंगमंच की परिकल्पना को साकार करना चाहती थी।

नाटककार की रंगमंचीय अभिज्ञा की सम्पन्नता अथवा दरिद्रता का मुख्य पता इस बात से भी चलता है कि नाटक के लिखित पाठ को प्रस्तुति-पाठ में रूपान्तरित करने के लिए उसने कितने और किस प्रकार के रंग-संकेतों से काम लिया है। ये रंग-संकेत प्रायः कोष्टकों में या अन्य संवादेतर स्थलों पर समायोजित होने के कारण नाट्य-रचना के बाह्य धर्म का आभास देते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है कि इनका उद्‌भव नाटककार की आभ्यन्तर रंग-प्रक्रिया के स्तर पर होता है। एक तो इनके माध्यम से नाटककार वह सब कुछ कह जाता है जिसे संवादों की पाबन्दी में बँध कर नहीं कहा जा सकता; और दूसरे, ये उसकी अभिव्यक्ति के ऐसे कूट होते हैं जिनसे नाटक की तमाम अशाब्दिक भाषा बनती और खुलती है। रंग-संकेतों की इस दोहरी भूमिका के कारण ही नये नाटकों में, गुण और मात्रा दोनों दृष्टियों से, इनकी भरमार देखने को मिलती है।

आज के हिसाब से भारतेन्दु के नाटकों के रंग-संकेत बहुत अपर्याप्त और सपाट हो सकते हैं, लेकिन हिन्दी नाटक और रंगमंच के प्रथम चरण के हिसाब से उनकी सम्पन्नता पर संदेह नहीं किया जा सकता। नाटककार भारतेन्दु के रंग-संकेतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे मूल नाट्य-संरचना का अविभाज्य हिस्सा बनकर उभरते हैं। भले ही नाटककार ने कहीं-कहीं उनका समायोजन पाद-टिप्पणियों के रूप में किया है, फिर भी उन्हें समझे बिना उनके नाटकों का पाठ और मंचन अधूरा रह जाता है। ये रंग-संकेत अधिकांशतः रंगकर्म से जुड़े हुए हैं और इनका उपयोग मंच पर नाट्यार्थ-निष्पत्ति के प्रयोजन की अनेक दिशाओं में किया गया है। इनका सम्बन्ध नाटककार और निर्देशक, निर्देशक और अभिनेता, अभिनेता और अभिनेता, अभिनेता और दर्शक तथा दर्शक और दर्शक के बीच अर्थ-सम्पादन से है।

भारतेन्दु के नाटकों में अभिनय-सम्बन्धी रंग-संकेत सर्वाधिक हैं और इनमें अभिनय का शायद ही कोई पक्ष ऐसा होगा जिस पर नाटककार की निगाह न गई हो। पात्रों के मंच-प्रवेश और बहिर्गमन का संकेत करना वे कभी नहीं भूलते। अंक, गर्भांक अथवा दृश्य की समाप्ति पर उन्होंने पात्र-प्रस्थान के निर्देश प्रायः नहीं दिए हैं क्योंकि वहाँ पर्दा गिर जाता है और पर्दे के पीछे अभिनेता जिस प्रकार भी चाहें बाहर जा सकते हैं; मगर दर्शकों की नज़र में पड़ने वाले आगमन तथा बहिर्गमन की स्थितियों को उन्होंने अपनी समझ और रंग-परम्परा के अनुसार, अधिक से अधिक स्वाभाविक बनाने का प्रयास किया है -यह और बात है कि उनके समय में जिन

स्थितियों को स्वाभाविक मान लिया जाता था, आज वे मंच की दृष्टि से अस्वाभाविक समझी जाती हैं। उदाहरण के लिए, पर्दा उठने के बाद पहले बहुत-से पात्रों का एकसाथ मंच पर आकर अपना-अपना स्थान ग्रहण करना और फिर चोबदार या किसी अन्य पात्र का आकर सूचना देना कि अमुक व्यक्ति मिलना चाहता है ('वैदिक हिंसा हिंसा न भवति'); अथवा हर पात्र का गाते हुए या किसी अन्य प्रकार से आत्म-परिचय देते हुए मंच पर प्रवेश करना ('भारत-दुर्दशा')। लेकिन नाटक लिखने के अधिक अभ्यास के साथ-साथ भारतेन्दु इस प्रवृत्ति को धीरे-धीरे कम करते हुए या त्यागते हुए भी दिखाई देते हैं ('सत्य हरिश्चन्द्र')।

नाटकों में पात्रों को मंच पर उतरने के बाद भारतेन्दु उनकी हरकतों के विषय में बहुत सावधान रहते हैं। इन हरकतों का निर्देश देते समय उन्होंने पात्रों की सामाजिक स्थिति, मानसिक संरचना, सामूहिक क्रिया-प्रतिक्रिया, दर्शकोन्मुखता आदि का विशेष ध्यान रखा है। अंग-संचालन सम्बन्धी हरकतों के अन्तर्गत उन्होंने उठने-बैठने, चलने-मुड़ने, देखने-भालने, सुनने-सुनाने, सूँघने-चखने, छूने-छुवाने की अनेक क्रियाओं के कुशल रंग-निर्देश दिये हैं। 'वैदिकी हिंसा' का विदूषक आता है, तो भारतेन्दु लिखते हैं कि वह 'बीच में चूतर फेर कर बैठ गया', पुरोहित प्रसन्न होता है, तो इशारा करते हैं कि उसे उठ कर नाचना-गाना चाहिए। राजा प्रवेश करता है, तो भारतेन्दु चाहते हैं कि उसे अधिकांश बातचीत बैठ कर ही करनी चाहिए, लेकिन धार्मिक नेताओं को उठकर आसन देना चाहिए, यमदूत 'कोड़े मारता है' तो राजा 'हाथ से बचा-बचा कर' हाय-हाय करता है और दूसरा दूत उसे 'पकड़-खींच कर एक ओर खड़ा करता है', अंक के अन्त में अपराधी मन्त्री और राजा 'चिल्लाते हैं और दूत लोग उनको घसीट कर मारते-मारते ले जाते हैं।' 'विषस्य विषमौषधम्' नौ पृष्ठों का लम्बा एकालाप है जिसमें भाण्डाचार्य 'लम्बी साँस खींच कर', 'मोछों पर हाथ फेर कर', 'ऊपर देखकर' रोचक ढंग से सम्बोधित होकर, श्लोक और गीत सुना-सुना कर रोचकता एवं स्वाभाविकता को बनाये रखने का प्रयास करता है। 'चन्द्रावली' की नायिका 'नेत्रों में जल भर कर मुख नीचा कर लेती है', प्रेम में ठहरती-भटकती है, बनदेवी उसकी 'पीठ पर हाथ फेरती है', लुकती-छिपती है, संध्यावली 'दौड़ कर जाती है और चोली से पत्र गिर पड़ता है', सखियाँ 'हाथ में हाथ दिये घूमती हैं', योगिन 'दबे पाँव से आकर एक कोने में खड़ी हो जाती है', चन्द्रावली 'फिर ध्यानावस्थित-सी हो जाती है' और अन्त में 'उन्माद की भाँति भगवान के गले में लिपट कर' दोनों 'गलबाहीं देकर जुगलस्वरूप बैठते हैं।' 'नीलदेवी' में जब काज़ी खुदा का शुक्रिया अदा करना चाहता है, तब भारतेन्दु के रंग-निर्देशानुसार 'काज़ी उठ कर सब के आगे घुटने के बल झुकता है और फिर अमीर आदि भी उसके साथ झुकते हैं।' 'सत्य हरिश्चन्द्र' के हरिश्चन्द्र को 'दोनों कानों पर हाथ रखकर' नारायण-नारायण कहने की सलाह दी जाती है, वह 'हाथ भी फैलाता है', 'भगवान् और धर्म का मुँह देखता है' और इन्द्र इस 'राजा को आलिंगन करके हाथ जोड़ के' पेश आता है। इसी प्रकार अन्य नाटकों में भी भारतेन्दु ने शारीरिक अभिनय की वैयक्तिक और समूह-स्तरीय छोटी-से-छोटी हरकत से लेकर बड़े-से-बड़े व्यापार तक के जिन असंख्य रंग-संकेतों से काम लिया है, उनकी जीवन्तता और यथार्थपरकता को कोई समर्थ निर्देशक और अभिनेता ही समझ सकता है।

शारीरिक हरकतों के बाह्याचार से ही नहीं, भावोद्‌घाटन की उस भीतरी क्षमता से भी भारतेन्दु परिचित हैं जो चेहरे के उतार-चढ़ावों और अन्य अंगों के सूक्ष्म उपयोग की भाषा में

बहुत कुछ कह जाती है। यह आँसुओं की, हास्य और मुस्कान के विविध रूपों की, कँपकँपी की, सँभलने-बिखरने की, उत्तेजना और भय की, क्रोध और घृणा की, सीत्कार और चीत्कार की, श्वास और निःश्वास की, आश्चर्य और चांचल्य की, चिन्ता और चिन्तन की, स्मरण और तल्लीनता की, सपकपाहट और चातुर्य की, आदर और उपेक्षा की, उदासी और उन्मुक्तता की, निर्वेद और हुज्जत की असंख्य भंगिभाओं की भाषा है जिसे भारतेन्दु ने अपने नाटकों के आलेख में स्थान-स्थान पर कोष्ठकबद्ध किया है। 'प्रेमजोगिनी' का चंबूभट्ट बोलने लगता है, तो वे कोष्ठक में पहले ही 'बड़े आनन्द से' का संकेत देते हैं और माधव शास्त्री के कथन से पूर्व 'घबड़ा कर' जोड़ देते हैं। 'सती प्रताप' के सत्यवान को उनकी हिदायत है कि अपनी बात 'कुछ सोच कर' या 'चिन्ता से' या 'उदास होकर' कहे, लवंगी को समझाते हैं कि उसकी भूमिका 'परिहास' की है, सावित्री को बताते हैं कि अमुक प्रसंग में उसे 'ईषत् क्रोध से' और अमुक में 'कुछ लजा कर' अभिनय करना है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में हरिश्चन्द्र और शैव्या 'आश्चर्य, आनन्द, करुणा और प्रेम से कुछ कह नहीं सकते, आँखों से आँसू बहाते हैं और एकटक भगवान् के मुखारविंद की ओर देखते हैं', विश्वामित्र 'सहज ही भृकुटी चढ़ाता है' और इन्द्र 'ऋषि का भ्रूभंग देख कर चित्त में सन्तोष करके उनका क्रोध बढ़ाता हुआ' नजर आता है, हरिश्चन्द्र 'आँसू रोककर धैर्य से' सहन-शीलता को साकार करते हैं और शैव्या 'उठ कर रोती और राजा को देखती हुई धीरे-धीरे चलती है।' स्पष्ट है कि नाटककार भारतेन्दु के रंग-संकेतों में अभिनयरत पात्रों की मनोदशा और गत्यात्मकता के अद्वैत में ही कथ्य-सम्प्रेषण का संधान किया गया है।

अभिनय में सम्वादोच्चार और वाणी के आरोह-अवरोह की गहरी पहचान भी भारतेन्दु के रंग-संकेतों में मिलती है। चूंकि वे जानते हैं कि नाट्य में शब्दों की सार्थकता उनकी अदायगी के तौर-तरीके पर निर्भर करती है, इसलिए उन्होंने अपने नाटकों को उच्चरित कार्य-व्यापार की व्यावहारिक ज़मीन पर खड़ा करना चाहा है। किस शब्द अथवा वाक्य को कैसे और कहाँ 'पुनः' कहना है, कहाँ 'धीरे से' बात करनी है, कहाँ 'साधारण स्वर से' या 'और ऊँचे सुर से' काम लेना है, कहाँ 'कुछ ठहर कर' विराम देना है, कहाँ 'लम्बी साँस छोड़ कर' शब्दों को तैराना है, कहाँ 'उदास स्वर में' विहाग गाना है, कहाँ अपने-आप से सम्बोधित होकर स्वगत को सार्थक बनाना है, कहाँ 'सब लोगों से' उन्मुक्त सम्वाद करना है, कहाँ 'ललकारना' है, कहाँ 'मुँह बना कर' किसी की नकल उतारनी है, कहाँ चिल्लाना है, अट्टहास करना है, तुकबंदी को बोलचाल की भाषा में ढालना है, कहाँ गरिमा से रागबद्ध काव्य-पाठ करना है, कहाँ कोमलता का और कहाँ कठोरता का अन्दाज़ अपनाना है—ऐसी अनेक बारीकियाँ उनके रंग-संकेतों में जगह-जगह पर भरी पड़ी हैं।

भारतेन्दु ने अपने कुछ नाटकों में पात्रों की वेशभूषा और रूपसज्जा के रंग-संकेत बिल्कुल नहीं दिए हैं, कुछ में आंशिक तौर पर दिए हैं और कुछ में आद्योपान्त दिए हैं; लेकिन जहाँ और जितना भी उनका निर्वाह किया है, सोच-समझ कर किया है। इन रंग-संकेतों में कहीं भी फालतू-पन नहीं है, बल्कि अनेक सीमाओं के बावजूद इनसे पात्रों की प्रकृति पर प्रकाश पड़ता है, प्रदर्शन की दिशा का पता चलता है, वातावरण का निर्माण होता है, सम और विषम का संघर्ष सामने आता है, देश-काल का बोध होता है, अभिनय के लिए तरह-तरह के अवलम्ब मिलते हैं और एक पात्र अथवा समुदाय को दूसरे पात्र अथवा समुदाय से अलगाने की सुविधा प्राप्त होती है। 'भारत-दुर्दशा' हर लिहाज़ से एक शिथिल नाटक है, लेकिन वेषभूषासहित प्रतिनिधि पात्रों की

रचना की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटकों में इसे सर्वोत्तम कहा जा सकता है। इसमें वेशभूषा और रूपसज्जा को लोकधर्मी सहजता और प्रतीकधर्मी अनेकार्थकता के समन्वय में से चुना गया है। इसका नायक भारत है जो 'फटे कपड़े, सिर पर आधा किरीट, हाथ में टेकने की छड़ी, शिथिल अंग' मंच पर आता है और शक्ल-सूरत से ही भारतेन्दु-युगीन भारतवर्ष की त्रासदी को उजागर करता है। दूसरी ओर प्रतिनायक भारतदुर्दैव है जो 'क्रूर, आधा क्रिस्तानी, आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नंगी तलवार लिए' उपस्थित होता है और उस त्रासदी के ऐतिहासिक कारणों का प्रतिनिधित्व करता है। वह स्वयं बेशर्म है और बेशर्मी के कीटाणुओं को फैलाता है, अतः उसकी शक्ति के रूप में निर्लज्जता की अवतारणा बहुत ही कटाक्षपूर्ण है—'जाँघिया, सिर खुला, ऊँची चोली, दुपट्टा ऐसा गिरता-पड़ता कि अंग खुले, सिर खुला, खानगियों का-सा वेष।' मुद्दत से भारतवासियों को सोम-सुता मदिरा बहुत प्रिय रही है और इस कमजोरी का फायदा उठाकर अंगरेज सरकार ने अपना कोष भरना चाहा था; इसलिए वह 'साँवली सी स्त्री है जो लाल कपड़ा, सोने का गहना और पैर में घुँघुरू' पहने है। डिसलायलटी 'पुलिस की वर्दी पहिने' आ धमकती है। भारतेन्दु के अनुसार वह इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट की हाकिमेच्छा नामक दफा की तहत आतंक मचाती है और धर-पकड़ करती है। इन सब के विपरीत आशा की परिकल्पना केवल एक 'लड़की के वेष में' की गयी है जो इस मानवीय प्रवृत्ति की मोहकता और अबोधता का प्रतीक है।

'चन्द्रावली' में वेशभूषा का एक आयाम यदि पात्रों की आन्तरिक प्रकृति को खोलता है, तो दूसरे आयाम में रंगों के सार्थक प्रयोग से उनके व्यक्तित्वों को अलगाया भी गया है। इसमें बनदेवी 'हरा कपड़ा, पत्ते का किरीट, फूलों की माला' पहन कर आती है, संध्या ने 'गहरा नारंजी कपड़ा' ओढ़ रखा है और वर्षा की पहचान है उसका 'साँवला रंग और लाल कपड़ा।' शेष पात्रों की वेशभूषा को निर्देशक की कल्पना पर छोड़ दिया गया है, या यों कहें कि उनकी वेशभूषा इतनी लोकसिद्ध है कि उसके पृथक् निर्देश की आवश्यकता नहीं समझी गयी है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में पात्रों की पोशाक और रूप-रचना के रंग-संकेतों का विधान अपेक्षाकृत सम्पूर्णता और विस्तर से किया गया है। यह विस्तार भी मूलतः पात्रों की चारित्रिक बनावट के स्पष्टीकरण से अभिप्रेरित है। मिसाल के तौर पर इसके 'पाप' नामक पात्र की उद्भावना 'काजल-सा रंग, लाल नेत्र, महापुरुष, हाथ में नंगी तलवार लिए, नीला काछ कछे' वाले स्वरूप में इसलिए की गयी है क्योंकि मनुष्य के काले और पर-पीड़क कारनामों को ही लोक में पाप-कर्म कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' तक पहुँचते-पहुँचते भारतेन्दु न केवल वेशभूषा को समग्रता में समझने लगे थे, बल्कि नाटक की प्रस्तुति में रंगकर्म के सभी घटकों की परस्पर-निर्भरता को भी आत्मसात् कर चुके थे। इसीलिए नारद के पहरावे का लम्बा उल्लेख करने के बाद उन्होंने यह भी चाहा है कि उसके 'आने और जाने के समय 'राम कृष्ण गोविन्द' की ध्वनि नेपथ्य में से हो।' ऐसे प्रयोग उनके अनूदित नाटकों में भी बिखरे पड़े हैं जिन्हें उन्होंने अपनी 'स्वतन्त्र कल्पना' कहकर रेखांकित किया है।

भारतेन्दु के नाटकों में वाद्य संगीत, गायन, ध्वनि और नृत्य के रंगसंकेत भी मिलते हैं। भावों और स्थितियों को उभारने वाले पार्श्व-संगीत से वे बहुत परिचित नहीं थे, लेकिन इसका सूचनात्मक उपयोग उन्होंने अवश्य किया है। 'चन्द्रावली' के विष्कम्भक में 'नेपथ्य में वीणा बजती है' से पता चलता है कि नारद आने वाले हैं, 'नेपथ्य में वेणु का शब्द होता है' से ब्रज-

लीला की सुधि आती है, 'नेपथ्य में बाजे बजते हैं' से मिलन का बोध होता है; 'नीलदेवी' के पंचम दृश्य का 'नेपथ्य में गान' एक सिपाही के स्वागत को पुष्ट करता है, 'सती प्रताप' के तीसरे दृश्य में 'नेपथ्य में वैतालिक गान' सावित्री के जोगिन-रूप पर प्रकाश डालता है और 'सत्य हरिश्चन्द्र' के दूसरे अंक में जब 'नेपथ्य में से बाजे की ध्वनि सुन पड़ती है', तब महाराज के मन्दिर से चल पड़ने की सूचना मिलती है। भारतेन्दु के लगभग सभी नाटकों के काव्यांशों का गायन लयबद्ध अग्र-संगीत की माँग करता है जिसके लिए उन्होंने अनेक राग-रागनियों, लोक-धुनों और छन्दों का संकेत-विधान किया है। यहाँ तक कि अनूदित नाटक 'मुद्राराक्षस' के अन्त में दो परिशिष्ट जोड़े गये हैं जिनमें से एक का सम्बंध नाटक के महत्त्व से है और दूसरे में बताया गया है कि 'इस नाटक के आदि, अन्त तथा अंकों के विश्राम-स्थल में ये गीत गाने चाहिए।' आवश्यकता पड़ने पर वे ध्वनि-प्रभावों से भी काम लेते हैं। 'वैदिकी हिंसा' में नेपथ्य से जन-कोलाहल की ध्वनियाँ सुनवायी गयी हैं, 'चन्द्रावली' में सीटी बजाने और बूढ़ों के स्वरों की, 'भारत-दुर्दशा' में आँधी आने की, 'सत्य हरिश्चन्द्र' में जयजयकार की और भागने की, अन्य नाटकों में भी कुछ प्राकृतिक घटनाओं और कुछ मानवीय व्यापारों की ध्वनियों का नेपथ्य में संयोजन किया गया है। उनके नृत्य-सम्बन्धी रंग-संकेत संख्या में बहुत कम और वैसे भी बहुत उथले हैं। इनमें वे 'नाचता है और गाता है' या 'गाता हुआ स्खलित नृत्य करता है' कहने से आगे नहीं बढ़ पाते; जैसे उन्हें अचानक ध्यान आ जाता है कि अगर गाना है तो थोड़ा-सा नाचना भी होना चाहिए। इस संकोच की वजह यह है कि अपने समय के पारसी रंगमंच के सस्ते नृत्य-विधान से उन्हें घोर वितृष्णा थी और नृत्य की कलात्मक मुद्राओं को मंच पर सार्थक अभिनय की हरकतों में बदलने की कला का तब विकास नहीं हुआ था।

भारतेन्दु के सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य में मंचीय प्रकाश-व्यवस्था के उपयोग का स्पष्ट संकेत केवल एक स्थान पर उपलब्ध होता है। 'भारत-दुर्दशा' में मदिरा के जाने और अंधकार के आने पर नेपथ्य-ध्वनि के बीच उन्होंने निर्देश दिया है कि 'रंगशाला के दीपों में से अनेक बुझा दिए जायँगे।' यह संकेत आकस्मिक नहीं है क्योंकि कुछ देर के बाद ही 'नेपथ्य में वैतालिक गान और गीत की समाप्ति में क्रम से पूर्ण अंधकार और पटाक्षेप' की बात भी कही गयी है। जाहिर है कि भारतेन्दु को रंगशाला में रंगदीपन की आवश्यकता और प्रकाश के क्रमिक मंदन, तीव्रीकरण आदि की एक सीमित पद्धति का धुँधला अभिज्ञान तो अवश्य था, मगर अपने समय में रंगशालाओं के अभाव, प्रकाश के साधनों की दुर्लभता और कामचलाऊ मंच पर दिवसीय प्रदर्शनों की प्रधानता के कारण वे इस दिशा में अधिक व्यावहारिक नहीं हो सकते थे। चाँदनी संध्या, सूर्योदय आदि के जिन दृश्यों को आज आसानी से प्रकाश-नियंत्रण की कला द्वारा दिखाया जा सकता है, भारतेन्दु ने उनके लिए चित्रात्मक पर्दों की परिकल्पना की है; और उस जमाने में यह बहुत स्वाभाविक भी था।

नाटक को मंच पर पुनस्सृष्ट करने के लिए दृश्यबंध और मंचाभिकल्पना की अपेक्षाओं के विषय में भारतेन्दु काफी सचेत थे। उनके रंग-संकेतों का काफी बड़ा भाग नाट्य-प्रस्तुति के इस आधारभूत पक्ष से जुड़ा हुआ है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' के मुखपृष्ठ पर उन्होंने 'एक रूपक चार खेलों में' लिखा है। यह चार अंकों का नाटक है, लेकिन इसके परिचय में 'अंक' के स्थान पर 'खेल' शब्द का प्रयोग सिद्ध करता है कि अपने नाटकों के अंक-दृश्य-विभाजन में रंगमंच की व्यावहारिकता के प्रति उनका विशेष आग्रह रहा है। उनके अपेक्षाकृत बड़े नाटकों क अंक-दृश्य-विभाजन पर सिलसिले से गौर करें, तो यह आग्रह एक मौलिक और विकासात्मक तलाश की

सूचना भी देता है। **'वैदिकी हिंसा'** का प्रारम्भ नांदी और प्रस्तावना से होता है जिसे सूत्रधार और नटी, बिना किसी दृश्यात्मक पृष्ठभूमि के प्रस्तुत करते हैं। फिर यह नाटक चार अंकों में बँट जाता है। प्रथम अंक का कार्यस्थल रक्त से रँगा हुआ राजभवन है, द्वितीय अंक का पूजाघर है, तृतीय अंक का राजपथ है और चतुर्थ अंक यमपुरी में घटित होता है। इस नाटक में समय और मंच-सामग्री का कोई निर्देश नहीं है, बस अंक और अंक के बीच तने हुए पर्दों पर बने हुए चित्रों द्वारा केवल स्थान का बोध कराया गया है। **'श्री चन्द्रावली'** की प्रस्तावना में पहले ब्राह्मण आकर आशीर्वाद-पाठ करता है, फिर सूत्रधार और परिपार्श्वक आकर न केवल कथ्य-स्थापना करते हैं, बल्कि नाटककार, नाट्य-प्रयोग और नाट्य-समय का परिचय देने के बाद यह भी बताते हैं कि अमुक नाम का कलाकार अमुक पात्र का मनोहारी रूप धारण कर चुका है और अब स्वयं उन्हें भी चलकर रंगमंच पर उतरने की तैयारी करनी चाहिए। पूरी रंगशाला को प्रस्तावना की प्रस्तुति का स्थान बताया गया है। फिर एक विष्कम्भक जोड़ा गया है जिसके बाद 'जवनिका उठी' के साथ प्रथम अंक वृन्दावन में शुरू होता है जहाँ गिरिराज दूर से दिखता है।' दूसरा अंक कदली-वन में खेला जाता है, 'समय संध्या का है, कुछ बादल छाए हुए हैं।' दो अंकों के बाद यवनिका गिरती है; उठती है तो 'वीथी, वृक्ष' की पृष्ठभूमि पर छोटा-सा अंकावतार प्रस्तुत किया जाता है। तीसरे अंक का 'समय तीसरा पहर' है, गहरे बादल छाये हुए हैं, 'स्थान तालाब के पास एक बगीचा' है जहाँ 'झूला पड़ा है, कुछ सखी झूलती, कुछ इधर-उधर फिरती हैं' और अंक की समाप्ति पर यवनिका फिर गिरती है। चौथे अंक का 'स्थान चन्द्रावली की बैठक है, खिड़की में से यमुना जी दिखाई पड़ती हैं', 'पलंग बिछी हुई, पर्दे पड़े हुए, इतरदान पानदान इत्यादि सजे हुए' हैं। स्पष्ट है कि इस नाटक की मंच-परिकल्पना कहीं ज्यादा विकसित है। इसमें यवनिका के इस्तेमाल, समय और स्थान के बोध, मंच-सामग्री के उपयोग, वातावरण के निर्माण और प्रत्येक अंक, विष्कम्भक तथा अंकावतार के सारमूलक नामकरण आदि बहुत-से तत्त्व समाविष्ट हैं। वियोगान्त ऐतिहासिक गीतिरूपक **'नील देवी'** को अंकों में नहीं, दस दृश्यों में विभाजित किया गया है और प्रत्येक दृश्य की संरचना, अभिनय के समीकरणों, समय और स्थान की एकताओं, मंच-सामग्री की जगहों, सामूहिक व्यापारों आदि को विस्तारपूर्वक रंग-संकेतों में बाँधा गया है। आठवें दृश्य तक प्रायः हर बार 'जवनिका-पतन' होता है, मगर अन्तिम दो दृश्यों के बाद 'पटाक्षेप' दिखाया गया है। यह कहना कठिन है कि भारतेन्दु ने इन दोनों का व्यवहार छोटे-बड़े या भीतरी-बाहरी में अन्तर दिखाने के लिए किया है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से दोनों पर्यायवाची प्रतीत होते हैं। **'भारत दुर्दशा'** में अंक की समाप्ति पर 'जवनिका गिरती है' के बाद 'पटोत्तोलन' भी किया गया है जिससे पता चलता है कि भारतेन्दु अब पर्दा गिराने और उठाने की प्रक्रिया के विषय में अधिक सावधान हो गये हैं। 'नील देवी' की भाँति इसमें भी प्रस्तावना नहीं है, बल्कि नेपथ्य से मंगलाचरण का एक श्लोक सुनवा कर पहले अंक में एक योगी की अवतारणा की गई है जो वीथी की पृष्ठभूमि पर लावनी गाता है और प्रकारान्तर से सूत्रधार की तरह ही समस्या का उपस्थापन करता है। यह छह-अंकी नाटक है, लेकिन इसके अधिकांश अंक दृश्यों से बड़े नहीं हैं। प्रत्येक अंक में अभिनय के स्थल के अतिरिक्त मंच-सज्जा पर अधिक बारीकी से ध्यान दिया गया है। उदाहरण के लिए चौथे अंक की मंच-योजना में बताया गया है कि 'कमरा अँगरेजी सजा हुआ, मेज-कुर्सी लगी हुई, कुर्सी पर भारतदुर्दैव बैठा हुआ है' और इसी प्रकार पाँचवें अंक में किताबखाने के भीतर कमेटी के माहौल को उजागर

किया गया है। **'अंधेर नगरी'** का रूपबंध लोकनाट्यात्मक है, इसलिए इसके छहों दृश्यों में स्थान-सम्बन्धी संक्षिप्ततम निर्देशों के साथ, अंधेर नगरी की यथार्थवादी झलकियाँ इस प्रकार पेश की गई हैं कि प्रदर्शन की चुस्ती और अन्विति टूटने न पाये। **'प्रेमजोगिनी'** एक अंक में परिकल्पित अधूरा नाटक कहा जाता है। इसके बावजूद यह स्वत:पूर्ण है। इसमें 'नांदी मंगलपाठ करता है' और तदुपरान्त 'मलिन मुख किए सूत्रधार और परिपार्श्वक आते हैं' जो देश की बिगड़ी हुई वस्तु-स्थिति पर प्रकाश डालने के प्रयोजन से घोषणा करते हैं कि 'हम लोग काल के अनुसार चलेंगे—कुछ वह लोकोत्तर चरित्र थोड़े ही काल के अनुसार चलेगा', आखिर लोग 'हिन्दी भाषा में नाटक देखने की इच्छा से आए हैं' और इन्हें कोई कालानुसार खेल दिखाया जाना चाहिए। इस नाटक में भारतेन्दु ने पहली बार एक अंक के भीतर चार गर्भाङ्कों या दृश्यों का प्रस्तुति-विधान खड़ा किया है और 'पहले गर्भाङ्क के पात्र' तथा 'दूसरे गर्भाङ्क के पात्र' की योजना के अन्तर्गत स्वतन्त्र रूप से पात्र-परिचय भी दिया है। अभिनय का स्थान कौन-सा होगा, अभिनेता कहाँ-कहाँ बैठ-उठ कर क्या-क्या कर रहे होंगे, आवाज किस दिशा से लगायी जायेगी, मंच पर क्या-क्या सामग्री होगी, कब यवनिका स्टेशन पर बजते हुए घंटे की ध्वनि के साथ-साथ गिरेगी – इस प्रकार की अनेक प्रस्तुतिमूलक विशेषताओं को समेटता हुआ यह नाटक अपने सशक्त कथ्य को लोकधर्मी आत्मा से सम्प्रेषित करता है। **'सती प्रताप'** चार दृश्यों का अधूरा नाटक है जिसमें स्थान और दृश्य-विधान सम्बन्धी कुछ स्फुट रंग-संकेतों के अतिरिक्त विशेष उल्लेखनीय बात कोई नहीं है। **'सत्य हरिश्चन्द्र'** के मंचीय प्रारूप को एक सुविचारित योजना की तहत गढ़ा गया है। यहाँ भारतेन्दु ने पहली बार, नाट्यारम्भ से पहले ही चारों अंकों के कार्य-व्यापारात्मक स्थलों का निर्देश एकसाथ दिया है। इसकी मूल प्रस्तुति-पद्धति परम्परा है; मगर समय और स्थान की स्पष्टता, नेपथ्य के कुशल प्रयोग, मंच-सज्जा के आकलन, अभिनय के स्थलीकरण और समूहन आदि की दृष्टि से इसकी पूरी बनावट में बहुत ताल-मेल से काम लिया गया है। यही कारण है कि भारतेन्दु के अन्य नाटकों की अपेक्षा इसमें रंग-संकेतों की सार्थक भरमार है। अनूदित नाटक **'मुद्राराक्षस'** की समाप्ति के बाद जोड़े गये प्रथम परिशिष्ट से पता चलता है कि प्रस्तुति के आदि और अन्त को विशेष आकर्षक बनाने के अतिरिक्त भारतेन्दु यह भी ध्यान में रखते थे कि अंक-दृश्य-परिवर्तन के समय, या मंचन के दौरान, रंगमंच को बिल्कुल खाली न छोड़ा जाए।

भारतेन्दु की सम्पूर्ण रंगमंचीय अभिज्ञा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आयाम यह है कि उनकी आँख निरन्तर दर्शकों पर टिकी रहती है। दर्शकत्व ही उनके नाटकों की प्रेरणा है और परिणति भी है। अपने समय के हर भारतवासी को उन्होंने अपना दर्शक समझा है। उनके नाटक न तो अनावश्यक लोकप्रियता को छूट देते हैं और न दर्शकों से हटकर किसी दुर्बोधता में उलझते हैं; बल्कि अपनी वैचारिक शर्तों पर सर्व-सम्प्रेषणीयता को विकसित करते हैं। इस प्रक्रिया में उन्हें जहाँ से जो भी अच्छाई मिलती है, उसे ग्रहण करते हैं और जहाँ जो कुछ भी बुरा लगता है, उसे पीछे फेंक देते हैं। भारतेन्दु को अपने दर्शकों से शिकायत भी है और अथाह प्रेम भी है। अपने पहले मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के समर्पण में ही उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि नाटक ही नहीं, सारा संसार एक तमाशा है—'स्त्री-पुरुष, पंडित-मूर्ख, अपना-बेगाना और छोटे-बड़े सब का तमाशा ! क्या ही तमाशा है ! ···तमाशा तो है पर देखने वाले थोड़े हैं।' इस थोड़ेपन का आधार गिनती नहीं है, सही समझदारी की कमी है। 'चन्द्रावली'

में सूत्रधार परिपार्श्वक से नाटककार के विषय में कहता है—'इसमें तुम्हारा दोष नहीं है, तुम तो उससे नित्य नहीं मिलते। जो लोग उसके संग में रहते हैं, वे तो उसको जानते ही नहीं, तुम बिचारे क्या हो!' दर्शकों के साथ गहरे जुड़ाव के बावजूद भारतेन्दु जानते थे कि हर नाटककार को उसके युग में ही पूरी तरह समझ लिया जाए, यह जरूरी नहीं होता; वह आने वाले कल के दर्शकों में भी देर तक जीवित रह सकता है। 'अंधेर नगरी' के समर्पण में उन्होंने लिखा है—'नर शरीर में रत्न वही जो पर दुख साथी, खात पियत अरु स्वसत स्वान मंडुक अरु हाथी।' सामाजिक पिघलाव की यह व्यापक भावभूमि ही उनकी दर्शकोन्मुखता का वास्तविक आधार है जिससे हिन्दी नाटक और रंगमंच का उत्थान होता है। इसी के कारण उन्हें अपने दर्शकों, समकालीन लेखकों, हिन्दी के प्रारम्भिक देशी-विदेशी और परवर्ती साहित्येतिहासकारों तथा नाट्य-समीक्षकों से जितनी मान्यता मिली है, उतनी बहुत कम रचनाकारों को नसीब होती है।

यह मानते हुए भी कि नाटक रंगमंच पर ही पूर्णता प्राप्त करता है, इसलिए नाट्य-परम्परा और दर्शकीय परम्परा का विकास साथ-साथ होता है; भारतेन्दु चाहते थे कि नाटक ऐसे लिखे जायें जिन्हें पढ़कर भी जीवन को समझने में सहायता मिल सके। उनकी निश्चित धारणा थी कि नाटक सबसे पहले एक किताब है और रंगमंच उसके बाहर ही नहीं, भीतर भी होता है। 'प्रेमजोगिनी' के शुरू में एक खाली पृष्ठ पर उन्होंने उर्दू की दो पंक्तियाँ अंकित की हैं—'बैठकर सैर मुल्क की करना, यह तमाशा किताब में देखा।' यहाँ 'किताब' शब्द पठ्यता को भी व्यंजित करता है।

भारतेन्दु की नाट्य-प्रतिज्ञा और रंगमंचीय अभिज्ञा की अनेक सीमाएँ हो सकती हैं, और हैं भी। आखिर वे हिन्दी नाटक और रंगमंच के उद्भव-कालीन हस्ताक्षर थे। लेकिन सीमाओं को लाल स्याही से रेखांकित करने वाली आलोचकीय दृष्टि अपना कर हम न तो किसी महान् धरोहर को समझ सकते हैं, न उसे सम्हाल सकते हैं और न उसके प्रति कृतज्ञ हो सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि हम भारतेन्दु की प्रशस्तियाँ लिखते रहें; इनका मतलब यह है कि हमें अगर लाल स्याही का इस्तेमाल करना ही है, तो भारतेन्दु के सामाजिक यथार्थवाद की उन शक्तियों के रेखांकन में करें जिनके कारण वे आज भी बहुत-बहुत प्रासंगिक हैं। और यह कितना सकारण आश्चर्य है कि उनके सौ साल बाद भी हिन्दी नाटक और रंगमंच के जिस-जिस कोण पर बात की जाती है, उस-उस में कहीं-न-कहीं वे हमें दिखायी दे ही जाते हैं। यही उनकी अशेषता है।

कारंत से विनोद अग्निहोत्री की हिन्दी रंगमंच पर बातचीत

हिन्दीभाषियों में भाषायी कट्टरता का अभाव है

●

ब० व० कारंत

—हिन्दी साहित्य में रंगमंच की परम्परा की शुरुआत आप कहाँ से मानते हैं ?

—पहली बात तो यह साफ होनी चाहिए कि थिएटर साहित्य नहीं है। हिन्दी दर्शकों के साथ एक यही समस्या है कि वह थिएटर का साहित्य से विभाजन नहीं करते, जबकि थिएटर साहित्य से स्वतन्त्र है।

—आपकी दृष्टि में थिएटर साहित्य से स्वतन्त्र है ?

—हमारी दृष्टि में ही नहीं, वाकई थिएटर साहित्य से स्वतन्त्र है। यदि ऐसा नहीं होता तो शेक्सपियर कब के अप्रासंगिक हो गए होते। साहित्य समकालीन समाज का दर्पण है, जबकि थिएटर उस साहित्य को रंगमंच पर वर्तमान परिवेश में प्रस्तुत करके उसे प्रासंगिक बनाता है।

—क्या कारण है कि हिन्दी रंगमंच उतना प्रभावी नहीं हो सका जितना की मराठी, बंगाली और कन्नड़ आदि रंगमंच ?

—दरअसल हिन्दी रंगमंच के साथ सबसे बड़ी दिक्कत है कि हिन्दी में सब दर्शकों की उतनी सशक्त परम्परा नहीं रही है जितनी कि मराठी या बंगाली रंगमंच में रही है।

—हिन्दी में दर्शक-परम्परा न होने का मूल कारण क्या है ?

—वैसे तो कई कारण हैं, किन्तु मूल कारण हिन्दीभाषियों में भाषायी कट्टरता का अभाव है। हिन्दीभाषी अपनी भाषा के लिए लड़ता नहीं है। उसमें भाषा के प्रति ममता नहीं है, जबकि बंगला व मराठी में ऐसा नहीं है।

—यह आप कैसे कह सकते हैं जबकि हिन्दी के सवाल को लेकर आन्दोलन भी हुए हैं ?

—आप 'अंग्रेजी हटाओ' जैसे आन्दोलन की शायद बात कर रहे हैं। मेरा मतलब आम आदमी के हिन्दी-प्रेम से है। हिन्दी के प्रचार-प्रसार का जिम्मा कुछ राजनैतिक नेताओं और बुद्धजीवियों ने ही ले रखा है, आम आदमी उससे अपने को नहीं जोड़ता। हिन्दी की घोर उपेक्षा के बाद भी आम हिन्दीभाषी निष्क्रिय रहता है।

—लेकिन रामलीला और नौटंकी के लिए तो हिन्दी दर्शकों की परम्परा है, थिएटर के लिए क्यों नहीं ?

—देखिए रामलीला की लोकप्रियता का मूल कारण उसका धर्म और पुराणों से जुड़ा होना है, जबकि नौटंकी तो रेगुलर थिएटर है ही नहीं। हाँ, नौटंकी के जो नए प्रयोग किए जा रहे हैं, स्वागत-योग्य हैं।

—हिन्दी थिएटर में दर्शकों की परम्परा नहीं है, लेकिन हिन्दी फिल्मों की लोकप्रियता को आप किस तरह देखते हैं ?

—हिन्दी फिल्मों की लोकप्रियता का कारण भाषा-प्रेम नहीं है क्योंकि हिन्दी में रेगुलर थिएटर के अभाव के कारण फिल्में और अधिक लोकप्रिय हो गई हैं और फिल्मों की लोकप्रियता अब हिन्दी रंगमंच के विकास में आड़े आ रही है।

—फिल्मों की लोकप्रियता के और भी कोई कारण हैं ?

—हाँ, खास करके आर्थिक करण । नाटक देखना और करना काफी महँगा पड़ता है, जबकि फिल्में आसानी और सस्ते में देखी जा सकती हैं । रंगमंच से केवल वही लोग जुड़ते हैं जो शौकिया होते हैं और नाटकों के लिए जिनके मन में ललक होती है । नाटक आत्मतुष्ट और आत्मदर्शन के लिए किये जाते हैं, जब कि इन्हें व्यावसायिक भी बनाया जाना चाहिए ।

—रंगमंच की सफलता के लिए और क्या जरूरी है ?

—नाटकों के लिए पहले ही कह चुका हूँ कि भाषा-प्रेम प्रान्तीय सबसे पहली अनिवार्यता है; दूसरे हिन्दी भाषा में एक रंगमंच-आन्दोलन की आवश्यकता है और रंगमण्डल उसी के लिए प्रयास है ।

—हिन्दी थिएटर में दर्शक परम्परा को बढ़ाने के लिए क्या करना चाहिए ?

—देखिए संस्कृत को कभी-कभी इम्पोज भी करना पड़ता है और जहाँ तक मेरा मत है, वर्तमान समय में हिन्दी रंगमंच को जिन्दा रखने के लिए और दर्शक-परम्परा के विकास के लिए इम्पोजिसन ऑफ कल्चर जरूरी है । इसके अलावा रंगमंच के प्रति हिन्दी समुदाय की निर्लिप्तता को दूर करना होगा ।

—हिन्दी समुदाय की निर्लिप्ता से क्या तात्पर्य है ?

—हिन्दी रंगमंच में कलाकार का अपना व्यक्तित्व नहीं होता है । मान लीजिए कि आप नाटक देख रहे हैं, नाटक की समाप्ति के बाद अगर कलाकारों में कोई आपका परिचित हुआ तो आप औपचारिकतावश उसे बधाई जरूर देंगे, भले ही उसका अभिनय साधारण रहा हो । यदि आपका कोई परिचित नहीं है, तो आप चुपचाप वापस चले जाएँगे, भले ही किसी कलाकार ने कितना भी उत्कृष्ट अभिनय क्यों न किया हो । यही कारण ये कि हिन्दी रंगमंच के अभिनेता ज्यादा चर्चित नहीं होते हैं ।

—क्यों नसीरुद्दीन शाह, ओमपुरी, अमरीशपुरी आदि तो काफी चर्चित हैं ?

—यह सब फिल्मों में आने के बाद चर्चित हुए हैं, उसके पहले इन्हें कौन जानता था ?

—नुक्कड़ नाटकों के बारे में आपकी क्या राय है ?

—नुक्कड़ नाटक नाट्य-आन्दोलनों की एक दूसरी धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं । बल्कि रंगमंच-आन्दोलन के सहज परिणाम के रूप में भी इन्हें देखा जा सकता है । दूसरे कम साधनों से सरलतापूर्वक आम आदमी तक अपना सन्देश पहुँचाना नुक्कड़ नाटकों की लोकप्रियता का कारण है ।

—वैसे अधिसंख्य नुक्कड़ नाटक-मण्डलियाँ राजनैतिक संगठनों का प्रचार-माध्यम हैं और अधिसंख्य नुक्कड़ नाटककर्मी वामपंथी विचारधारा से ओतप्रोत हैं । इसके बारे में आपका क्या मत है ?

—हाँ, ऐसा ही है, लेकिन होना नहीं चाहिए कि नुक्कड़ नाटक सिर्फ वामपंथियों तक ही सीमित रहे । इस क्षेत्र में हर तरह के लोगों को आना चाहिए ।

—हिन्दी रंगमंच के विषय में और कुछ कहेंगे ?

—हिन्दी में अभी अच्छे नाटकों, कलाकारों का अभाव है । हिन्दी में अभी राजनैतिक और गम्भीर मानवीय समस्याओं से जुड़े और अधिक नाटक लिखे जाने चाहिए—ऐसे नाटक जो आम आदमी की निजी जिन्दगी से जुड़े हों ।

●

प्रसाद की नाट्य-दृष्टि

डॉ० प्रेमकान्त टण्डन

मंच पर प्रत्यक्ष घटित होते हुए शब्द को देखने का अनुभव उसको पढ़ने या सुनने के अनुभव से भिन्न होता है। इस भिन्नता की प्रतीति नाट्याभिनय में होती है। शब्द की मंच पर साक्षात् क्रियारूप परिणति नाटक का प्राणभूत है, नाट्य की समस्त संभावनाओं का संपूर्णता में साक्षात्कार है। काव्य-तत्त्व के अतिरिक्त गति, क्रिया और विस्तार की कलात्मक योजना नाट्य-तत्त्व के मूल विधायक उपकरण हैं। 'नाटक' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ ही है—नट की क्रिया : दर्शक के समक्ष अभिनेताओं द्वारा वस्तु या वृत्त का प्रत्यक्ष मंचगत प्रदर्शन। अतएव, 'नाटक' शब्द में ही मंच से उसका अनिवार्य संबंधगत भाव निहित है।

शास्त्रीय दृष्टि से नाटक को रूपक भी कहते हैं, क्योंकि रसाश्रित होने के अतिरिक्त वह 'आरोपमूलक' भी होता है, उसमें अनुकर्ता पर अनुकार्य का आरोप किया जाता है। पुराने भारतीय आचार्य जब काव्य-भेदों का संधान कर रहे थे, तो श्रव्य काव्य से भिन्न दृश्य काव्य की परिकल्पना के मूल में उनका आशय यही था कि एक ऐसी काव्य-विधा की उद्भावना की जाय जो अभिनय-सापेक्ष हो, जिसमें वस्तु केवल पाठ्य या श्रव्य या वर्ण्य न हो, अपितु दृश्य भी हो, उसका मंच पर क्रियामूर्त प्रदर्शन हो। देवताओं ने पितामह ब्रह्मा से प्रार्थना की थी : हम एक ऐसा मनोरंजन का साधन चाहते हैं जिसे देखा भी जा सके और सुना भी।[१] और तब, नाट्यवेद-रूप पंचमवेद की अवतारणा हुई थी। तदनुसार नाट्यशास्त्र में बताया गया है कि नाट्य लोक-वृत्त का अनुकरण है, उसमें त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन किया जाता है।[२] 'दशरूपक' में नाटक को अवस्था का अनुकरण माना गया है।[३] इसी प्रकार का लक्षण-निरूपण सागरनंदी, विश्वनाथ, रामचंद्र गुणचंद्र, शारदातनय आदि आचार्यों ने भी किया है। यहाँ प्रयुक्त 'अनुकरण' 'अनुकीर्तन' आदि शब्द मुख्यतया 'अभिनय' एवं 'मंचगत प्रदर्शन' के बोधक हैं। कालिदास ने नाटक को 'प्रयोग-विज्ञान' कहा है[४] जो अभिनय और दर्शक-सापेक्ष होता है। वैसे, आचार्य ने नाटक को श्रव्य-दृश्य दोनों माना है,[५] पर वह केवल इसलिए कि वाचिक अभिनय श्रव्य भी होता है। परन्तु, काव्य-भेद और प्रकृति की दृष्टि से वह दृश्य काव्य ही है जिसमें दृश्यता और काव्यत्व दोनों आवश्यक हैं। किसी भी नाटक (नाट्यालेख) का मात्र मंचगत प्रदर्शन उसे नाट्य सिद्ध नहीं कर सकता, चाहे वह प्रदर्शन कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो जब तक कि उसमें काव्यगत (साहित्यिक) वैशिष्ट्य, भाषागत उत्कर्ष तथा अन्य सौन्दर्य-विधायक उपकरण विद्यमान न हों। इसी प्रकार, अनभिनेय, प्रदर्शन-विहीन पाठ्य रूप में ही कोई कृति नाटक नहीं कही जा सकती, चाहे साहित्यिक गुणवत्ता की दृष्टि से वह कितनी ही उत्कृष्ट क्यों न हो। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि उत्कृष्ट प्रदर्शनों के बावजूद रचनाकार के नाट्यलेख में ऐसा कुछ न कुछ रह ही जाता है जो उसको पढ़ने पर ही हृदयंगम हो पाता है। इसलिए नाटक में दृश्यत्व के अतिरिक्त काव्यत्व भी अनिवार्यतः विद्यमान रहता है। पर उसका जीवन दृश्यरूपता और प्रदर्शन ही है। यदि उसको

मात्र पाठ्य माना जाय, तो दृश्य-काव्य कहने और मानने का कोई औचित्य नहीं। मंच-विहीन नाटक तो संवादबद्ध कथा मात्र है।

कहा जा सकता है कि वस्तु, चरित्र, संवाद आदि तत्त्व तो अन्य वर्णनात्मक काव्य-रूपों में भी सुलभ होते हैं, अतः नाटक की आवश्यकता ही क्या है, उसका बहुत-कुछ काम तो अन्य साहित्य-रूप ही कर देते हैं। लेकिन इसके बावजूद नाटक रचना की गई तो इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि वह एक ऐसी परम विशिष्ट, विलक्षण विधा है जिसका कोई विकल्प नहीं। नाटकीय पाठ्यरूपता के पक्ष में यह तर्क दिया जा सकता है कि रचनाकार की दृष्टि से नाटक सर्वाधिक वस्तुपरक विधा है? वह (नाटककार) इसमें केवल पात्रों और परिस्थितियों की कलात्मक संरचना कर देता है जिससे कार्य-व्यापार का क्रम स्वयमेव विकसित होता रहता है। चूँकि यह सुविधा अन्य किसी विधा में नहीं होती, इसलिए इस सुविधा का लाभ उठाने के लिए वह नाटक लिखता है। लेकिन चूँकि यह लाभ उसे नाटक के मात्र पाठ्य होने पर भी मिल सकता है, इसलिए माना जाता है कि नाटक पाठ्य भी हो सकता है। दृश्यरूपता (मंचगत प्रदर्शन) उसके लिए अनिवार्य नहीं है। लेकिन इस तथ्य के बावजूद देश-विदेश के विद्वानों और रंगकर्मियों का बहुमत इसी पक्ष में है कि नाटक का मंच और प्रदर्शन से अनिवार्य सम्बन्ध है, उसे अभिनीत होना ही चाहिए। केवल नाटककार का आलेख, अर्थात् उसका मूल पाठ्य रूप सम्पूर्ण नाट्क नहीं है, वह केवल ढाँचा है जिसको सजीव काया निर्देशक, अभिनेता, संगीत, मंच, प्रतीकन, प्रकाश-व्यवस्था, मंचीय उपकरण और दर्शक आदि के सामूहिक सहयोग से मिलती है। इसीलिए नाटक एक सर्वाधिक सामाजिक, बहुआयामी कला-रूप भी है। अपनी सापेक्षता, मिश्र कलारूपता, व्यापकता, जनतांत्रिक प्रकृति, प्रस्तुति की विलक्षणता एवं सीधे संप्रेष्य तात्कालिक प्रभाव आदि के कारण वह एक विशिष्ट एवं अद्वितीय काव्य-रूप है। मंच पर अभिनीत होने पर ही उसकी उद्देश्य एवं प्रभाव सम्बन्धी समस्त संभावनाओं का साक्षात्कार होता है। आज के सन्दर्भ में जबकि साहित्य अधिकाधिक पाठ्य होता जा रहा है, संप्रेषण के माध्यम अधिकाधिक यांत्रिक और परोक्ष होते जा रहे हैं, कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि नाटक ही एकमात्र ऐसी विधा है जिसमें संप्रेषण की प्रक्रिया प्रत्यक्ष, सक्रिय, सजीव मानव-माध्यम से घटित होती है, कोई भी यांत्रिक प्रगति नाटक के इस प्रत्यक्ष मानव-आधार को विस्थापित नहीं कर पाई है। और प्रत्यक्ष दर्शक-वर्ग के समक्ष प्रत्यक्ष मानवीय संप्रेषण की आत्मीयता, प्रभविष्णुता, सघनता आदि सम्बन्धी अपनी क्षमताएँ होती हैं।

नाटक-सम्बन्धी अध्ययन की नयी दृष्टि मानती है कि नाटक बहुत कुछ बोले गए संवादों, उच्चरित शब्दों और पंक्तियों के बीच में होता है, मंच पर पात्रों की स्थिति, उनकी परस्पर निकटता और दूरी तथा उनके सात्त्विक भावाभिनय आदि में होता है। मंचगत कक्ष्या (स्पेस) की अवधारणा भरत के नाट्यशास्त्र में भी मिलती है। समर्थ निर्देशक और अभिनेता मिलकर नाट्य के संप्रेष्य और प्रभाव को अद्भुत गरिमा और सघनता दे सकते हैं। इसलिए नयी दृष्टि में अभिनेता और निर्देशक दोनों का महत्त्व बढ़ रहा है। परन्तु यहाँ स्पष्ट हो जाना चाहिए कि अभिनेता कोई ऐसा माध्यम मात्र नहीं है जो नाट्योल्लेख और मंच में सम्बन्ध स्थापित करता हो। वास्तव में, आलेख और मंचाभिनय दो पृथक्, स्वतंत्र इकाइयाँ हैं ही नहीं। वे एक ही वस्तु के केवल दो पहलू हैं, एक में वह पाठ्य होता है, दूसरे में वह 'देह-भाषा' में रूपान्तरित और मूर्त होता है। एक में वाचक 'पात्र' कहलाते हैं, दूसरे में उसको मूर्तित करने वाले मानव-माध्यम 'अभिनेता' कहलाते हैं। यहाँ भरत (नाट्यशास्त्र) की नाट्यधर्मी अवधारणा का

उल्लेख अत्यन्त प्रासंगिक है। एक विद्वान् के अनुसार, 'देह की खोज की अगणित संभावनाओं की पहचान नाट्यधर्मी तरीकों में देखी जा सकती है।' इस संदर्भ में नयी तकनीक और अत्याधुनिक नाट्याध्ययन पैरालिग्विसटिक्स (पराभाषा), सेमियॉटिक्स (अभिलक्षणशास्त्र), किनेसिक्स (शरीर-गतिशास्त्र), प्रॉक्सेमिक्स (सन्निधि-सम्बन्धी अध्ययन) आदि का भी नाट्य-प्रदर्शन के सम्बन्ध में बहुत प्रभावी, सार्थक और महत्त्वपूर्ण उपयोग करते हैं। नाट्य-प्रपंच में दर्शक का अपना अत्यन्त निश्चित स्थान और महत्त्व तो है ही, यदि उसकी साहित्यिक-सांस्कृतिक और नाटकीय समझ विकसित है, तो उसके समक्ष नाट्य-प्रदर्शन अपनी पूरी संभावनाओं में प्रत्यक्ष होता है। नाटक की 'सर्वाधिक सामाजिकता' का एक अर्थ यह भी है कि वह समर्थ दर्शक-वर्ग के प्रति अन्य सभी सर्जनात्मक साहित्य-रूपों की तुलना में किसी पूर्वकल्पित और नियोजित उद्देश्य को संप्रेषित अथवा प्रेरित करने में सर्वाधिक उपयोगी होता है।

कम से कम संस्कृत आचार्य के मन में इस बात को लेकर कभी कोई शंका उत्पन्न हुई ही नहीं कि नाटक पाठ्य होना चाहिए या अभिनेय, नाटक का मंच से अनिवार्य सम्बन्ध है या नहीं, या कि क्या नाटक केवल पाठ्य भी हो सकता है। इसका प्रमाण यह है कि पूरी संस्कृत चिंतन-परम्परा में इस मुद्दे पर कहीं कोई विवाद नहीं मिलता। आचार्य और रचनाकार दोनों के समक्ष नाटक की मूल प्रकृति सर्वथा स्पष्ट रही है। नाट्यवेद की अवतारणा के साथ-साथ विश्वकर्मा ने रंगशाला का भी निर्माण किया, नाट्य-रचना सिद्धांतों के साथ ही आचार्य द्वारा रंगमण्डप, मंच-शास्त्र, नृत्य और नृत्त, अभिनय-कला आदि का भी सूक्ष्म-गहन विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। रस-लक्षण-सूत्र[६] के व्याख्याकारों के ध्यान में मंच, नट और प्रेक्षक बराबर बने रहे। महापात्र विश्वनाथ ने तो स्पष्ट ही कह दिया, "चाहे नाट्यरूप वस्तु 'दृश्य' हो या 'अभिनेय', रूपक हो या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखी गई एक ही वस्तु हो, जो कि वह वस्तुतः है, इतना निश्चित है कि बिना अभिनय के उसका अस्तित्व असंभव है।"[७] उधर, मृच्छकटिक, विक्रमोर्वशीय, शाकुंतल आदि नाटकों की प्रस्तावना से यह स्पष्ट है कि उनकी रचना प्रदर्शन के उद्देश्य से हुई थी, पढ़ने के लिए नहीं। वास्तव में, उस समय पाठ्य नाटक जैसी कोई विधा सर्वथा अकल्पित एवं अज्ञात थी। संस्कृत आचार्य मंच और दृश्य-विधान को नाटक का मात्र उपस्कारक भी नहीं मानते थे, अपितु मंचाभिनेयता को उसका प्राणतत्त्व, उसकी मूल-प्रकृति मानते थे। मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमणों और मुगल-शासन के साथ इस दृष्टि में स्खलन हुआ : सार्वजनिक रंगशालाएँ उजड़ गईं, प्रदर्शनों का क्रम भंग हो गया जिसके परिणामस्वरूप संस्कृत में श्रेष्ठ नाटक की परम्परा भी विच्छिन्न हो गई और एक नई ह्रासशील नाटक-धारा पनपने लगी।

परन्तु पाश्चात्य साहित्य में स्थिति भिन्न है : वहाँ रचना और सिद्धांत, दोनों स्तरों पर प्राचीन काल से ही दोनों प्रकार की परम्पराएँ मिलती हैं। एक धारा नाटक का मंच-प्रदर्शन से अनिवार्य सम्बन्ध मानकर नाटक को मूलतः एक अभिनेय विधा मानती है। प्राचीन यूनान और रोम में नाट्योत्पत्ति के मूल में ही अभिनय और नृत्य, गति और क्रिया के तत्त्व स्वीकार किए गए हैं। अभिजात यूनानी त्रासदी-लेखकों एस्काइलस, यूरिपिडीज़, सोफ़ोक्लीज़ आदि की रचनाएँ अभिनेय थीं और उनके प्रदर्शन के लिए वहाँ विशाल नाट्य-स्थल बनाए गए थे। सिद्धांत के स्तर पर स्टाइन, प्रीस्टले, निकॉल, ग्रैंजर मैथ्यूज़, सॉर्सी, शिप्लेकोव के टिप्पणीकार, एब्रम्स, ब्रेख्ट आदि न मालूम कितने नाट्य-चिंतक, समीक्षक और प्रख्यात सक्रिय रंगकर्मी नाटक को अभिनेय विधा मानकर उसका मंच से नित्य संबंध मानते हैं। हाइडेगर ने कहा, "नाटक के पात्र के लिए यह अनिवार्य है कि वह प्रत्यक्ष उपस्थित हो, वहाँ, मंच पर।"[८]

नाट्य-चिंतन की दूसरी पाश्चात्य धारा नाट्य की मूल प्रकृति काव्यात्मक मानती है, अभिनेय नहीं। इस धारा के अनुसार नाटक का मंच और अभिनेयता से नित्य सम्बन्ध नहीं है, नाटक अपने पाठ्य रूप में भी बहुत प्रभावशाली हो सकता है। उदाहरण के लिए, यूनानी आद्याचार्य अरस्तू ने त्रासदी की अपनी परिभाषा में यद्यपि दृश्य-विधान को उसके छह प्रधान और आवश्यक अंगों में से एक माना है, तथापि एक तो उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि कवि (त्रासदी-लेखक) की अपेक्षा रंग-शिल्पी से अधिक सम्बद्ध होने के कारण त्रासदी के समस्त रचना-विधान में दृश्य-विधान और अभिनय-सम्बन्धी उपकरणों का त्रासदी से न्यूनतम सम्बन्ध है,[१०] दूसरे उन्होंने त्रासदी के अंगों के सोपानिक निरूपण में दृश्य-विधान को अन्तिम, छठे स्थान पर रखा है और तीसरे, अपनी 'काव्यशास्त्र' नामक पुस्तक में अन्यत्र उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यद्यपि दृश्य-विधान त्रासदी के मूल प्रभाव की निष्पत्ति में उपस्कारक होता है, तथापि वह त्रासदी का सर्वथा अनिवार्य और अपरिहार्य तत्त्व नहीं है, क्योंकि इससे स्वतंत्र रहकर भी, अर्थात् केवल पाठ्य रूप में भी, त्रासदी का अपने आंतरिक, संरचनात्मक कौशल के आधार पर, पाठक पर गहरा प्रभाव पड़ता है।[११] इस प्रकार आचार्य अरस्तू नाटक का मंच और अभिनय से नित्य सम्बन्ध नहीं मानते। वे त्रासदी को मूलतः एक काव्यकृति और उसकी काव्यात्मक उत्कृष्टता को ही नाट्य का मूल तत्त्व मानते हैं। अपनी इस मान्यता में वे त्रासदी को कला (काव्य-तत्त्व) और शिल्प (दृश्य-विधान) के समन्वय से भी वंचित कर देते हैं।

सम्भवतः अरस्तू की उक्त मान्यता विरोधाभासपूर्ण है। त्रासदी की परिभाषा में तो वे दृश्य-विधान को उसका एक प्रमुख, आवश्यक अंग मानते हैं, जबकि बाद में उसके महत्त्व को नकार देते हैं। उन्होंने दृश्य-विधान को अन्य विधाओं से त्रासदी का एक भेदक तत्त्व भी माना। शायद अरस्तू ने 'त्रासदी की अवधारणा' (कॉन्सेप्ट ऑव ट्रेजेडी) की कल्पना करते समय सैद्धांतिक स्तर पर उसके छह प्रमुख अंग माने थे जिसका आशय यह था कि प्रत्येक त्रासदी-रचना में व्यावहारिक स्तर पर (भी) इन सभी अंगों का होना अनिवार्य नहीं है। त्रासदी के छह अंग त्रासदी की एक परम आदर्श परिकल्पना थी। त्रासदी ऐसी भी हो सकती है जिसमें दृश्य-विधान की सहायता न ली जाय। 'काव्यशास्त्र' में इस बात के संकेत हैं कि अरस्तू समकालीन यूनानी मंच (एटिक थियेटर), एथेंस की नाट्यशालाओं और वहाँ की अभिनय-परम्परा से परिचित थे। अतएव, यह आश्चर्य ही है कि अपने नाट्य-विवेचन में वे मंच और नाट्य से उसके सम्बन्ध की इस कदर अवमानना करें। शायद अरस्तू समवेत गान (कोरस) को छोड़कर मात्र त्रासदी-लेखक (कवि) के शुद्ध नाट्यालेख पर विचार करना चाहते थे। जो भी हो, इस सन्दर्भ में भारतीय आद्य नाट्याचार्य भरत से उनकी तुलना बहुत रोचक है : भरत और नाट्यशास्त्र को हम अरस्तू का लगभग समकालीन मान सकते हैं। दोनों आद्याचार्य हैं, दोनों की दृष्टि वस्तुपरक, दर्शनिक-नैतिक पूर्वाग्रहों से मुक्त और मानवीय सन्दर्भों से युक्त है, दोनों की अपनी-अपनी परम्पराओं में गति और क्रिया को नाट्योत्पत्ति का मूल माना गया है, दोनों के समय में मंचीय प्रदर्शनों की परम्परा थी, लेकिन जहाँ भरत नाटक का मंच से अनिवार्य सम्बन्ध मानते हैं, वहाँ अरस्तू ऐसा नहीं मानते। दोनों आचार्य नाट्य को अनुकरणधर्मी मानते हैं, लेकिन जहाँ भरत तथा अन्य परवर्ती भारतीय आचार्य अनुकरण को प्रदर्शनमूलक मानते हैं, वहाँ आचार्य अरस्तू अनुकरण की मात्र प्रदर्शनमूलक व्याख्या नहीं करते। यह वास्तव में अनुसंधान का विषय है कि समस्त स्वदेशी परम्परा को नकार कर अरस्तू ने किन परिस्थितियों में नाटक को मंच से स्वतंत्र, मात्र काव्य-वैशिष्ट्यमूलक एक स्वायत्त विधा माना।

चिंतन की यह परम्परा अरस्तू के बाद भी चलती रही। पाश्चात्य जगत् में ऐसे शास्त्रकार और समीक्षक बराबर मिलते हैं जो नाटक का मंचाभिनेयता से नित्य सम्बन्ध नहीं मानते। जर्मनी के गॉटहोल्ड लेसिंग, इटली के बेनेदेत्तो क्रोचे, इंग्लैण्ड के स्कॉट जेम्स, फ्रांस के वाल्टेयर आदि इसी मत के समर्थक हैं। स्टैनले वेल्स ने कहा, "जब हम नाटक के मुद्रित आलेख को देखते हैं तो उसमें रंगमंच की अपेक्षा अधिक समृद्ध एवं अधिक जटिल अनुभूति देने की क्षमता पाते हैं।"[१२]

यह तो हुई पाश्चात्य साहित्य में नाट्य-चिंतन सम्बन्धी सैद्धान्तिक स्थिति। सृजन के स्तर पर पहली शताब्दी ईसवी के रोमीय नाटककार सेनेका (बी० सी० ४-ए० डी० ६५) ने लैटिन भाषा में अनेक त्रासदी नाटक लिखे जो मूलतः मंचाभिनय के उद्देश्य से नहीं, अपितु एक श्रोता-समाज के समक्ष पढ़कर सुनाए जाने के उद्देश्य से रचे गए थे। अतएव, योरोप में शुरू से ही पाठ्य नाटकों के लेखन की परम्परा मिलती है जिसको बाद में 'क्लोज़ेट ड्रामा' के नाम से एक प्रकार का सैद्धांतिक रूप देने की भी चेष्टा की गई। 'क्लोज़ेट ड्रामा' एक ऐसी नाटक-रचना माना गया है जो मूलतः पाठ्य होती है, अथवा जिसकी रचना की तो गई हो प्रदर्शन के उद्देश्य से, परन्तु जिसका समुचित रसास्वादन पढ़कर ही किया जा सकता हो। अनेक विद्वान् क्लोज़ेट ड्रामा को असफल नाट्यकृति मानते हैं। शिप्ले कोश में टिप्पणी है कि 'पाठ्य नाटक' शब्द का प्रयोग नाटक-रचना के प्रति अनादर भाव का सूचक है तथा ये नाटक अपवाद रूप हैं, नियमित नाट्य-रचना नहीं।[१३] लेकिन परवर्ती शताब्दियों में भी इस प्रकार के नाटक बराबर लिखे जाते रहे। १७वीं शताब्दी में जान मिल्टन की प्रसिद्ध कृति सैम्सन एगोनिस्टिस प्राचीन यूनानी अभिजात शैली में रचित एक ऐसी ही पाठ्य त्रासदी रचना है। १८वीं शताब्दी में राबर्ट ब्राउनिंग के नाटक भी इसी वर्ग में आते हैं। शेल्डान चेनी ने बल्कि यह कहकर एक मध्य-मार्ग निकाला कि "नाट्य-तत्त्व वस्तुतः काव्यनिष्ठ है जिसका विकास और उत्कर्ष नाट्यशाला में होता है।"

पाश्चात्यों की देखा-देखी और कदाचित् परिस्थितिवश भी, हिन्दी साहित्य में भी, नाट्य के मूल स्वरूप को लेकर एक तरह से विवाद-जैसा चल पड़ा है। यह देखा जा चुका है कि संस्कृत में इस प्रकार का कोई विवाद नहीं था। आधुनिक हिन्दी साहित्य के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नाटक को अनिवार्यतः अभिनेय और प्रदर्शन-सापेक्ष मानते थे, अतएव इस बारे में उनके मन में भी कोई दुविधा नहीं थी। लेकिन उनके बाद से ही यह विवाद शुरू हो गया। अब चाहे यह स्थिति पाश्चात्य साहित्य से अधिकाधिक सम्पर्क और सम्बन्ध के कारण उत्पन्न हुई हो, चाहे इसके मूल में पारसी थियेटर और उसके प्रति तिरस्कार का भाव रहा हो, या फिर और ही कोई कारण रहा हो, बाबू श्यामसुन्दर दास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० बच्चन सिंह आदि ऐसे विचारक हैं जो नाटक को समान रूप से पाठ्य भी मानते हैं, अथवा अभिनेयता को वांछनीय नहीं मानते। यह एक बहुत रोचक तथ्य है कि नाटक के सम्बन्ध में इस प्रकार का विवाद केवल हिन्दी के विद्वानों में ही है, केवल वे ही अपनी समस्त पूर्व-परम्परा को विस्तृत करके इस मुद्दे पर शास्त्रार्थ कर रहे हैं कि नाटक पाठ्य होता है या अभिनेय, अथवा उसकी मूल प्रकृति क्या होनी चाहिए। किसी भी दूसरे आधुनिक भारतीय भाषा-साहित्य में नाटक को लेकर न तो इस प्रकार की कोई शंका है, न झगड़ा और न ही उन भाषाओं में पाठ्य नाटक जैसी कोई चीज है। पाश्चात्यों के अनुकरण पर इधर कुछ समय से हिन्दी में भी कुछ विद्वानों ने

'साहित्यिक नाटक' और 'मंचीय नाटक' जैसे भेद करना शुरू किया है जिनको क्रमशः 'ड्रामा' और 'स्टेज प्ले' कहा जा रहा है।[१४] एक विद्वान् ने प्रसाद को शुद्ध साहित्यिक नाटक का जन्मदाता घोषित किया है।

सम्भवतः हिन्दी ही एकमात्र ऐसी आधुनिक भारतीय भाषा है जिसके पास इस समय अपनी कहने के लिए संगठित रंगमंच जैसी कोई चीज नहीं है। और, इस समय क्या, लोकमंच को छोड़ दीजिए तो काफ़ी पहले से नहीं है, जबकि नाटक इस भाषा में बराबर लिखे जा रहे हैं, परन्तु वे अधिकांशतः केवल पढ़े-पढ़ाये जा रहे हैं। हालाँकि विद्वानों का दावा है कि आज बहुत से नाटक केवल मंचीय प्रदर्शन की दृष्टि से लिखे जा रहे हैं। नाटक-सम्बन्धी विवाद का एक कारण यह भी हो सकता है।

हिन्दी में नाटककार प्रसाद की दृष्टि इस बारे में सर्वथा स्पष्ट थी। वे निश्चित रूप से नाटक और मंच का नित्य सम्बन्ध मानते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की भाँति वे भी नाटक की मूल प्रकृति को अच्छी तरह समझते थे और उनके पास भी सम्पूर्ण नाट्य-दृष्टि थी। अतएव, इस सन्दर्भ में प्रसाद संस्कृत आचार्यों एवं नाटककारों की परम्परा में आते हैं।

संदर्भ संकेत

(१) नाट्यशास्त्र, १/११—क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं च यद्भवेत्। (२) नाट्यशास्त्र, १/११२—लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्। वही १/१०७—त्रैलोक्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्। (३) दशरूपकम्, १/७। (४) अभिज्ञानशाकुन्तलम्, १/२, परितोषाद्विदषां न साधु मन्ये प्रयोग बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः विज्ञानम्। (५) नाट्यशास्त्र, १/११ तथा हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ७५—'अलग-अलग इन्द्रियों से गृहीत होने वाले दृश्य और श्रव्य भाग भी एकसाथ होने वाली प्रतीति के विषय बन जाते हैं। इससे सामान्य रूप से होने वाले अभिनय-काल तक ही नाट्य का जीवन है, यह बात सूचित की है।' (६) नाट्यशास्त्र : 'विभावानुभाव··· निष्पत्तिः'। (७) साहित्यदर्पण, व्याख्याकार डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ० १४१ (८) मार्टिन एस्लिन, संपादित, सैमुअल बेकेट, पृ० १०८। (९) पोइटिक्स, पृ० १५-१७, एव्रीमैन्स लाइब्रेरी सीरीज। (१०) वही, पृ० १७। (११) वही, पृ० १७। (१२) लिट्रेचर एण्ड ड्रामा, पृ० २, स्टैनले वेल्स। (१३) डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिट्रेचर, पृ० ६५ तथा १०६। (१४) नाट्य-निबन्ध, दशरथ ओझा, पृ० १२४, सुरेश अवस्थी तथा अन्य।

प्रसाद के नाटकों में रसानुभूति का स्वरूप

●

डॉ० जगदीशप्रसाद श्रीवास्तव

प्रसाद आनन्दवादी विचार-परम्परा के मनीषी साहित्यकार हैं। प्राचीन आर्य-संस्कृति के प्रति उनकी गहन आत्मीयता ने उन्हें आनन्द का जो उदात्त किन्तु मोहक जीवन-दर्शन दिया, वह उनके समूचे व्यक्तित्व का प्रमुख घटक बन गया है। न केवल व्यावहारिक मूल्यों के निर्धारण में उसकी भूमिका प्रमुख रही, वरन् उनकी साहित्यशास्त्रीय विचारणाएँ भी उसी पर आधृत हैं। आर्यों की आनन्द-भावना का मूल उन्हें कामोपासना में मिला जो अपने-आप में एक महान् प्रवृत्तिमुखी दर्शन है। यह कामब्रह्म-रूप है, सृष्टि का बीज है, आदिदेव है। यही जीवन के मधुर मांगलिक प्रसार की प्रकृत प्रेरणा है। इसकी विकृति पतन के अन्धतम कूप में डालने वाली है, तो इसकी परिष्कृति अलोकसामान्य देव-स्तर पर प्रतिष्ठित करने वाली। श्रुतियों में इसे ही 'भूमा' शब्द से विवक्षित किया गया है और शैवागमों में यही 'सामरस्य' की विमोहक परिकल्पना के रूप में समादृत किया गया है। कहना न होगा कि इस कामात्मक आनन्द-दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान एवं यथार्थवादी विचारधारा के प्रवर्तक फ्रायड के काम-सिद्धान्त में आधारभूत समानता है। फ्रायड ने दमित-काम से ललित कलाओं का जन्म माना था और प्रसाद भी संवेदन और हृदय के संघर्ष को उस अभावदीप्त काव्य-वस्तु का जनक मानते हैं जिसे शेले ने 'मधुरतम गान' कहा था। प्रसाद की रस-विषयक धारणा मूलतः इसी कामानन्द-दर्शन से भावित और प्रेरित है। उनका मत है कि शैवागमों के 'क्रीडात्वेनमखिलम् जगत्' वाले सिद्धान्त का नाट्यशास्त्र में व्यावहारिक प्रयोग है। काव्यमयी श्रुतियों के अनन्तर तर्काश्रित शास्त्र और स्मृतियों के युग में काव्य की—'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' की धारा लोकपक्ष से मिलकर अपनी आनन्द-साधना में लगी रही और सर्वसाधारण के लिए वेदों के आधार पर काव्यों का पंचम वेद की तरह प्रचार हुआ। भारतीय वाङ्मय में नाटकों को ही सबसे पहले काव्य कहा गया और इन्हीं नाट्योपयोगी काव्यों में आत्मा की अनुभूति रस के रूप में प्रतिष्ठित हुई। रसात्मक अनुभूति आनन्द-मात्रा से सम्पन्न थी और तब नाटकों में रस का प्रयोग आवश्यक माना गया। इस प्रकार आनन्द के अनुयायियों ने धार्मिक बुद्धिवादियों से अलग सर्व-साधारण में आनन्द का प्रचार करने के लिए नाट्यरसों की उद्भावना की थी। नाट्यशास्त्र का प्रयोजन नटराज शंकर के जगन्नाटक का अनुकरण करने के लिए पारमार्थिक दृष्टि से किया गया था। स्वयं भरत मुनि ने भी नाट्य-प्रयोग को एक यज्ञ के स्वरूप में ही माना था। भरत मुनि के प्रसिद्ध रस-सूत्र का हवाला देते हुए प्रसाद कहते हैं कि बुद्धिवादी तार्किक व्याख्याकारों ने अपने पाण्डित्य के बल पर रस के सम्बन्ध में नये-नये वाद खड़े किये, किन्तु आनन्द-परम्परा वाले शैवागमों में प्रकृत रस की सृष्टि सजीव थी, अतः रस की अभेद और आनन्द वाली व्याख्या हुई। भट्टनायक ने साधारणीकरण का सिद्धान्त

प्रचारित किया जिसके द्वारा नट, सामाजिक तथा नायक की विशेषता नष्ट होकर लोक-सामान्य-प्रकाशानन्दमय आत्मचैतन्य की प्रतिष्ठा रस में हुई। माहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने अभेदमय आनन्द-पथ वाले शैवाद्वैतवाद के अनुसार साहित्य में रस की व्याख्या की। इस रस का पूर्ण चमत्कार समरसता में होता है। अभिनवगुप्त ने नाट्यरसों की व्याख्या में इसी अभेदमय आनन्द-रस को पल्लवित किया था। उन्होंने कहा कि वासनात्मकतया स्थित रति आदि वृत्तियाँ साधारणीकरण द्वारा भेद विगलित हो जाने पर आनन्दस्वरूप हो जाती हैं। प्रसाद ने रसानुभूति की इस आनन्दावस्था को शैवागमीय समाधिसुख से उपमित किया। चित्तवृत्तियों की आत्मानन्द में तल्लीनता समाधिसुख ही है। रसानन्द की यह दार्शनिक अवधारणा स्थायी वृत्तियों की अनेकता का द्वन्द्व समाप्त कर देती है, क्योंकि इसके अनुसार रस के मूल में चैतन्य की भिन्नता को अभेदमय करने का तत्त्व है। वैचित्र्यपूर्ण मनोभावों के सामरस्य का यह शैवागमीय रस-सिद्धान्त समस्त अनुभूतियों में अहम् की पूर्णता मानता है। इसीलिए शैवागम के आनन्द-सम्प्रदाय के अनुयायी रसवादी रस की दोनों सीमाओं—श्रृंगार और शान्त को स्पर्श करते थे। कहना न होगा कि प्रसाद की रचनाओं में रसानुभूति के इसी विरोधाभास का अनोखापन है और इसी अर्थ में उन्हें रसवादी मानना होगा। उनके नाटकों में प्रायः ही एक से अधिक रसों विशेषकर वीर, श्रृंगार और शान्त की प्रधानता रहती है और अंगांगि-सम्बन्ध के आधार पर प्रमुखता का निर्णय करना कठिन हो जाता है। नाटक ही नहीं, काव्य और कथाकृतियों में भी उनकी यही समरसता-वादी रसदृष्टि परिलक्षित होती है। 'कामायनी' में शम-पर्यवसायी श्रृंगार की रस-भूमि है। विचारकों का एक वर्ग उसमें अद्भुत रस की भी परिव्याप्ति देखता है। प्रारम्भिक युग का स्वच्छन्दतावादी कथाकाव्य 'प्रेमपथिक' भी वैयक्तिक प्रेम को जिस समष्टिगत और आध्यात्मिक अभ्युत्थान की दिशा में ले जाता है, वह उदात्त शम की ही भावस्थिति है। विप्रलम्भ श्रृंगार का अनूठा निदर्शन 'आँसू' भी इसी उदात्त शम में पर्यवसित होता है। कथासाहित्य में यही भाव-वैचित्र्य प्रसाद की निजी विशेषता बन गया है। उनकी अधिकतर और प्रातिनिधिक कथाएँ रत्यादि भावों से ओतप्रोत रहकर अपने समापन में मन पर उदात्त शम का अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं। इस परिणति को एकान्त सुख या दुःख के वर्ग में स्थापित नहीं किया जा सकता, अतः उनकी कहानियों को 'प्रसादान्त' कहा जाता है। नाटकों में रसानुभूति की यह विशिष्टता सर्वाधिक उभरी हुई है क्योंकि उसकी प्रकृत विधा यही है। रस अपने मूल रूप में नाटकों की ही वस्तु थी और इसी अर्थ में उसे काव्य की आत्मा कहा गया था। 'काव्येषु नाटकं रम्यं' की धारणा भी इसी ओर संकेत करती है कि नाटक में ही आत्मा की मूल अनुभूति—रस—को पूर्णता मिली थी। प्रसाद ने नाट्य-रस की जो शैवागमीय अवधारणा सिद्धान्त-रूप में प्रस्तुत की है, उसी की व्यावहारिक अवतारणा उन्होंने अपने साहित्य में की है। उनके यहाँ शान्त को निस्तरंग-महोदधि-कल्प समरसता के रूप में देखा गया है। इसी विचार-परम्परा में प्रसाद शान्त को समाहारी रस के रूप में सर्वोपरि रखते हुए वीर, श्रृंगार, करुण आदि रसों का विनियोजन करते हैं। उनके प्रमुख ऐतिहासिक नाटकों अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त—में वीर, श्रृंगार और शान्त की रस-धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित होती रहती हैं और अन्त में सब कुछ शान्त में समाहित एक अनिर्वचनीय आस्वाद की सृष्टि करता है। कर्म की भूमिका में ये नाटक वीररस को प्रधानता देते हैं, वैयक्तिक सन्दर्भ में ये श्रृंगार का माहौल रचते हैं और नियमन व परिणति के विचार से इनमें शान्त सर्वोपरि रहता है। शम आरम्भ से ही नियामक बना रहता है, सत्कर्म की प्रेरणा देता है और लक्ष्य-सिद्धि के अनन्तर समग्र कर्मशीलता पर अपनी दिग्व्यापिनी शीतल छाया डालता हुआ समरसास्वाद के रूप में अन्तःप्रतिष्ठित हो जाता है। यह शम दिवाकर मित्र,

सुएन च्वांग, प्रेमानन्द; गौतम, विवेक, वेदव्यास, प्रख्यातकीर्ति, चाणक्य और दाण्ड्यायन जैसे चरित्रों के माध्यम से प्रकाशित और अग्रसारित होता है। अध्यात्मपक्षीय ये उदात्त महामानव मंगलमयी शान्ति के लोकसाधक होते हैं जिसकी प्रतिष्ठा के लिए उन्हें, वैयक्तिक राग-द्वेष से मुक्त होते हुए भी, लोकमंच पर न्याय और सत् का पक्ष तत्परतापूर्वक ग्रहण करना पड़ता है। विरक्तों का यह राजदर्शन प्रसाद के नाटकों की निजी विशेषता है। कहीं-कहीं तो यह शम पूरे परिवेश पर इस क़दर हावी हो जाता है कि नायकत्व बाधित होने लगता है। 'चन्द्रगुप्त' में प्रसाद को अन्तिम अंक का विधान बहुत कुछ इसीलिए करना पड़ा कि प्रकृत कथानायक चन्द्रगुप्त का नायकत्व प्रमाणित-प्रतिष्ठित किया जा सके, किन्तु इतने पर भी चाणक्य की महिमा नायक पर छायी ही रहती है। नाटक के अन्त में निष्कंटक आर्य-साम्राज्य के साथ कार्नेलिया के रूप में फल-प्राप्ति यद्यपि चन्द्रगुप्त को होती है और इस दृष्टि से इसमें श्रृंगार से पुष्ट वीररस को ही प्रधान मानना चाहिए, किन्तु चाणक्य की नियामकता इसका अतिक्रमण करके इस पर शम की छाया डाल देती है। चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया के पाणिग्रहण में रसरंजकता अवश्य है, किन्तु चाणक्य का प्रसन्न मन से साग्रह मौर्य को साथ लेकर तपश्चर्या के लिए चल देना उसकी अपेक्षा कहीं अधिक मर्मग्राही है। यहाँ रसानुभूति बाधित न होकर उस परम आनन्दानुभूति से सम्पृक्त हो उठती है जिसकी ओर रति, उत्साह आदि व्यावहारिक मनोभाव संकेत करते रहते हैं और जो इन सबका आलय-रूप है। 'स्कन्दगुप्त' में शम की यह अन्तर्धारा नायक से ही जुड़ी हुई है, अतः वह अपनी इस उदात्त रसानुभूति में सर्वाधिक सहज और अप्रतिम है। नायक के कर्मशील जीवन की वीरोचित सफलता तथा उसकी रत्यात्मक विफलता—दोनों ही उसके व्यक्तित्व में अन्तर्निहित गम्भीर प्रशान्तता में विलीन हो जाते हैं। देवसेना को विदा देने के पहले स्कन्द में निश्चय ही मनोद्वन्द्व चल रहा था, किन्तु विदा के चरम क्षण में वह प्रकृतिस्थ हो जाता है। 'अजातशत्रु' में शम के संवाहक चरित्रों का एक विशिष्ट वर्ग ही प्रस्तुत कर दिया गया है जिसके माध्यम से शान्त रस की धारा आरम्भ से ही वीर के समानान्तर प्रवाहित होती रहती है। अन्तिम दृश्य के सुखातिरेक को परम्परागत रसदृष्टि से वर्गीकृत करना कठिन है। अजात की उपलब्धि, पारिवारिक कलह की शान्ति एवं बिम्बसार का सुखातिशय्य—सभी को मिलाकर फलयोग माना जा सकता है, किन्तु क्या वह उसी शम-संवाहक पक्ष की विजय का व्यावहारिक प्रतिफलन नहीं है जो मैत्री, करुणा और शान्ति की लोकसिद्धि के लिए आरम्भ से ही संघर्षशील रहा है और जिसने सभी प्रमुख चरित्रों का नियमन करते हुए उनकी दिशा का निर्धारण किया है। अन्तिम दृश्य के ठीक पहले बिम्बसार को अवसादमयी विरक्ति से परिपूर्ण चित्रित किया गया है जिसे गौतम के सदुपदेश, वासवी के साहचर्य और अजात के दुष्कृत्यों का प्रभाव-समवाय कह सकते हैं। प्रसाद को शम का वह पक्ष प्रिय नहीं जो जीवन से दूर, निर्वेद और संन्यास की ओर ले जाता है। उनकी शम-विषयक धारणा शैवागमीय आनन्दभाव से गहरे जुड़ी हुई है। अतः बिम्बसार के निर्वेद को तोड़ने और मोड़ने के लिए अन्तिम दृश्य की सुखात्मकता का विधान कर दिया गया है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'राज्यश्री' में शम की यह सिद्धि विशेष परिस्फुट है। इनमें कर्म का पक्ष मुख्यतः वीर और गौणतः श्रृंगार रस की भावभूमि रचता है, किन्तु पूर्वोक्त नाटकों की तरह वहाँ भी करुणाश्रयी शम नियामक और पर्यवसायी बना रहता है। इस प्रकार प्रसाद के नाटकों का मूल स्वर शम माना जा सकता है जो आत्मा के अभिनय-रूप भाव-वैचित्र्य को निस्तरंग महोदधिकल्प-समरसता में एकीभूत कर देता है। इसे लोकानन्द अथवा

समाधिसुख भी कह सकते हैं। रस की यह दार्शनिक, आध्यात्मिक और आनन्दवादी विचारणा प्रसाद की निजी विशिष्टता कही जा सकती है।

शान्तरस के काव्यगत औचित्य पर रसाचार्य आरम्भ से ही विचार करते रहे हैं। नाटक के सन्दर्भ में यह प्रश्न और महत्त्वपूर्ण हो जाता है। इसके विपक्ष में कहा जाता है कि विक्रिया-जनक और सार्वजनीन होने के कारण यह अनभिनेय है और नाटक में अप्रयोजनीय है। शम में सतत क्रिया-व्यापारों का लय हो जाता है, जबकि अभिनय में वे ही प्रधान होते हैं। फिर, मोक्षाभिमुख अर्थात् राग-द्वेषरहित होने के कारण यह सामाजिकों के हृदय-संवाद का विषय नहीं बन सकता। नाट्याचार्य भरत मुनि द्वारा स्पष्ट उल्लेख न किया जाना भी इसके विरोध का एक कारण है। इसे वीर तथा वीभत्स में अन्तर्भुक्त करके भी इसके स्वतन्त्र अस्तित्व का निषेध किया गया है। नटों में शम का अभाव मानते हुए भी इसे अनभिनेय कहा गया है। इन आक्षेपों के समाधान के पूर्व यह कह देना प्रासंगिक होगा कि प्रसाद के किसी भी नाटक में शान्त को अंगीरस के रूप में नहीं प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः वे रसानुभूति की पूर्णता सामरस्य में मानते थे जिसका आधार और अधिष्ठान शान्त ही हो सकता है क्योंकि उसी में प्रत्यगात्मा के भाव-वैचित्र्य का अभेद-समाहार संभव है। उनकी दृष्टि किसी रस-विशेष पर न होकर समग्र प्रभाव पर थी। इसीलिए उनके नाटकों में शम सदैव चरम क्षण में सर्वोपरि हो जाता रहा है। सक्रियता के विचार से उनमें प्रायः सर्वत्र वीररस की और कहीं-कहीं श्रृंगार की प्रधानता है, किन्तु प्रसाद का दार्शनिक मन इन्हें इनके सहयोगी अन्य रसों के साथ आत्यन्तिक रसानुभूति की सामग्री अथवा साधन के रूप में ही देखता है, साध्य-रूप में नहीं। अस्तु, प्रसाद के नाटकों की सक्रियता के सन्दर्भ में ये आक्षेप कुछ विशेष महत्त्व के नहीं। फिर भी, शम के संवाहक चरित्र तो उनके नाटकों में हैं ही, भले ही वे गत्यात्मक (डाइनेमिक ऑर राउण्ड) न होकर स्थैतिक (स्टैटिक ऑर फ्लैट) हों। तब यह कहना आवश्यक हो जाता है कि शान्त के अभिनय में केवल कर्म-संन्यास ही नहीं आता प्रवृत्तिगत शान्तिप्रियता अथवा क्षुद्र दैनन्दिन सुख-दुःख के प्रति अवज्ञारूप विराग भी इसी की जीवन-भूमियाँ हैं जो अधिकतर उदात्त नायकों के व्यक्तित्व में रहती हैं और जिनकी भूमिका अन्तर्द्वन्द्वप्रधान नाटकों में प्रायः ही अनिवार्य तथा विशिष्ट रहती है। 'स्कन्दगुप्त' इसका जीवन्त उदाहरण है। उसकी नाटकीय विशिष्टता का प्रासाद विराग की ही नींव पर खड़ा हुआ है। नटों में शम के अभाव को लेकर प्रसाद का कहना है कि नटों में तो किसी भी आस्वाद का अभाव है, इसलिए शान्त रस भी अभिनीत हो सकता है, इसकी आवश्यकता नहीं कि नट परम शान्त, संयत हो ही। अभिनेता का अभिनय में भोक्तृभाव होना अपेक्षित तो है, किन्तु अनिवार्य नहीं। यही बात इस विरुद्ध-तर्क के आधार पर भी सिद्ध की जा सकती है कि वासनारूप में हृदयस्थित आदि वृत्तियों का साधारणीकरण हो जाने पर वे कवि, नट और सामाजिक—तीनों के लिए अभेद-भाव से रस-रूप में आस्वाद्य हो जाती हैं। अतः ताटस्थ्य और तादात्म्य—दोनों पद्धतियों से शान्त का अभिनय सम्भव है। शान्त रस की राग-द्वेषहीनता के प्रसंग में कहा जा सकता है कि इसका आश्रय अनिवार्यतः संन्यासी ही हो, ऐसा नहीं है। जीवन्मुक्त होकर जीने वाले भी इसी लोक में होते हैं और उन्हें अन्यों की भाँति अभिनय का विषय बनाया जा सकता है तथा बनाया भी गया है। इस संदर्भ में भरत का यह विचार महत्त्वपूर्ण है कि आयु तथा व्यक्ति-भेद से विभिन्न रस विभिन्न जनों के लिए आस्वाद्य होते हैं। भरत द्वारा 'डिम' के वर्णन में जो आठ ही रसों का उल्लेख करते हुए इसे छोड़ दिया गया है, वह एक प्रासंगिक बात है, सैद्धान्तिक नहीं। रौद्रप्रधान 'डिम' में शान्त रस के लिए कोई गुंजाइश नहीं, अतः उसका नामोल्लेख न

होना उचित ही है। अन्यत्र भरत ने 'क्वचित् शमः', 'मोक्षकामः', 'तपस्विनाम्' आदि उक्तियों से इसकी ओर संकेत किया है। अभिनवगुप्त ने इन्हीं के आधार पर इसे भरत-सम्मत माना है। वीर तथा वीभत्स में इसके अन्तर्भाव की बात व्यर्थ है। वह एक अतिवादी दृष्टि है जिसका उत्तर उसी शैली में इस प्रकार दे दिया गया है कि सभी स्थायीभावों की उत्पत्ति शान्त रस से ही होती है और उसी में उनका विलय भी होता है। विलय की बात प्रसाद भी मानते हैं, किन्तु उनकी इस मान्यता के पीछे एक सुश्रृंखल, सांस्कृतिक और दार्शनिक तर्कशास्त्र है, दुराग्रहपूर्ण अतिवाद मात्र नहीं। अस्तु, शान्त अन्य रसों की ही भाँति अभिनेय और नाटक में प्रयोजनीय है। प्रसाद के नाटकों में वीर और श्रृंगार के साथ इसकी सर्वातिशायिनी अवस्थिति कुछ विचित्र अवश्य लगती है, किन्तु स्वयं लेखक की रसानुभूति-विषयक दार्शनिक धारणा इसका सुन्दर समाधान दे देती है। इसके शास्त्रीय प्रमाण भी हैं। अभिनव के शब्दों में "जहाँ शान्त रस का प्रयोग होता है, वहाँ पुरुषार्थोपयोगी श्रृंगारवीरादि में से एक रस अवश्य होता है और उसी प्रधानभूत शान्त-रस में उनका भी आस्वाद होता है।" इस प्रकार अंगांगीभाव न होने पर वीर और शान्त के आस्वादों को परस्पर-विरोधी प्रकृति का नहीं माना जा सकता। शान्त की इस विशिष्टता से अपरिचित होने के कारण बहुधा आलोचकों को प्रसाद के नाटकों में रस-व्याघात दिखायी पड़ता है और कभी-कभी वे आँख मूँदकर नाटकीय सक्रियता के आधार पर वीर या श्रृंगार के अंगी होने की घोषणा कर देते हैं। इस प्रसंग में एक शास्त्रीय अध्ययनकर्ता के कुछ निष्कर्ष दिलचस्प हो सकते हैं। 'स्कन्दगुप्त' का अन्तिम दृश्य उसके सामने 'रस-सम्बन्धी एक प्रश्न' खड़ा कर देता है। उनका कहना है कि "स्कन्दगुप्त की आद्यन्त कर्मवीरता के अखण्ड साम्राज्य में समष्टि-प्रभाव शान्त के पक्ष में हो ही नहीं सकता", अतएव शान्तरस का यह आभास उन्हें 'वर्तमान' पाश्चात्य प्रणाली से प्रभावित और 'अनंग-कीर्तन' प्रतीत होता है। 'अजातशत्रु' में सब अवयवों के रहते हुए भी वे शान्त की स्थिति मानने से इन्कार कर देते हैं। एक दूसरे विचारक के शब्दों में उनकी यह बात स्वयं भरत मुनि की भी समझ में न आने योग्य है।

प्रसाद के नाटकों में वीर और श्रृंगार रसों का शान्त द्वारा यह अतिक्रमण और आत्म-समाहरण एक व्यापक करुण प्रभाव की सृष्टि करता है। शम की उदात्त मनःस्थिति में ले आने वाली त्यागवृत्ति करुणामूलक होती भी है। यह करुणा सामान्य दुःख की भावना से परे है—ठीक उसी प्रकार जैसे प्रसाद का आनन्दवाद लौकिक सुखानुभूति से अलग और विशिष्ट हो जाता है। करुणा की यह धारणा उन्हें बौद्ध दर्शन से मिली थी। बौद्धमत के इस नैतिक उद्देश्य को प्रसाद ने अपने साहित्य में भावनात्मक सन्दर्भ दिया है। उनके समग्र साहित्य में व्याप्त जीवन-दर्शन की रीढ़ करुणा ही है। आपाततः विरोधात्मक प्रतीत होते हुए भी प्रसाद के आनन्द-सिद्धान्त और करुणावाद में अद्भुत सामञ्जय और पारस्परिक अनु-कूलता है। प्रसाद को 'सुख से सूखे जीवन' से अरुचि थी क्योंकि वह व्यक्तिबद्धता, स्वार्थपरता और निष्क्रियता की ओर ले जाता है। इसीलिए उन्होंने 'भूमा' और 'सामरस्य' के रूप में सुख की विराट् और उदात्त सांस्कृतिक परिकल्पना को अपनी साहित्य-चिन्ता का मूलाधार बनाते हुए उसे परम प्राप्तव्य बताया। आनन्द-विषयक यह धारणा उस विराट् आत्मा अथवा ब्रह्म से जुड़ी हुई है जो समस्त अस्तित्व-रूपों का उनकी समस्त द्वन्द्वात्मकता के साथ अधिष्ठान भी है और लय-रूप भी। इस विराट् तक पहुँचने का एकमात्र लोकपथ करुणा है। वैयक्तिक दुःख जब परदुःखकातरता और सहानुभूति से परिष्कृत और प्रोज्वल होकर लोक-संवेदना का रूप ग्रहण

कर लेता है, तब उसे करुणा की संज्ञा मिलती है। समष्टि की मनोभूमि में आकर दुःख की उस वैयक्तिकता का परिहार हो जाता है जो क्लेश, संकोच और स्वार्थ-वृत्ति का आधारभूत कारण है। इसे इस लोक का मोक्ष कह सकते हैं और पूर्वोक्त विराट् आनन्दभाव से जुड़ी हुई है। यही आनन्दमयी करुणा प्रसाद-साहित्य का प्रमुख प्रदेय है। 'भूमा' और 'सामरस्य' यदि अन्तिम आध्यात्मिक आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित किये गये हैं तो करुणा उसकी लोक-भूमिका है। प्रसाद के नाटकों के लोकोत्तर आदर्श चरित्र व्यापक रूप में इसी से भावित हैं—चाणक्य भी, जिस पर व्यक्तिगत प्रतिहिंसा से ग्रस्त होने का आरोप लगाया जाता है। यदि उसमें प्रतिशोध की वैयक्तिकता ही होती तो केवल मगध-सम्राट् नन्द उसका अपराधी नहीं था—उसे सतत पददलित और अपमानित करने के लिए प्रयत्नशील राक्षस और उसकी हत्या का प्रयास करनेवाला मौर्य भी उसके प्रतिशोध के विषय बन सकते थे। फिर, उसके व्यक्तित्व के विजन बालुका-सिन्धु में सुधा की एक लहर के समान दौड़ पड़ने वाली सुवासिनी भी उसका प्राप्तव्य हो सकती थी। किन्तु वह सबको क्षमा कर देता है और सब कुछ त्याग देता है। नन्द के विनाश के साथ चन्द्रगुप्त का राज्याधिरोहण जुड़ा हुआ है और चन्द्रगुप्त के सम्राट् होने के साथ राष्ट्र-संरक्षण—अतः वह चाणक्य की एकमात्र निजी प्रतिहिंसा का विषय नहीं। मूलतः चाणक्य ब्राह्मण है जिसका किसी से भी द्वेष नहीं। वह क्रूर है, केवल वर्तमान के लिए—भविष्य के सुख और शान्ति के लिए, परिणाम के लिए नहीं। श्रेय के लिए वह स्वयं सब कुछ त्याग देता है और दूसरों से भी उसकी यही अपेक्षा है। चन्द्रगुप्त को मेघमुक्त चन्द्र देखकर उसका रंगमंच से हट जाना उसके उदार लोकभाव का ही परिचायक है। व्यक्ति को विश्वात्मक बनाने वाली यह लोकमंगलमयी करुणा स्वभावतः उस सर्वलयी तथा सर्वात्मक शमभाव की सहयोगिनी है जिसे दार्शनिकों और साहित्य-मनीषियों ने जीवन का चरम प्राप्तव्य कहा है।

करुणा का तत्त्व एक ओर भारतीय रसवर्ग में करुणरस से जुड़ा हुआ है और दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के प्रमुख विवेच्य त्रासदी से। अरस्तू के मतानुसार त्रासदी मानव-जीवन के गम्भीर, पूर्ण और विस्तृत कार्य-व्यापार का अनुकीर्तन (इमीटेशन) है। इसमें नाट्यकार ऐसी घटनाओं का संयोजन करता है जो करुणा और भय के भावावेगों को उद्दीप्त करके उनका परिष्कार (केथार्सिस) करने में समर्थ हों। अरस्तू की यह स्थापना प्लेटो के इस विचार का प्रतिवाद और संशोधन करती है कि कवि, जिसमें नाट्यकार भी सम्मिलित है, अनुकृति की अनुकृति करते हैं, उनके विषय और उपकरण कल्पित होते हैं, वे रागों के प्रति निवेदन करते हैं, आत्मा के निम्न और उच्छिष्ट अंशों को उद्वेलित करते हुए उन्हें सम्पोषण-सम्वर्धन देते हैं और इस प्रकार वे हमारी उन उच्छृङ्खल एवं असन्तुलित भावनाओं को उद्दीप्त करते हैं जिनकी सामान्य जीवन में वर्जना होनी चाहिए। अरस्तू ने कहा कि कवि अथवा नाट्यकार भावावेगों का पोषण नहीं करता, प्रत्युत् उन्हें उद्दीप्त करके उनका परिष्कार करता है। परवर्ती विचारकों ने अरस्तू के 'केथार्सिस' की विविध व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। किसी ने उसे ग्रीक चिकित्साशास्त्र के पारिभाषिक शब्द के रूप में 'विरेचन' के अर्थ में लिया (इंग्रम बाइवाटर), किसी ने उसे भावावेगों का परिष्करण या पवित्रीकरण (प्योरीफिकेशन) माना (लेसिंग) और किसी ने उसे व्यक्तिगत करुणा और भय के उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) के रूप में स्वीकार किया। कहना न होगा कि ये विविध व्याख्याएँ शब्दभेद से एक ही अर्थ की पुष्टि करती हैं। अरस्तू के इस परिष्करण-सिद्धान्त (थ्योरी ऑव् केथार्सिस) के मूल में वह ग्रीक जीवन-दर्शन है जो चित्तवृत्तियों के निरोध की शिक्षा न देकर उनके संयत उपभोग के माध्यम से उन पर विजयी होना सिखाता है। ग्रीक-

संस्कृति में संयम और विलास के परस्पर-विरोधी आदर्शों का अद्भुत समन्वय मिलता है। एपोलो और डायनिशस दोनों ही उनके पूज्य और आदर्श देवता हैं—एक कठोर संयम का प्रतीक है, दूसरा स्वच्छन्द विलास का। प्लेटो ने संयम का एकपक्षीय दृष्टिकोण अपनाया था, अरस्तू ने उसमें प्रवृत्तिगत लालित्य का अभिनिवेश करके एक समन्वित आदर्श प्रस्तुत किया। यह ऐतिहासिक दृष्टि से भी समीचीन था। प्राचीन यूनान में शराब के देवता डायोनिशस अथवा बैकस की पूजा बड़े आनदोल्लास से होती थी। यह पूजन-समारोह वसन्त के दिनों में हुआ करता था। इसी के कोरस या समूहगान से नाटक का जन्म हुआ। छठी शताब्दी ई० पू० में कैस्पिसस ने कोरस में सम्वादों का समावेश किया था। 'ट्रैजडी' का व्युत्पत्तिगत अर्थ 'अज-गान' भी इस उत्सव से जुड़ा हुआ है क्योंकि इसमें बकरे की बलि दी जाती थी। इस उत्सव के पीछे यह विश्वास था कि इसके प्रभाव से विगत दोषों, कलंकों एवं पापों से मुक्ति मिलेगी और मृत्यु तक का दंशन समाप्त हो जायेगा। गिल्बर्ट मरे ठीक ही कहता है कि डायनिशस का यह पूजन-समारोह अपने आप में एक 'केथार्मास' या 'केथार्सिस' था। परिष्करण का यह विचार ग्रीक जीवन-दर्शन में परिव्याप्त मिलेगा। नाटक के सन्दर्भ में केवल त्रासदी ही नहीं, कामदी भी इस उद्देश्य की पूर्ति करती है। प्रोक्लस का कहना है कि ट्रैजडी और कॉमेडी—दोनों ही उन मनोवेगों का विशुद्धीकरण करते हैं जिनका न तो पूर्ण दमन सम्भव है और न निरापद भोग। इन्हें अभिव्यक्ति के लिए सम्यक् सरणि चाहिए। नाटकीय प्रदर्शन उन्हें यह अवसर प्रदान करते हैं जिससे एक लम्बे समय के लिए हम इनके तनाव से मुक्ति पा जाते हैं। अरस्तू का मौलिक अभिप्राय यही है। परिष्कार की इस स्थिति को दु.ख-सुख के सामान्य वर्गों में ऐकान्तिक रूप से नहीं रखा जा सकता। जीवन का अन्तिम उद्देश्य आनन्द की उपलब्धि है। परिष्करण-प्रक्रिया से प्राप्त होने वाला मानसिक आह्लाद इसी का कलात्मक प्रतिरूप है। मिल्टन की सुविख्यात त्रासदी 'सैक्सन एगानिस्ट्स' की अन्तिम पंक्तियाँ भी यही कहती हैं।

भारतीय रसशास्त्र में इस मानसिक आह्लाद का श्रेय करुण रस को मिला है। त्रासदी के आधारभूत तत्त्व करुणा और त्रास इसमें विद्यमान रहते हैं। यों भी, ये दोनों सम्बद्ध मनोभाव हैं। करुणा के उदय के लिए व्यक्तिगत या सामाजिक त्रास अथवा वेदना की भूमि का होना अनिवार्य है। इष्टनाश अथवा अनिष्ट-प्राप्ति को करुण रस का वस्तुविषय माना गया है जो निश्चयतः त्रासद स्थिति है। यह त्रासद स्थिति त्रिधा बतायी गयी है—नियतिकृत, व्यक्तिकृत और आदर्शकृत। इसका चरम रूप मृत्यु है, किन्तु उसका घटित होना करुण रस की अवतारणा के लिए अनिवार्य नहीं। त्रासदी में भी मरण अनिवार्य नहीं कहा गया है। उसमें जीवन की विभीषिका के साक्षात्कार के लिए व्यापक परिस्थितियों का संयोजन और अनुकीर्तन होता है और यह साक्षात्कार करुणा और त्रास के विशिष्ट भाव जगाता है। इस प्रकार करुण रस को त्रासदी का सहधर्मी कहा जा सकता है। दोनों में समस्तरीय मानवीय मनोभाव अभिव्यक्ति पाते हैं। दोनों का ही सम्बन्ध जीवन के दुःखात्मक और भयावह पक्ष से है और दोनों ही अन्ततः चित्त का परिष्कार करते हैं। अभिनवगुप्त ने दार्शनिक आधार पर रसानुभूति को मानसिक विश्रान्ति की स्थिति बताया है। उन्होंने शाकुन्तलम् के 'ग्रीवाभंगाभिराम' वाले श्लोक का हवाला देते हुए कहा कि 'भयभीत मृग को देखकर प्रेक्षक विघ्न को विनिर्मुक्त और विशेष सम्बन्धों से रहित करुणा और भय की अनुभूति होती है। विशुद्ध भावों की यह अनुभूति विश्रान्तिजनक होती है। इसे ही मानसिक आह्लाद कहा जा सकता है। आनन्दवर्धन का मत है कि करुण रस से मन अधिकाधिक माधुर्य और आर्द्रता को प्राप्त होता है। मन की यही उदात्त स्थिति त्रासदी में 'केथार्सिस' के

माध्यम से प्राप्त होती है। कहना न होगा कि प्रसाद ने शैवागमों के आधार पर जिस सामरस्य-परक रस-दर्शन की अवतारणा की है, उससे त्रासदी अथवा करुणरस के ये सिद्धान्त कुछ अधिक भिन्न नहीं, अन्तिम उद्देश्य को लेकर तो बिलकुल नहीं। सामरस्य मूलतः दर्शन और अध्यात्म साधना की चीज़ है। प्रसाद ने उसे जीवन और साहित्य के स्तर पर परिभाषित करने का प्रयत्न किया। अस्तु, उनके नाटकों में व्याप्त करुणा का तत्त्व एक ओर त्रासदी और करुण रस—पाश्चात्य और पौर्वात्य नाट्य-दृष्टियों के मेल में है, दूसरी ओर वह रसानुभूति के व्यापक रूप—सामरस्य—का सम्पोषण करता है।

प्रसाद की विचार-दृष्टि उदार और समन्वयशील थी। प्रबल सांस्कृतिक अभिरुचि और तत्परक सदाग्रह रखते हुए भी उन्होंने पश्चिम के महत्त्वपूर्ण विचारों की चर्चा की है और कई बार उन्हें अपनी कृतियों में भी उभारा है। नाटक के प्रसंग में उन्हें पश्चिम का परिष्करण-सिद्धान्त प्रिय था, किन्तु उसकी निराशावादिता उन्हें ठीक न लगी। वे लिखते हैं—"सामाजिक इतिहास में, साहित्य-सृष्टि के द्वारा, मानवीय वासनाओं को संशोधित करने वाला पश्चिम का सिद्धान्त व्यापारों में चरित्र-निर्माण का पक्षपाती है। यदि मनुष्य ने कुछ भी अपने को कला के द्वारा सम्भाल पाया तो साहित्य ने संशोधन का काम कर लिया। दया और सहानुभूति उत्पन्न कर देना ही उसका ध्येय रहा और है भी।...किन्तु दया और सहानुभूति उत्पन्न करके वह भी दुःख को अधिक प्रतिष्ठित करता है, निराशा को अधिक आश्रय देता है।" इस दुःखवाद और निराशा का निराकरण उन्हें भारतीय करुण रस में मिला। भारतीय आर्यों को निराशा न थी। बौद्धिक स्तर पर उनके एक दल ने निश्चय ही संसार में सबसे बड़े दुःख-सिद्धान्त का प्रचार किया, किन्तु वह विशुद्ध दार्शनिक ही रहा। साहित्य में उसे स्वीकार नहीं किया गया। इसीलिए अपने यहाँ करुण रस में दया और सहानुभूति से अधिक रसानुभूति देखी गई। करुणा से सम्बन्धित इस पाश्चात्य-पौर्वात्य दृष्टि-भेद के पीछे उनके अपने जातीय इतिहास हैं। ग्रीक और रोमन लोगों को भाग्य और उसके द्वारा उत्पन्न दुःखात्मक स्थितियों से सतत संघर्ष करना पड़ा था, अतः उन्होंने इस जीवन को ट्रैजडी ही मान लिया। अपने घर में सुव्यवस्थित रहने वाले भारतीय आर्यों के सामने स्थापित और प्रतिष्ठित होने की वैसी समस्याएँ नहीं थीं, अतः प्रत्येक भावना में अभेद निर्विकार आनन्द लेने में अधिक सुख माना। यही कारण है कि त्रासदी में कथानक की जटिलता और कार्य-व्यापार पर कहीं अधिक ध्यान दिया गया है। ब्रुनेटियर ने कार्य-व्यापार को संघर्ष का समशील माना। आर्कर इसे चरमसीमा के रूप में देखता है। रोमानी त्रासदी में इस कार्य-व्यापार को मनोजगत् में भी प्रसरित होना पड़ता है। आगे चलकर आभ्यन्तर कार्य-व्यापार ही प्रधान होता गया है। मेटरलिंक तथा बर्नर्ड शॉ के नाटकों में बाह्य व्यापार का घोर विरोध मिलता है। प्रसाद ने कार्य-व्यापार के इस महत्त्व को समझा था। करुणा की रसात्मकता और भारतीय आनन्दवाद को स्वीकार करते हुए उन्होंने अपनी नाटकीय संरचना में विरोध और संघर्ष को प्रमुखता दी। यह कार्य-व्यापार जटिल है और दुहरा भी। आभ्यन्तर संघर्ष को उन्होंने कम महत्त्व नहीं दिया। इसके लिए उन्होंने वैचारिक और प्रणय-द्वन्द्व की भूमिकाएँ चुनीं। कथानक में व्याप्त यह अन्तर्धारा उदात्त त्रासद प्रभाव की सृष्टि करती है और करुणामूलक तथा शमात्मक होती है। 'अजातशत्रु' में गौतम तथा उनके अनुवर्ती चरित्रों के द्वारा करुणा का एक पूरा दर्शन प्रस्तावित किया गया है। आरम्भिक नाटक 'राज्यश्री' में इसी की विजय दिखायी गयी है। 'विशाख' का समष्टिगत प्रभाव करुणा की ही धुरी पर खड़ा हुआ है। 'चन्द्रगुप्त' में शम की प्रधानता है, किन्तु करुण तत्त्व वहाँ भी संयोजित मिलेगा। कल्याणी की आत्महत्या और मालविका का आत्मोत्सर्ग समग्र प्रभाव को प्रतिच्छायित करते ही हैं। चाणक्य का सब कुछ

त्यागकर एकान्तवास के लिए चल देना शमात्मक अधिक होते हुए भी कुछ कम करुणाजनक नहीं है। वस्तुतः करुणा तत्त्व और शम प्रसाद के नाटकों में सह-संयोजित रहते हैं और यह समन्वित प्रभाव ही प्रसाद के नाटकों की रसानुभूति है। मध्यवर्ती तथा मुख्य कार्य-व्यापार में प्रायः सर्वत्र वीर तथा शृंगार रसों की प्रधानता मिलेगी। हास्य, वीभत्स, रौद्र, भयानक तथा अद्भुत का भी यथाप्रसंग अभिनिवेश मिलेगा। किन्तु परिणति में सर्वत्र करुण और शम के समन्वित प्रभाव की सृष्टि की गयी है जिसकी पीठिका पहले से बनती चली आती है और जिसे अन्त में चरम प्रवर्ष दे दिया जाता है। यदि प्रसाद केवल भारतीय रसवाद के आग्रही होते तो समापन के इस प्रभावान्तरण की सयत्न योजना न करते। 'स्कन्दगुप्त' में अन्तिम दृश्य तो केवल इस उद्देश्य की ही पूर्ति के लिए रचा गया है, अन्यथा कथानक की परिणति उसके पहले हो चुकी थी। यदि स्कन्द के साम्राज्य-त्याग को उसकी दानवीरता या कि त्यागवीरता के ही रूप में देखने का आग्रह हो, तो अन्तिम दृश्य के पूर्व वीर अंगी रस के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था, यद्यपि उसका यह त्याग उत्साहमूलक न होकर विरक्तिजन्य ही था। अन्तिम दृश्य इस प्रभाव को एकदम तोड़ देता है और चरित एवं कथानक में व्याप्त अन्तर्वर्ती करुणा के सूत्र को उभारकर उसे सर्वा-तिशायी और सर्वलयी बना देता है। देवसेना की विदा करुणा का क्लाइमेक्स है जिसे स्कन्द शम के सहारे झेलता है। अस्तु, प्रसाद को करुण-भावित शम का समाहारी प्रभाव अभीष्ट है और वही उनकी रसानुभूति-विषयक परिकल्पना का आदर्श है। इस परिकल्पना में उन्होंने पौर्वात्य और पाश्चात्य विचारों का समीकरण करने का उदार प्रयत्न किया है। निश्चय ही दोनों पक्षों की बहुत-सी अन्यथा महत्त्वपूर्ण बातें इस समीकरण में छोड़नी पड़ी हैं। रसवाद का सपाट अंगांगि-सम्बन्ध इसके अनुरूप न होने से स्वतः छूट गया है। इसी प्रकार त्रासदी के करुण तत्त्व को स्वीकार करते हुए उन्होंने 'त्रास' की उपेक्षा कर दी है। यों, आरम्भिक एकांकी 'प्रायश्चित्त' इसका रूप देखने को मिलेगा। कन्नौज के अधिपति जयचन्द का आत्मवध करुण भी है और त्रासद भी। पश्चात्ताप और आत्मग्लानि का प्रकरण होने से उसमें पौर्वात्य चरित्र-गुण भी आ गया है, किन्तु उससे यथार्थ की विभीषिका कम नहीं होती। शेष सभी नाटकों में त्रास का परिहार मिलेगा। कहना न होगा कि यह परिहार रसानुभूति-विषयक आनन्दवादी धारणा का ही एक सहज परिणाम है। करुणा अपने उदात्त रूप में शम की सहयोगिनी बनकर आनन्दात्मक रसानुभूति का घटक बन सकती है, किन्तु त्रास के लिए वैसा संभव नहीं। प्रसंगतः इतना और कह देना अनुचित न होगा कि त्रासदी में त्रास की अनिवार्य स्थिति मानते हुए भी उसके समग्र प्रभाव को आनन्दात्मक ही कहा गया है। डेविड ह्यूम का कहना है कि त्रासदी का अभिनय आत्मा में प्रबल उद्वेग उत्पन्न करता है जो कि समग्रतः आनन्दपूर्ण होता है। हेगल उसमें 'नैतिक बोध की उपलब्धि का स्थायी आनन्द' देखता है। नीत्शे का मत है कि 'त्रासदी एक उत्कृष्ट कला है जो जीवन में आस्था उत्पन्न करती है।' उसमें हम अनिवार्य युद्ध और द्वन्द्व पाते हैं, किन्तु उनकी वास्तविक पीड़ा से हम मुक्त रहते हैं। प्रख्यात समीक्षक रिचर्ड्स का मनोभाव-सामरस्य भी इसी विचार का पोषक है। इसके अनुसार त्रासद प्रक्रियाएँ द्वन्द्व और संघर्ष के मध्य विश्रान्ति, सन्तुलन और स्वस्थता को जन्म देती हैं। विरोधी भावों को उद्दीप्त करके उन्हें शान्त और समरस बनाने के लिए त्रासदी एक अन्यतम साहित्य-क्रिया है। लूकस ने जिज्ञासा की मनोवृत्ति के आधार पर इसमें भावमुक्ति का आनन्द देखा है। इस प्रकार त्रासदी का समग्र प्रभाव आनन्दात्मक ही माना गया है। कतिपय विचारक अवश्य ऐसे हैं जो त्रासदी के प्रभाव को दुःखात्मक मानते हैं, जैसे रूसो और शॉपेनहार, किन्तु उनके विचार व्यापक रूप में स्वीकृति नहीं पा सके। अपने यहाँ

इसी प्रकार करुण रस को रामचन्द्र-गुणचन्द्र, रुद्र भट्ट जैसे कुछ आचार्यों ने दुःखात्मक बताया था और वे भी स्वीकृत नहीं हुए थे। अतः त्रासदी-सिद्धान्त प्रसाद की रसानुभूति-विषयक अवधारणा से साम्य रखता है, कम से कम विरोधी तो बिलकुल नहीं है।

सामरस्य-सिद्धान्त के आधार पर प्रसाद ने त्रासदी की अनेक विशिष्टताओं को अपने नाटकों में स्थान दिया है। ये नवीनताएँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रसानुभूति को प्रभावित करती हैं और रस-सम्बन्धी पुरातन धारणा पर आघात करती हैं। प्रसाद इस व्याघात को समझते थे और उन्होंने ऐसा रस-दृष्टि को युगानुरूप बनाने के लिए ही किया है। इसे हम शृंगारिक सम्बन्ध वाले एकतान प्रभाव के विघटन की प्रक्रिया भी कह सकते हैं और नवीन सामरस्यमूलक रसानुभूति का स्थापक भी। बहुधा उनके नाटकों में रस एक-दूसरे पर घात-प्रतिघात करते हुए मिलेंगे, अधिकतर करुण और शान्त प्रहारक की भूमिका निभाते रहे हैं, क्योंकि परिणति में उन्हें ही उभरकर सामने आना था। इस विषय में प्रसाद का स्पष्ट मत है कि रस में फलभोग, अर्थात् अन्तिम संधि मुख्य है और बीच के भावों में उसे खोजना उसे छिन्न-भिन्न कर देना है। मध्यवर्ती व्यापार संचारी-भावों के प्रतीक हैं और मुख्य रसवस्तु के सहायक मात्र हैं। यह रसानुभूति निम्नकोटि की नहीं कही जा सकती, क्योंकि इससे मुख्य रस का आनन्द बढ़ता है। अन्वय और व्यतिरेक—दोनों प्रकार से वस्तु-निर्देश किया जाता है। इस प्रकार वे यथार्थवादी नाटकों की परम्परा के भावात्मक घात-प्रतिघात को व्यतिरेक-पद्धति के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यही कारण है कि 'ध्रुव-स्वामिनी' में वीर और शृंगार का घात-प्रतिघात चलता रहता है और अन्त में किसी की भी पूर्ण सिद्धि नहीं होती। प्रकटतः चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी के लक्ष्य पूरे होते हैं, किन्तु क्या अन्त में 'उत्साह' अथवा 'रति' की अनुभूति शेष रह जाती है? निश्चयतः नहीं। जो बच रहता है, वह करुणात्मक शम से कुछ अधिक भिन्न नहीं। ध्रुवस्वामिनी द्वारा रामगुप्त का विरोध औचित्यपूर्ण अवश्य है, किन्तु अन्ततः रामगुप्त की मृत्यु से प्रेक्षक को कोई विशेष सुख नहीं होता—पुरातन संस्कार बाधक हो ही जाता है। ध्रुवस्वामिनी के प्रति भी हम अन्त तक सहानुभूतिशील बने रहते हैं—रामगुप्त के मरने पर भी। कुल मिलाकर स्थितियों की विडम्बना प्रधान हो जाती है। इसे मानव-जीवन की त्रासद विभीषिका ही कह सकते हैं। 'कामना' में अन्ततः नायिका का मोहभंग भी इसी कोटि के प्रभाव की सृष्टि करता है। शृंगार, वीर और वीभत्स के मनोभाव बीच में उद्बुद्ध और उद्दीप्त होते हैं, किन्तु अन्त में यह सारा प्रवेग ठंडा पड़ जाता है और वह वैचारिक भावना प्रधान हो जाती है जो विवेक, संतोष और करुणा के माध्यम से आरम्भ से ही पक्ष अवथा प्रतिपक्ष के रूप में चली आ रही थी। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य की आसक्तिहीन कूटबुद्धि नायक की वीरता पर अन्त तक छायी रहती है। शृंगार को भी वह कल्याणी और मालविका की मृत्यु के द्वारा आहत करती है। अजातशत्रु की वीरता पर कुचक्र, स्वार्थबुद्धि और अविवेक का आवरण पड़ा रहता है। व्यतिरेक-पद्धति की दूसरी प्रक्रिया व्यक्ति-वैचित्र्यमूलक है और यह भी यथार्थवादी धारा की देन है। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'स्कन्दगुप्त' है जिसमें नायक एक साथ शम, उत्साह और रति का आश्रय बना रहता है। प्रवृत्तिगत द्वन्द्व इस नायक की नायिका देवसेना में देखा जा सकता है। प्रणय और स्वाभिमान का ऐसा द्वन्द्व कदाचित् हिन्दी नाटकों में अन्यत्र न मिलेगा। यदि दोनों के आश्रय भिन्न होते, तो नाटक करुण-शमान्त न होकर वीर या शृंगार प्रधान होता। ऐसा न होने के कारण ट्रैजिक अन्त अपरिहार्य था। चाहें तो इसे सर्वगुण-सम्पन्न त्रासदी नायकों का 'ट्रैजिक एरर' या 'एमोप्टिया' मान सकते हैं। स्कन्द में उसकी विरक्ति-मूलक उदासीनता और देवसेना में अतिशय स्वाभिमान ट्रैजिक चरित्र-दोष के रूप में देखे जा सकते

हैं। विजया की महत्त्वप्रियता उसे ले डूबती है। अन्य नाटकों के प्रमुख पात्रों में भी यह दोष प्रधान या अप्रधान रूप में विद्यमान है। 'चन्द्रगुप्त' में पर्वतेश्वर का दंभ, मालविका की अतिशय अच्छाई तथा कल्याणी का व्यक्तिगत स्वाभिमान ट्रैजिक चरित्र-दोष ही हैं जो उन्हें विनाश तक ले जाते हैं। प्रसाद ने अधिकतर इस चरित्र-दोष का परिणाम दुःखभोग दिखाया है। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार और प्रसेनजित अपने राज्यमोह के कारण प्रताड़ित होते हैं। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में नायक अपनी क्रोधान्धता और क्रूरता के कारण अनेक बार अवमानना सहता है। 'विशाख' का नरदेव भी जनमेजय की कोटि का है। इसे प्रसाद की समन्वयशील और सद्ग्रहण-वृत्ति का ही निदर्शन मानना होगा। यथार्थवादी त्रासदियों की प्रमुख चारित्रिक विशेषता उन्हें प्रिय लगी और उसे उन्होंने अपनाया, किन्तु उसका प्रयोग अपने ढंग से किया। नियतितत्त्व का अभिनिवेश भी उनकी इसी प्रवृत्ति का परिचायक है जो व्यतिरेक-पद्धति का एक शक्तिशाली उपकरण है। अपने यहाँ शैवागमों में प्रमुखतः और गौणतः बौद्धमत में नियति की अवधारणा विद्यमान है और प्रसाद ने इसे वहीं से लिया भी है। इसे संयोग ही कहेंगे कि त्रासदी के साथ भी यह नियति अनिवार्यतः जुड़ी हुई है। पाश्चात्य नाटकों के उद्गम-स्थल यूनान में यह आम धारणा थी कि मनुष्य नियति का दास है और अतिशय प्रयत्न करने पर भी वह उसके पंजों से छुटकारा नहीं पा सकता। यह विश्व-शक्ति देवताओं तक का नियन्त्रण करती है। इसके द्वारा कर्म और परिणाम पूर्व-निश्चित कर दिये जाते हैं और अपने लक्ष्य-निर्वाह में यह किसी के भी प्रति दया-माया नहीं दिखाती। कहीं यह दैवी 'ओरेकल'-भविष्यवाणी के रूप में लक्षित होती है, कहीं अन्ध होकर मनचाहा शुभाशुभ फल देने वाली और संयोगों-आकस्मिकताओं की सृष्टि करने वाली अभयदेवी के रूप में प्रकट होती है, कहीं अति के प्रति प्रतिकारशीला 'नेमिसिस' के रूप में मानवों को दंडित करती है और कहीं उभयधा व्यंग्योक्ति—आइरनी—के रूप में मानव-शक्ति का मखौल उड़ाती है। प्रसाद के नाटकों में नियति का रूप प्रायः इसी प्रकार का है। आधार-रूप में उन्होंने शैवागमों से इसे ग्रहण किया था, किन्तु नाटकीय प्रयोगों में यह स्वभावतः त्रासदी की धारणाओं से समरूप होती गई है। समस्त नाट्यकृतियों में यह तत्त्व मिलेगा। कहीं-कहीं तो इसे अतिरिक्त महत्त्व दे दिया गया है, जैसे 'जनमेजय का नागयज्ञ' में। पराक्रमी जनमेजय बराबर इस विचार से ग्रस्त रहता है कि मनुष्य प्रकृति का अनुचर और नियति का दास है। नियति-तत्त्व की यह प्रधानता मानवीय शक्ति का महत्त्व कम कर देती है और वह कठपुतली जैसा हो जाता है। नायक अथवा किसी भी अन्य नाटकीय चरित्र की यह परवश-कार्यशीलता रसानुभूति को भी प्रभावित करती है। यदि सब कुछ नियति की ही प्रेरणा से हो रहा है तो मानव के सारे भाव प्रदर्शन-रूप अथवा अवास्तविक अभिनय-मात्र हैं। यही कारण है कि 'नागयज्ञ' में वीररस अपेक्षाकृत अधिक दबा हुआ है। अन्य नाटकों में भी यह इसी प्रकार मानवीय कर्तृत्व का नियन्त्रण करती रही है। 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य के हृदय पर भारत की नियति जलद-पटल में बिजली के समान कौंधती रहती है। 'अजातशत्रु' में बिम्बसार को प्रत्येक असम्मानित घटना के मूल में इसी का बवंडर दिखाई देता है—जल में भँवर के रूप में, स्थल में वात्याचक्र, राज्य में विप्लव, समाज में उच्छृंखलता और धर्म में पाप के रूप में। कर्मठ जीवक इस नियति की डोरी पकड़कर निर्भय कर्मकूप में कूदने को तत्पर रहता है। इस नाटक में 'नेमिसिस' और 'आइरनी' का रूप भी विद्यमान है। समुद्रदत्त इस 'आइरनी' का ही शिकार बनकर नष्ट हो जाता है। बिम्बसार को इसके 'नेमिसिस' रूप का अनुभव तब होता है जब वे कहते हैं कि प्रकृति दंभी मानव को अन्धकार की गुफा में ले जाकर उसके रहस्यपूर्ण भाग्य का चिट्ठा समझाने का प्रयत्न करती है और वह

फिर भी राह पर नहीं आता । 'चन्द्रगुप्त' में दाण्ड्यायन की भविष्यवाणी दैवी 'ओरेकल' का ही एक रूप है । पूर्वाभास को इसी का एक विशिष्ट रूप कह सकते हैं जिसका इस नाटक में बाहुल्य है । संयोगतत्त्व तो प्रसाद के नाटकों का सर्वसामान्य तत्त्व है, विशेषकर परवर्ती नाटकों का । उनके जटिल और बृहत् कथानकों के निर्वहण के लिए इसकी विशेष आवश्यकता पड़ी है । 'चन्द्रगुप्त' में चाणक्य ठीक उसी समय पहुँच जाता है जब पर्वतेश्वर आत्महत्या करने जा रहा है । राक्षस भी ठीक वक्त पर पहुँच कर सुवासिनी को नन्द की कामुकता का शिकार होने से बचा लेता है । चीते से कल्याणी और चन्द्रगुप्त की रक्षा भी अकस्मात् होती है । 'ध्रुवस्वामिनी' में चन्द्रगुप्त ऐन मौके पर पहुँचकर ध्रुवस्वामिनी को आत्महत्या से विरत करता है । निश्चय ही संयोगतत्त्व के ये रूप त्रासदी के दुर्विसंयोगों से अलग पड़ जाते हैं क्योंकि वहाँ समस्त विडम्बना-विषमता आकस्मिक या कि स्वाभाविक रूप से नायक के प्रति होती है । प्रसाद के नाटकों में इसका रूप सामान्य है और इसका फलाफल किसी को भी भोगना पड़ सकता है । इसका कारण यही है कि प्रसाद त्रासदी का अन्धानुकरण नहीं करना चाहते थे । उन्हें तो समस्त नाटकीय संविधान को समरसता की ओर मोड़ना था, अतः उन्होंने रसानुभूति के सन्दर्भ में व्यतिरेक की व्यापक पद्धति अपनायी जो बहुत कुछ त्रासदी की मान्यताओं से मिलती-जुलती है और उनसे प्रेरित-पोषित होती है ।

प्रसाद प्रबुद्ध साहित्य-सृष्टा थे । उनकी मनीषा गहन और व्यापक थी । अपने देश के प्रति सांस्कृतिक आग्रह और अभिरुचि रखते हुए भी उन्होंने अन्यदेशीय विचारों तथा समसामयिक प्रवृत्तियों की अवहेलना नहीं की । ऐसा वे कर भी नहीं सकते थे, क्योंकि संतुलन और सामंजस्य उनका प्रकृतिगत वैशिष्ट्य था । यही कारण है कि सभी विधाओं में उनका कृतित्व अपनी मौलिक विशष्टता के कारण अलग दिखायी पड़ता है और नये युग का प्रवर्तन करता है । नाट्य-क्षेत्र में उन्हें पाश्चात्य त्रासदी-विषयक धारणाओं, स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों एवं यथार्थवादी विचारों ने आकर्षित किया था । जीवन के वैविध्य, वैचित्र्य और संघर्ष की वास्तविकता के प्रति वे संवेदनशील थे । अतः या तो परम्परागत रसदृष्टि का अनुसरण नहीं कर पाये, या फिर उन्होंने अपनी स्वतन्त्र दृष्टि का ही परिचय दिया । सैद्धान्तिक स्तर पर उन्होंने रसवाद का समर्थन किया अवश्य है, किन्तु उसे एक दार्शनिक मोड़ देते हुए । प्रकृत रूप में उसकी यथावत् साहित्यिक अवतारणा उनके उदार संवेदन के अनुरूप नहीं पड़ती थी । परम्परागत नाट्य-संविधान, सन्धियों, अर्थ-प्रकृतियों और कार्यावस्थाओं के सम्यक् संयोजन पर आधृत था और उसी पर रसों की निष्पत्ति निर्भर थी । पाश्चात्य नाट्य-दृष्टि के अभिनिवेश के कारण जहाँ इन तत्त्वों में विघटन हुआ, वहाँ रसानुभूति भी प्रभावित हुई । ऐतिहसिक वस्तु-विषय के साथ वैसे भी रस-दृष्टि को यथावत् रहने में असुविधा होती है । प्रसाद के नाटक तो इसके साथ-साथ स्वच्छन्दतावादी भी हैं । शेक्सपीयर ने स्वच्छन्दतावादी त्रासदियों का रूप खड़ा किया था । आगे चलकर गेटे और शिलर ने ऐतिहासिक स्वच्छन्दतावादी त्रासदी की उद्भावना की । इसमें पात्र इतिहास से चुने हुए होते हैं और उनके माध्यम से देश के तत्कालीन राष्ट्रीय, राजनैतिक व सामाजिक संघर्षों को अभिव्यंजित किया जाता है । प्रसिद्ध विचारक वॉन का कहना है कि गेटे और शिलर द्वारा उद्भावित ऐतिहासिक नाटक एक नया क्षितिज खोलते हैं जो अपनी नव्यता में नाटक के इतिहास को पीछे छोड़ देता है । प्रसाद की भी नाट्य-कृतियों ने अपनी नवीनता से नाटक के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा था और वे अपनी निजी विशेषता के साथ इस नाट्य-वर्ग में रखी भी जा सकती हैं । वही तीव्रता और उग्रता वायलेन्स, वही कर्मशील संघर्ष, वही चरित्र-चित्रण

की केन्द्रीयता, वही सम्यगनुबन्धि से मुक्ति, वही अलंकृत भाषा व ललित शैली और वही समग्र प्रभाव का गम्भीर आह्लाद इनमें भी मिलेगा जो ऐतिहासिक स्वच्छन्दतावादी त्रासदियों में मिलता है। परवर्ती रूपक 'एक घूंट' अवश्य अपने सामान्य चरित्र, सामान्य घटना, वैचारिक द्वन्द्व, व्यक्ति और समाज के घात-प्रतिघात और रंगमंचीय सरलता व प्राकृतिकता के कारण यथार्थवादी वर्ग में रखा जा सकता है। शेष सारे नाटक पूर्वोक्त वर्ग की ही विशेयेताओं से युक्त हैं और उनकी रसानुभुति भी तदनुरूप समग्र प्रभाववाद से भावित है। प्रसाद की अद्वैतपरक आनन्दवादी निष्ठा सिद्धान्त के स्तर पर उसे सामरस्य के रूप में स्वीकार करती है जिसका रसवर्गीय साधन करुणा-मूलक उदात्त शम है। भारतीय रस-सिद्धान्त की यह एक नवीन उपलब्धि कही जा सकती है जिसका विश्लेषण और प्रवर्तन प्रसाद ने ही किया था। आज उनकी स्थापना भले ही पुरानी लगे, किन्तु अद्यतन यथार्थपरक रंग-संरचना का आरंभ उन्हीं से मानना होगा।

प्रसाद के नाटकों का केन्द्रीय भाव : प्रेम

●

डॉ० स्वतंत्रता त्रिपाठी

साहित्य की सबसे बड़ी समस्या रही है कि वह किस प्रकार समाज के सामने एक सम्पूर्ण व्यक्ति की परिभाषा प्रस्तुत कर सके। समाज में रहते हुए मनुष्य को जिन स्थितियों और संघर्षों में जीना पड़ता है, वे सब मनुष्य का निर्माण करती हैं। यदि मनुष्य को एक पाषाण-खण्ड मान लिया जाये, तो जीवन के आरोह और अवरोह को उसका आकार मानना पड़ेगा। सत्य यह है कि परिस्थितियों के अनुसार एक साधारण मनुष्य में अनेक भावों का संचरण होता है। जब कोई साहित्यकार किसी व्यक्ति को चित्रित करता है, तो वह इस सत्य को नहीं नकार सकता कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में अपने भावात्मक सत्य को स्वीकार करता है। यह अलग बात है कि कौन भावों के प्रबल संघात को कौन कितना सहन कर पाता है और कौन उनके सामने कितना झुक जाता है। यदि 'प्रसाद' के नाटकों का गहन अध्ययन करें, तो ऐसा लगता है कि उनमें भावों के सत्य को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है, वरन् यहाँ तक कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' के नाटकों की समस्त ऐतिहासिकता, मानवीय भावों का स्पष्टीकरण करने के लिए साधन रूप में प्रयोग की गई है।

'प्रसाद' के नाटकों का मुख्य भाव 'प्रेम' है। उनके नाटकों में प्रेम-सम्बन्धी विविध स्थितियाँ सामने आती हैं—सफल प्रेम, असफल प्रेम, दम्पति का प्रेम, स्वच्छन्द प्रेम, सात्त्विक प्रेम, वासनात्मक प्रेम, बाल्यावस्था से प्रारम्भ प्रेम एवं प्रथम दर्शन से उत्पन्न प्रेम। इन सभी अवस्थाओं पर नाटककार ने किसी न किसी पात्र के माध्यम से विचार किया है। 'प्रसाद' ने प्रेम में त्याग, संयम, स्मृति, उन्माद, आकांक्षा, उपालम्भ, आशा, निराशा, संयोग और वियोग आदि का वर्णन किया है। वैसे तो प्रेम के अन्तर्गत वात्सल्यात्मक प्रेम, माता-पिता के प्रति प्रेम, गुरु-प्रेम, भाई-बहन का प्रेम, देश-प्रेम, प्रकृति-प्रेम, मानवता के प्रति प्रेम और ईश्वर-प्रेम आदि को भी संग्रहीत किया जा सकता है, लेकिन 'प्रसाद' के नाटकों में मुख्य प्रेम का भाव और देशप्रेम है। 'प्रसाद' के नाटकों के सन्दर्भ में विशेष रूप से यही दो रूप विचारणीय हैं।

'प्रसाद' की प्रेम-सम्बन्धी भावना पर छायावादी प्रभाव है। 'प्रसाद' के नाटकों में प्रेम गंगा की भाँति-हिलोरें ले रहा है। अन्य भावों की विशाल अथवा क्षीण धाराएँ उसमें से ही फूटी हैं और पुनः उसी में विलीन हो गई हैं। प्रसाद के नाटकों में प्रेम ही पात्रों का रहस्यवाद बन जाता है, प्रेम ही नियति की डोरी में बँध कर भटकता है। प्रेम ही नाटकों के घुटन, कसक, पीड़ा, रुदन, प्रेरणा, दया, करुणा, त्याग और तितिक्षा आदि भावों के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

'प्रसाद' के अनुसार—"सबके जीवन में एक बार प्रेम की दीपावली जलती है अवश्य और आलोक का वह महोत्सव आता है जिसमें हृदय हृदय को पहचानने का प्रयत्न करता है, उदार

बनता है और सर्वस्व दान करने का उत्साह रखता है।"[१] प्रसाद के नाटकों में पुरुष पात्र प्रेम के समक्ष अपने को अत्यन्त विवश और असहाय अनुभव करता है। जिनकी तलवारें रणक्षेत्र में आग उगलती हैं, वे भी प्रेम-वीणा की मधुर झन्कार में डूबे रहते हैं। प्रेम के 'अतीन्द्रिय लोक' में वह शक्ति नहीं रहती जो सब कुछ तहस-नहस कर दे, अथवा प्रेम की असफलता में पात्र 'प्रबल-हुंकार' भरें। 'प्रसाद' के आदर्श प्रेमी अपने प्रेम-राज्य में स्वयं जीते हैं, उसमें अपने प्रेमी को सशरीर लाने की आकांक्षा नहीं करते। प्रेम की परिस्थितियाँ यदि प्रतिकूल हुईं तो विरक्त होकर वे अपने प्रेम के साकार स्वरूप को निराकार में परिवर्तित कर देते हैं।

नाटकों के नारी पात्र प्रेम को गुटक कर अन्तरतम तक स्नेहाप्लावित रहते हैं। प्रेम से जो वंचित हैं, उनके लिए प्रसाद की स्पष्ट अभिव्यक्ति है कि वे मनुष्य नहीं हैं, आन्तरिक प्रेम की शीतलता ने उन्हें कभी स्पर्श नहीं किया। नारी अपने प्रेम के लिए प्राणोत्सर्ग करने में भी नहीं चूकती, वही नारी अपने प्रेम की रक्षा के लिए भयानक और क्रूर हो जाती है, हत्याओं, उच्छृं-खलताओं में भरपूर सहयोग देती है और ईर्ष्या एवं क्रोध की ज्वाला में जलने लगती है।

स्त्री और पुरुष, दोनों में एक ऐसा वर्ग है जो मात्र शारीरिक/वासनात्मक प्रेम को ही जीवन-सर्वस्व मानता है। नन्द, पुरुगुप्त, नरदेव, विकटघोष, विरुद्धक, लालसा, विजया, सुरमा आदि ऐसे पात्र पतन की सीमा पर जाकर स्वयं अपना परिष्कार करते हैं।

प्रेम की अनेक कोटियों में भी प्रसाद की मूल दृष्टि अतीन्द्रिय प्रेम की है। पवित्र गंगा-सा पावन प्रेम समस्त विकारों को बहाता हुआ, शीतलता प्रदान करता है, उसमें ज्वाला का कहीं नामोनिशान नहीं है। ज्वाला है तो केवल उन पात्रों में जिनका मन महत्त्वाकांक्षा और तृष्णा के कारण कभी एक को पाना चाहता है, कभी दूसरे को।

प्रसाद को प्रेम का उदात्त स्वरूप ही स्वीकृत है। निष्काम और इच्छारहित प्रेम अध्यात्म की कोटि में आ जाता है। हृदय में प्रेम की उत्कट अभिलाषा होने पर भी प्रेमी को कर्तव्य के प्रति सजग रहने को प्रेरित करने वाला प्रेम पवित्र और स्निग्ध होता है।

'प्रसाद' ने प्रेम की सभी स्थितियों को नापा-तोला है, उनकी अपनी सहानुभूति किन्हीं विशिष्ट पात्रों के प्रति है। 'प्रसाद' के नाटकों से यदि प्रेम के स्थल निकाल दिये जायें तो नाटक निष्प्राण हो जायेंगे। नाटकों में प्रेम के कारण ही गति और भावों का प्रसार है।

'प्रसाद' की प्रेम-सम्बन्धी धारणाओं का पृथक्-पृथक् अवलोकन करने से प्रेम की विभिन्न स्थितियाँ स्वतः स्पष्ट हो जाती हैं।

प्रसाद के नाटकों में अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ प्रथम दर्शन से ही प्रेम का प्रारम्भ होता है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, सिंहरण और आम्भीक के रोषमय वर्तालाप के बीच अलका पहुँचकर जहाँ उनके बीच समझौता कराती है, वहीं सिंहरण के प्रति अपने को आकर्षित अनुभव करती है, सिंहरण भी उसके 'स्नेहानुरोध' को स्वीकार कर गान्धार छोड़ने को प्रस्तुत हो जाता है।[२] 'स्कन्धगुप्त' के विजया और स्कन्धगुप्त का परस्पर आकर्षण भी प्रथमाकर्षण व्यक्त करता है।[३] यद्यपि यह अनुराग अन्यत्र केवल विजया की वासना की ओर संकेत करता प्रतीत होता है, सात्त्विक प्रेम की ओर नहीं। 'अजातशत्रु' में राजकुमारी वाजिरा का अजातशत्रु की ओर मुग्ध-भाव से देखना[४], 'राज्यश्री' में सुरमा का देवगुप्त के प्रति[५], विशाख नाटक के नायक का चन्द्रलेखा के प्रति[६] प्रेम प्रथम दर्शन का प्रेम है। इस तरह के प्रेम में सौन्दर्य-आभा की कल्पना में बँधा पात्र सम्पूर्ण जीवन समर्पण करने को तत्पर रहता है।

प्रेम का एक ऐसा वर्ग है जहाँ स्पष्टतः यह प्रकट नहीं हो पाता कि पात्रों के बीच प्रेम का कोई स्रोत है भी अथवा नहीं; बस ऐसा जान पड़ता है एक आकर्षण एक ऐसा सम्मोहन है जहाँ दो मधुरहृदयी एक-दूसरे के सान्निध्य से हृदय की शीतलता का अनुभव करते हैं। मालविका के हृदय में वेदना और टीस है, किन्तु वह उसे अभिव्यक्त नहीं करना चाहती, शायद स्वयं से भी छिपाकर रखना चाहती है; दूसरी ओर चन्द्रगुप्त उसके सम्मोह में बँधा, युद्ध में जाने के पूर्व उसका गान सुनने का मोह नहीं रोक पाता। जब भी चन्द्रगुप्त उद्विग्नता का अनुभव करता है, मालविका के पास चला जाता है और कह उठता है—'मेरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिकृति हो। देखो, मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं। मेरे हृदय में कुछ है कि नहीं, टटोलने से भी नहीं जान पड़ता।'[७]

सम्मोहन की कोमलता तभी बनी रह सकती है जब पात्र किसी के हृदय की अनुभूति को हृदय तक ही सीमित रहने दे। आकषण का ढिंढोरा पीटने वाले पात्र सम्मोहित कहे ही नहीं जायेंगे। 'प्रसाद' ने सम्मोहित दशा को विशुद्ध प्रेम के अन्तर्गत रखा है।

'प्रसाद' के नाटकों में अनेक ऐसे पात्र हैं जो बाल्यकाल के प्रेम को सँजोए रहते हैं, चाहे हृदय में प्रेम की अभिलाषा विस्मृति के किसी कोने में दब गई हो, फिर भी अपने बाल्यसखा को एक बार फिर अपने सामने देखकर अन्तःकरण की हलचल को रोक नहीं पाते। चाणक्य के मन पर कुसुमपुर देखते ही बाल्यकाल की लहरें हिलरें लेने लगती हैं। जब उसने सोचा था—'कोई सुन्दर मन उसका साथी हो...... ...और मन में सर्वस्व लुटा देने की सन्नद्धता थी।'[८] किशोरावस्था का प्रेम यौवनकाल के प्रेम से कहीं अधिक गम्भीर होता है, प्रेम की नन्हीं-नन्हीं जड़ें पूरे हृदय में फैल कर छा जाती हैं। 'प्रसाद' के नाटकों में बाल्यप्रेमियों के युग्मों को प्रायः सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

प्रेम का हृदय की गहराई तक न पहुँचकर केवल शरीर के स्पर्श या सान्निध्य से ही सुख का अनुभव और प्रेमानुभूति करना शारीरिक प्रेम है। प्रेम के ऐसे वासनात्मक क्षणों को 'प्रसाद' ने केवल 'मंच-संकेत' से ही अभिव्यक्त किया है। 'प्रसाद' ने वासनात्मक प्रेम को निकृष्ट माना है।

प्रेम दो हृदयों के बीच जलने वाली स्वर्गीय ज्योति है, किन्तु कहीं-कहीं प्रेम की धारा एक हृदय से ही फूटती है, सम्पूर्ण तन-मन को आप्लवित कर वहीं तिरोहित होकर रह जाती, है। दूसरे प्रेमी-हृदय पर प्रेम के एक-दो छींटे ही पड़ते हैं। आवश्यक नहीं कि उसे वह प्रेमपूर्वक ग्रहण करे। ऐसा प्रेम जहाँ है, उसे एकपक्षीय प्रेम के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

फिलिप्स के मन में कार्नेलिया के प्रति भावनाएँ हिलोरें मारती हैं। वह उसमें कार्नेलिया को भी समेटना चाहता है और कार्नेलिया के महत्त्व न देने पर कहता है—'कुमारी, तुम क्या मेरे प्रेम की हँसी उड़ाती हो?'[९] परन्तु फिलिप्स के प्रेम की प्रस्फुटित पंखुरियाँ कार्नेलिया उदासीनता से मसल कर फेंक देती है। 'प्रसाद' के नाटकों में एकपक्षीय प्रेम कहीं भी सफल नहीं हुआ। फिलिप्स, पर्वतेश्वर, विरुद्धक, श्यामा, नरदेव, शान्तिदेव का चरित्र दृढ़ और स्थायी नहीं कहा जा सकता। प्रेम में स्थायित्व और दृढ़ता होने पर वह दूसरे पक्ष को भी अवश्य प्रभावित करता है। रूप और वैभव का आकर्षण क्षणिक होता है।

प्रगाढ़ प्रेम सात्त्विक और स्थायी होता है। प्रगाढ़ प्रेम आँधी की भाँति, उथल-पुथल मचाकर समाप्त नहीं हो जाता। हृदय में मन्द-मन्द प्रकाश फैलाकर अपने आराध्य की प्रेम-मूर्ति

में घुल-मिल जाता है। प्रेम का यह स्वरूप देवत्व गुणों से पूर्ण होता है। प्रेम विघ्न और विपरीत परिस्थितियों में भी समाप्त नहीं होता, वरन् और भी प्रगाढ़ हो जाता है। सिंहरण और अलका का प्रेम, ध्रुवस्वामिनी और चन्द्रगुप्त का प्रेम इसी तरह का प्रेम है।

प्रेमी-प्रेमिकाओं के अतिरिक्त दम्पति के अनेक जोड़े हैं जो विभिन्न परिस्थितियों में रख कर नापे-तोले गये हैं। 'प्रसाद' के नाटकों में पति-प्रेम का भाव अस्पष्ट है। गृहस्थी की सुख-शान्ति के लिए पत्नी को प्रसन्न रखा गया है या वासना-तृप्ति के लिए। कहीं-कहीं पत्नी से अधिक पति में प्रेम है, किन्तु अपवाद रूप में ही।

प्रसाद के नाटकों में प्रेम के स्थायी भाव में अन्य अनेक भाव जैसे, आकांक्षा, उलाहना, व्यंग्य, आग्रह, कसक, प्रशंसा, त्याग, निराशा, ऊहापोह, गर्व, क्षुब्धता एवं शंका आदि तरंगों की भाँति उठकर उसी में विलीन हो जाते हैं। कहीं यह भाव प्रेम को पुष्ट करते हैं, कभी प्रेम की निर्बलता के कारण ही उदित होते हैं।

यदि देवसेना सारी अनुकूलता के होते हुए भी अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए चन्द्रगुप्त का प्रस्ताव ठुकरा देती है, तो भी त्याग के आधार पर हम उसे एक प्रभावशाली चरित्र ही मानते हैं। प्रश्न केवल परिस्थितियों या केवल भावों का ही नहीं है, किस परिस्थिति में, किस भाव ने चरित्र को कितना उभारा है, इसका है।

कुछ आदर्शवादी लेखक जानबूझ कर अच्छे और बुरे भावों का बँटवारा करके अपने पात्रों का निर्माण करते हैं, इससे नाटक की संघर्षशीलता को आघात पहुँचता है, क्योंकि एक बार जो पात्र बुरा घोषित कर दिया गया, उसके सारे क्रिया-कलाप उस बुराई को उभारने में सहायता ही देंगे। प्रसाद के पात्र गन्दी से गन्दी प्रवृत्तियों के शिकार होकर भी अपने चरित्र को अच्छा बनाने में सक्षम होते हैं, इसीलिए 'प्रसाद' ने प्रेम की जिन विभिन्न स्थितियों का चित्रण किया है, उससे उनके नाटकों में प्रवाह आया है और चरित्रों में स्वाभाविकता।

प्रेम का दूसरा रूप है 'देश-प्रेम'। 'प्रसाद' के नाटकों में देश-प्रेम की भावना बड़ी निर्द्वन्द्वता से बह रही है। उनके अनेक पात्र इसी भावना में डूबे अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं। इसके लिए यह आवश्यक नहीं कि देश-प्रेमी प्रत्येक क्षण अपनी वीरता का ही प्रदर्शन करता रहे, अपितु उसके सभी क्रिया-कलाप देश के लिए अर्पित रहते हैं।

'प्रसाद' इतिहास से उस घटना को टटोलकर लाये हैं जो उनकी अपनी भावनाओं और तत्कालीन समस्याओं में ताल-मेल बिठा सके। वैसी ही समस्याओं में से एक समस्या जातीयता की थी। प्रसाद ने इस संकुचित भावना को उभार कर देश-प्रेम में समाहित कर दिया है। दूसरी ओर 'प्रसाद' ने इतिहास के जिन पृष्ठों को पलटा, उनमें आज जैसी एक सम्मिलित भारत सरकार नहीं थी। पृथक्-पृथक् खण्ड थे और प्रत्येक खण्ड के नागरिक अपने उस विशेष खण्ड पर विमोहित थे। उसी की प्रकृति से उन्हें ममत्व था। उसकी स्वाधीनता ही वे देश की स्वाधीनता समझते थे। लेकिन 'प्रसाद' की समसामयिक स्थितियों में यह भावनाएँ बहुत पीछे छूट चुकी थीं, पूरा भारत एक होकर अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रहा था। 'प्रसाद' ने संकुचित भावनाओं को देश-प्रेम की ओर बड़ी सुन्दरता से मोड़ा है।

वैसे प्रसाद को स्वयं अपनी जन्मभूमि भारत से अगाध स्नेह था। वे उसके उत्थान-पतन से प्रभावित भी होते थे। यहाँ की प्राकृतिक छटा उन्हें प्रेरणा देती थी, इसीलिए वे यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे कि कोई विदेशी भी उनके भारत की प्रशंसा किये बिना रह सकता है। 'प्रसाद' के नाटकों में विदेशी पात्र भी भारत की प्रकृति, भारत के प्रेम, भारत की वीरता को

प्रशंसात्मक दृष्टि से देखते थे । सिकन्दर, सिल्युकस, कार्नेलिया के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से 'प्रसाद' का अपना ही देश-प्रेम था जो विदेशी पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है ।

सिकन्दर—'मैने एक अलौकिक वीरता का स्वर्गीय दृश्य देखा है । होमर की कविता में पढ़ी हुई जिस कल्पना से मेरा हृदय भरा रहता है, उसे यहाँ प्रत्यक्ष देखा ।'[१०]

स्वदेश की प्रकृति से प्रेम करने वालों की 'प्रसाद' के नाटकों में कमी नहीं है । मातृगुप्त को कश्मीर की शीतलता[११] याद आती है तो मालविका को अपने सिन्धु देश का सुन्दर पालना[१२], सन्तोष को हरे खेत, छोटी-छोटी पहाड़ियों में ढुलकते-मचलते हुए झरने, फूलों से लदे हुए वृक्षों की पंक्ति लुभाती है ।[१३]

सिंहरण अलका से कहता है, 'जन्मभूमि के लिए ही यह जीवन है । फिर जब आप-सी सुकुमारियाँ इसकी सेवा में कटिबद्ध हैं, तब मैं पीछे कब रहूँगा ।'[१४] स्कन्दगुप्त शरीर देकर भी यदि हो सका तो जन्मभूमि का उद्धार करना चाहता है ।[१५]

'प्रसाद' के नाटकों में जन्मभूमि पर निछावर होने वाले कर्तव्यपरायण पात्र ही उनके नाटकों के प्राण हैं । चन्द्रगुप्त राजा होने पर भी चाणक्य की छत्रछाया में एक आज्ञाकारी सैनिक की भाँति सदैव प्रस्तुत रहता है । सिंहरण का मंच पर आगमन ही अस्त्र-शस्त्र के पुजारी के रूप में होता है । वह भी चन्द्रगुप्त की भाँति एक वीर सैनिक की भाँति पूरे नाटक में तैनात है । चाणक्य स्वयं कभी रणभूमि में नहीं आया, लेकिन तीक्ष्ण और परिपक्व बुद्धि कूटनीतिज्ञता से औरों की प्रतिभा को जगाया और आत्म-विश्वास भरकर देश के लिए प्रस्तुत किया । स्कन्दगुप्त तो यहाँ तक कहता है—'भटार्क ! यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं—जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा ।'[१६] बन्धुवर्मा अपना सारा राज्य स्कन्दगुप्त को सौंपकर आर्यराष्ट्र का बिना दाम का सेवक बनना स्वीकार कर लेता है, तो 'पर्णदत्त' भी भीख माँग कर भी शस्त्र एकत्र करने का उपक्रम करता है ।

'प्रसाद' के नाटकों के नारी पात्र भी भारत का मस्तक ऊँचा रखने के लिए अपना राज्य, अपना कुटुम्ब छोड़कर देश के उद्धार के लिए निकल पड़ते हैं । अलका सैनिकों में जोश भरने के लिए गाती है—

> "अमर्त्य वीर पुत्र हो; दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो
> प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो ।"[१७]

तो देवसेना अपने देश के नागरिकों का ध्यान उसकी दुर्दशा की ओर आकृष्ट करती है—

> "देश की दुर्दशा निहारो तो··············"[१८]

'प्रसाद' के नाटकों में 'प्रेम' और देश-प्रेम की स्पष्ट स्थिति होते हुए भी अनेक ऐसे पात्र हैं जो प्रेम और देश-प्रेम के आन्तरिक अन्तर्द्वन्द्व में जीते हैं । राष्ट्र के आवाहन पर चाणक्य, स्कन्दगुप्त और देवसेना अपने हृदय की कोमलतम प्रेम की अनुभूति को भी हृदय से निकाल दूर फेंक देते हैं । 'ध्रुवस्वामिनी' का चन्द्रगुप्त जानता है कि उसकी उदासीनता के कारण उसकी वाग्दत्ता पत्नी ध्रुवस्वामिनी और राज्याधिकार उसे नहीं मिला, लेकिन राष्ट्र के हित के लिए वह अन्य कुछ सोचना ही नहीं चाहता । शकराज के शिविर में चन्द्रगुप्त कृत्रिम ध्रुवस्वामिनी बनकर केवल इसलिए जाता है जिससे एक ओर तो राष्ट्र की रक्षा हो सके, दूसरी ओर प्रेयसी ध्रुवस्वामिनी के सम्मान और लज्जा की रक्षा ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रसाद के नाटकों की समस्त तरंग-संकुलता प्रेम और देशप्रेम भाव के कारण है। प्रत्येक स्त्री और पुरुष पात्र अपने कर्तव्य-क्षेत्र में दृढ़ और स्थिर हैं, लेकिन प्रेम की मधुर कल्पना में पुरुष पात्र अत्यधिक भावुक हो उठे हैं। प्रसाद की अत्यधिक भावुकता और संवेदनशीलता के कारण पुरुष पात्र अन्तर्मुखी और दार्शनिक हो गये हैं जिससे नाटकों में स्नेहिल मादकता तो है, किन्तु वह उत्तेजना और प्रचण्डता नहीं है जो वीरहृदयी पुरुष पात्रों के लिए उपेक्षित है। पुरुष पात्र अपनी मोहक कल्पना से अत्यन्त असहाय और निरीह हो उठे हैं जिससे नाटकों में अस्वाभाविकता आ गई है। पात्रों की भावुकता के कारण ही घन-घोर युद्ध भी विकराल या प्रचण्ड प्रभाव नहीं छोड़ पाते।

पुरुष पात्रों की अपेक्षाकृत स्त्री पात्र अधिक दृढ़ और सजग हैं। कुछ अत्यन्त निम्नस्तरीय स्त्री पात्रों को छोड़कर अन्य सभी नारी पात्र भावुक होते हुए भी देश के प्रति कर्तव्य करने में सन्नद्ध हैं। ऐसा लगता है कि सदियों से भूली हुई नारी-क्षमता को उभारने के लिए 'प्रसाद' ने नारी पात्रों के प्रति अधिक सहानुभूति व्यक्त की है।

प्रेम और देशप्रेम का संघर्ष पात्रों के अन्तर्मन में निरन्तर चलता रहता है, उनके क्रिया-कलापों में अभिव्यक्त नहीं होता। लम्बे स्वगत कथनों से दर्शक अन्तर्द्वन्द्व का अनुभव करने की अपेक्षा उकताहट का अनुभव करता है। साहित्यिक दृष्टि से अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति प्रभाव-शाली है। प्रसाद की आदर्शवादिता को यह स्वीकार नहीं था कि पात्र प्रतिकूल परिस्थितियों में उद्विग्न हो कर चीखें-चिल्लायें। इसीलिए नाटक समाप्त होने पर दर्शक एक बोझ-सा अनुभव करता है। उसे लगता हैं, वह पात्रों को झकझोर कर जगा दे, उनमें उत्तेजना भर दे।

संदर्भ-संकेत

१. ध्रुवस्वामिनी, पृ० ५५। २. चन्द्रगुप्त, पृ० ५२। ३. स्कन्धगुप्त, पृ० ४४। ४. अजातशत्रु, पृ० ११३-११५। ५. राज्यश्री, पृ० १३। ६. विशाख, पृ० १२-१३। ७. चन्द्र-गुप्त, पृ० १६७। ८. चन्द्रगुप्त, पृ० १४१। ९. चन्द्रगुप्त, पृ० ९०। १०. चन्द्रगुप्त, पृ० १०३। ११. स्कन्दगुप्त, पृ० २३। १२. चन्द्रगुप्त, पृ० १०७। १३. कामना, पृ० ६। १४. चन्द्रगुप्त, पृ० ७१। १५. स्कन्दगुप्त, पृ० १३६। १६. स्कन्दगुप्त, पृ० १३८-१३९। १७. चन्द्रगुप्त, पृ० १७७। १८. स्कन्दगुप्त, पृ० १४०।

नाटक में दर्शक की साझेदारी

●

डॉ० अवधेश अवस्थी

जीवन के कार्य-व्यापार की अनुकृति नाटक है। कृत कार्य-व्यापार के पुनरवलोकन की अपेक्षा नाटक बनती है। इसमें नाटककार अपनी कल्पना का पुट भी देता है, पर कल्पना जीवन-आधारित ही होती है। इसी सन्दर्भ में नाटक दृश्य काव्य है और रंगमंच उसकी कसौटी है।

'रंगमंच' शब्द रंग और मंच से मिलकर बना है। रंग का अभिप्राय जीवन-व्यापारों से तथा मंच का स्थल से है। विभिन्न देश-काल और पात्रों के कार्य-व्यापार एक स्थान और सीमित काल में जहाँ प्रस्तुत किये जायँ, उसे रंगमंच कहते हैं। रूढ़ अर्थ में यह शब्द रंगशाला का बोधक बन गया। रंगशाला नाटक की कसौटी है जिस पर नाटक की परख होती है। परख करने वाला धर्मी वर्ग दर्शक है। नाटक की प्रस्तुति में उसके बिना कार्य की सफलता पूर्ण संदिग्ध है। एक नाटक की पूर्णता में विचार, लेखन, मंच-प्रस्तुति के समस्त व्यापार तथा प्रचार-प्रसार जुटाने पर भी दर्शक के अभाव में सब निरर्थक है। किसी हद तक दर्शक भी जुटाये जा सकते हैं, पर उनकी अपनी माँग पर नाटक की मंच-प्रस्तुति नाटक की पूर्ण सफलता है। अतः नाटक में दर्शक का स्थान सर्वोपरि माना जा सकता है।

भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से अब तक नाटक के सम्बन्ध में जो भी कृतियाँ लिखी गयीं, वे सभी दर्शक की महत्ता पर प्रकाश डालती हैं। पर दर्शक नाटक का अपरिहार्य तत्त्व है, इस पर पृथक् दृष्टिकोण से विचार नहीं किया गया है। आज का नाटककार इसको अधिक गम्भीरता से अनुभव करता है। नरनारायण राय ने लिखा है—''इन दिनों नाटककारों में यह अहसास काफी गहरा हुआ है कि नाटक वस्तुतः एक समूह द्वारा दूसरे समूह तक सम्प्रेषण का एक कलात्मक माध्यम है।''[1]

नाटक में जीवन घटित होता है। जीवन का अर्थ सही सन्दर्भ में गृहीत हो सके, इसके लिए परिवेश की समझ प्रस्तोता, भोक्ता और रचयिता तीनों के लिए जरूरी है। भोक्ता के लिए तो यह और भी आवश्यक है। उसकी समझ ही नाटक का मूल्यांकन करती है जो कृतिकार का पुरस्कार है। यही उसके श्रम की वास्तविक सफलता है।

दर्शक की समझ के अनेक स्तर होते हैं। वे सभी एकसाथ नाटक की सम्प्रेषणीयता का भोग करते हैं। यह अग्निपरीक्षा साहित्य की अन्य विधा के कृतिकार को नहीं देनी पड़ती है। उसका सामना एक समय में एक स्तर के पाठकों से ही होता है। वह अपनी समझ को सुधार कर भी कृतिकार के भाव को ग्रहण कर सकता है, पर नाटककार को इसका अवसर नहीं। वह एक समय और एक ही समझ में अपनी बात दर्शकों को देता है। विभिन्न स्तर के दर्शक एकसाथ ही सन्तुष्ट हों, इसके लिए नाटककार को मध्यम मार्ग अपनाना पड़ता है। उसे ऐसे दृश्यों को सजाना पड़ता है जो हर स्तर के दर्शक को मोहित कर सकें। इसके अलावा उसके पास अन्य कोई उपाय भी तो नहीं है। नरनारायण राय ने सही ही लिखा है—

"वस्तुतः रंगमंच दृश्य आयामों का एक सुसंगठित रूप है।"[२]

आज का नाटककार दर्शक की समस्या से अपरिचित नहीं है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने इसे स्वीकार करते हुए लिखा है—"व्यवहारिक स्तर पर आज नाटककार से पहले रंगशाला में दर्शक की समस्या है।"[३]

नाटककार दर्शक की अवहेलना करके अपनी मौत को ही बुलाता है। दर्शक हमारे समाज का जीता-जागता सदस्य है। समाज का जीवन ही नाट्य-लेखन बनता है। इसी अर्थ को बल प्रदान करते हुए डॉ० लाल ने लिखा है—"नाटक का सीधा सम्बन्ध हमें अपने समाज और जीवन से जोड़ना होगा। जन-समुदाय को अपने रंगमंच से जोड़ने के लिए नाटककार को स्वभावतः उन्हीं के राग-रंग में उतरना होगा।"[४] आज वही नाटक सफल है जो अपने रचयिता के भीतर को नहीं, दर्शकों के विषय, यथार्थ, भावानुभूति और दर्शन को प्रदर्शित करता है। दर्शकों के प्रति यह धारणा हिन्दी नाट्य साहित्य में ही नहीं, विश्व-रंगमंच पर उभरी है। पश्चिम के नाटककार भी इसे अनुभव करते हैं। एक पश्चिमी नाट्य-चिन्तक ने माना कि दर्शकों के प्रति सम्मान व्यक्त करना चाहिए। नाटककार दर्शक को स्वीकारे, उसे घनिष्ठ रूप से जाने, उसकी बुद्धि का सम्मान करे तथा उसकी सहभागिता को स्वीकार करे।

अपनी मंच-प्रस्तुतियों में मैंने सदैव यह अनुभव किया है कि दर्शक की आँख से देखने वाले नाटककार को कभी नीचा नहीं होना पड़ता है। अपने लेखन तथा प्रस्तुतीकरण में यही मेरी सफलता रही है। यह बात सिद्ध हो जाने पर कि नाटक में दर्शक की साझेदारी है, हम हिन्दी रंगमंच पर एक विहंगम दृष्टि डालते हैं।

हिन्दी रंगमंच का इतिहास संस्कृत रंगमंच से प्रभावित है, पर इसे उसका उत्तराधिकारी मानना ठीक नहीं है। रामलीला, कृष्णलीला, स्वाँग, भगत, नौटंकी आदि को भी हिन्दी रंगमंच पर परोक्ष प्रभाव ही माना जायगा। बंगला के लोकनाट्य यात्रा तथा पश्चिमी नाटकों का प्रभाव भी है। हिन्दी रंगमंच अपना स्वतंत्र अस्तित्व लेकर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के प्रयत्न से सामने आया। उन्होंने बंगला नाटकों का अनुवाद तथा स्वतंत्र लेखन द्वारा हिन्दी के रंगमंच का रूप उभारा। उनका 'अन्धेर नगरी' नाटक हिन्दी रंगमंच का इतिहास बनाता है। भारतेन्दु के बाद एक गतिरोध उत्पन्न हुआ जो जड़ता में परिणत हो गया। इस जड़ता को पारसी रंगमंच ने तोड़ा। यह चरम सफलता का काल है। इस रंगमंच ने जनभावना और अंग्रेजी हुकूमत के बीच अपना रास्ता बनाया। अतः यह रंगमंच एक ओर हास्य-प्रेम तथा दूसरी ओर धार्मिकता को उजागर करने लगा। राधेश्याम कथावाचक तथा आगा हश्र कश्मीरी ने जनरुचि की परख कर चरम सफलता प्राप्त की है। इस सफलता को देखकर कुछ व्यावसायिक लोग इधर मुड़े। उन्होंने धन को ही विशेष महत्त्व दिया। फलतः जनरुचि का ह्रास होते-होते आज इनके प्रति घृणा की चरम सीमा है। इससे स्पष्ट है कि जनरुचि की अवहेलना नाटक की मृत्यु लाती है। फारसी रंगमंच इसका प्रमाण है।

इस रंगमंचीय अधोगति से दुःखी होकर ही जयशंकर प्रसाद ने गम्भीर मंच देने का सफल प्रयत्न किया। इस सन्दर्भ में उन्होंने भिन्न प्रकार के दर्शकों की अवहेलना कर एक स्तर के दर्शक की ओर ही ध्यान दिया। फलतः उनके नाटक रंगमंच की कसौटी पर खरे नहीं उतरे। वह सस्ती जनरुचि से बचना चाहते थे। धीरे-धीरे उन्होंने इसे समझा और 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक की रचना कर इसके लिए मार्ग खोल दिया। लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, हरिकृष्ण प्रेमी आदि

नाटककारों ने इस दिशा में जो कार्य किया है, वह सराहनीय है। इन्होंने दर्शकों की साझेदारी के साथ ही हिन्दी रंगमंच का विकास किया है।

भारतेन्दु, प्रसाद तथा फारसी रंगमंच ने हिन्दी रंगमंच के प्रति रुचि उत्पन्न की। फलतः संरक्षणविहीन शौकिया रंगमंच विद्यालयों तथा संस्थाओं में उठ खड़ा हुआ। विश्वविद्यालयीय रंगमंच के द्वारा दर्शकों की आन्तरिक वाणी को प्रदर्शित करने का श्रेय डॉ० रामकुमार वर्मा को है। उन्होंने अपने नाटकों में दर्शकों की साझेदारी का पूरा ध्यान रखा है। बाहर पृथ्वी थियेटर, इप्टा (इंडियन पीपुल थियेटर), संगीत नाटक अकादमी, नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा ने वातावरण ही नहीं बनाया, दर्शकों की साझेदारी को पूर्ण रूप से स्वीकार किया।

स्वतंत्रता के बाद के नाटकों में यह दृष्टि खूब उजागर है। इनमें 'अन्धा युग' (धर्मवीर भारती), 'आधे-अधूरे' (मोहन राकेश), 'शम्बूक-वध' (नरेन्द्र कोहली), 'रस गन्धर्व' (मणि मधुकर) आदि प्रमुख हैं। इस दिशा में कुछ अनुवाद भी कारगर हुए हैं। इनमें हयबदन, गिरीश करनाड, 'कस्तूरीमृग', पु० ल० देशपांडे तथा अरण्यक विजय वापट प्रमुख हैं। इस प्रकार यह तथ्यपरक मान्यता अब स्वीकार्य है कि नाटकों में दर्शकों की साझेदारी प्रमुख स्थान रखती है।

संदर्भ-संकेत

१. 'आधुनिक हिन्दी नाटक : एक यात्रा दशक', : पृ० ३४६। २. 'नाटक : रचना-विधान और आलोचना के प्रतिमान'। ३. 'आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच'। ४. ''आधुनिक हिन्दी ताटक और रंगमंच', पृष्ठ १४।

अंधा युग :
दृष्टिपरक विश्लेषण

●

श्री द्वारिकाप्रसाद 'चारुमित्र'

'अंधा युग' धर्मवीर भारती की बहुचर्चित रचना है। भावबोध और शिल्प-विधान, दोनों ही दृष्टियों से इसे हिन्दी नाटक के क्षेत्र में एक नया प्रयोग माना गया है। कथावस्तु महाभारत पर आधारित है। लेकिन उसके माध्यम से समकालीन जीवन की विसंगति को—विशेषतः महा-युद्धोत्तर कालीन जीवन की विसंगति को स्वर देना लेखक का उद्देश्य रहा है। वास्तव में ऐतिहासिक या पौराणिक कथानक को आधार बनाने वाले नाटकों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उनमें किस हद तक अतीत वर्तमान-जीवन से संदर्भित होकर नई अर्थव्यंजना पा सका है।

'अंधा युग' का नाट्य-अभिप्राय तीन संदर्भों में गतिशील होता हुआ लक्षित होता है : पौराणिक मिथकीय संदर्भ, द्वितीय महायुद्ध का संदर्भ और युद्धोत्तर विसंगत जीवन का संदर्भ—राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय, दोनों स्तरों पर। एकसाथ इतने संदर्भों को समेकित करने के लिए नाटक-कार को यह आवश्यक लगा कि वह इस अंतर्वस्तु को प्रतीकात्मक एवं जटिल शिल्पतंत्र में ही ढाल सकता है। इस काव्य-नाटक का न केवल शीर्षक प्रतीकात्मक है, वरन् **कथा-स्थितियाँ और पात्र भी अलग-अलग प्रतीकार्थ** रखते हैं। इस रचना का शिल्प-विधान इतना प्रभावी है कि वह पाठक को सहज ही अपने साथ बहा ले जाता है और पाठक रचना में चित्रित यथार्थ को ही अंतिम मान बैठता है, यहाँ तक कि वह अंतर्वस्तु में निहित अंतर्विरोधों एवं उसके खतरनाक पक्षों को भी नजरअंदाज कर सकता है। इसलिए यह आवश्यक हो गया है कि इस रचना की आंतरिक तर्कपद्धति और अंतर्वस्तु में निहित उस विश्व-दृष्टि को समझा जाए जिसके जरिए समकालीन जीवन का विश्लेषण-मूल्यांकन किया गया है।

कोई 'अंधा युग' को महज मिथक या पुराण न समझ ले, इसलिए नाटक के प्रारम्भ में ही यह 'उद्घोषणा' कर दी जाती है कि "जिस युग का वर्णन यहाँ है, उसके बारे में विष्णु-पुराण में कहा गया है : उस भविष्य में धर्म-अर्थ ह्रासोत्मुख होंगे। क्षय होगा धीरे-धीरे सारी धरती का। सत्ता होगी उनकी जिनकी पूँजी होगी।" अर्थात् अंधा युग ह्रासोन्मुख पूँजीवादी संस्कृति की गाथा है। अपने आंतरिक संकट से उबर पाने में असमर्थ उस पूँजीवादी संस्कृति की कथा है जिसके बारे में भारती ने 'मानव-मूल्य और साहित्य' में लिखा है, "पश्चिम ने यह अनुभव कर लिया था कि वह एक ऐसे बिंदु पर पहुँच गया है जिसके आगे अँधेरा है, अनिश्चय है, दिग्भ्रम है। यह सिटवेल नहीं, वरन् यूरोप का मानस बोल रहा था। इस संसार का अंत हो गया है।...और जहाँ भले-बुरे के बीच की दीवार टूट गई है। जहाँ शब्द कुछ और हैं, अर्थ कुछ और। पश्चिम की समस्त व्यवस्था तूफान में पड़े ऐसे जहाज की तरह हो गई है जिसके पाल फट चुके हैं, पतवारें

टूट चुकी हैं, माझी बेकाम हो चुके हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद जिस अस्तित्ववादी विचारधारा का आकस्मिक प्रसार पश्चिम में हुआ, उसमें बार-बार जो प्रतीक प्रयुक्त हुआ है, वह इसी तूफान में ध्वस्त जहाज का।" (पृ० १९-२०)

जाहिर है कि अस्तित्ववादी विचारधारा का उदय एक तरह की निराशा की मन:स्थिति में हुआ। प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के दौरान वह जर्मनी और फ्रान्स में फैला और उसके बाद शेष यूरोपीय देशों में। यह उन बुद्धिजीवियों में फैला जो पूँजीवाद और साम्यवाद, उदारतावाद और मार्क्सवाद दोनों से निराश थे। फ्रांस में हिटलर के फासीवाद के खिलाफ़ जब क्रांतिकारी आंदोलन प्रबल हुआ, तब अस्तित्ववादी बुद्धिजीवियों का कहना था कि इस तरह के प्रयासों से कुछ न होगा—मर्यादाएँ दोनों पक्षों ने तोड़ी हैं। हमारे समक्ष कोई मुख्य मर्यादा नहीं है। कोई भविष्य नहीं है। असली समस्या है निरर्थक संसार में अपने विवेक के अनुसार अपना उद्देश्य खुद चुनना। अस्तित्ववादी चिंतन उस पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था के करुण क्रंदन की प्रतिध्वनि है जिसका कोई भविष्य नहीं है। जैसे नदी में डूबते हुए मनुष्य को लगे कि उसके साथ ही समस्त संसार का अंत सन्निकट है, वैसे ही अस्तित्ववादी बुद्धिजीवियों को भ्रम है कि विश्व का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया है। आस्था की कोई किरण शेष नहीं रही जो इस संपूर्ण विघटन से संसार को बचा सके।

'अंधा युग' पर अस्तित्ववाद का गहरा असर है। यह न केवल अस्तित्ववाद का दर्शन प्रस्तुत करता है, वरन् इसी दृष्टि से महाभारत के मिथक, द्वितीय महायुद्ध और समकालीन जीवन की वास्तविकता का विश्लेषण करता है।

'अंधा युग' का रचना-संसार एक ऐब्सर्ड संसार है जिसमें निराशा, वेदना और मूल्यहीनता का साम्राज्य है। कुंठा, निराशा, रक्तपात, विकृति, कुरूपता और अंधापन से यह संसार निर्मित होता है। अंधा युग प्रतीक है मूल्यहीनता के युग का, कलियुग का। यह द्वितीय महायुद्ध के बाद की स्थिति है : 'युद्धोपरांत/यह अंधायुग अवतरित हुआ। जिसमें स्थितियाँ मनोवृत्तियाँ, आत्माएँ सब विकृत हैं।' सवाल उठता है कि क्या यही युग की सच्ची तस्वीर है ? क्या पूरा का पूरा युग ही अंधा होता है ? क्या यह सच नहीं कि हर युग में अंधकार और प्रकाश का सत्य-असत्य का, विकासोन्मुख और ह्रासोन्मुख शक्तियों का द्वन्द्व चला करता है ? भारती की दृष्टि इस सत्य को नजरअंदाज़ कर देती है। वे युग को अंधा बताने के प्रयास में दोनों ही पक्षों को सर्वग्रासी अंधकार से—अविवेक से परिचालित मानते हैं। इस बात पर बल देते हैं कि 'धर्म किसी ओर नहीं था' और 'सब ही ये अंधी प्रवृत्तियों से परिचालित।' कारण यह कि 'अंधा युग पैठ गया था सबकी नस-नस में।' अंधायुग से तात्पर्य युग-मानस में व्याप्त उस अविवेक से है जिसकी ओर संकेत करते हुए भारती ने 'मानव-मूल्य और साहित्य' में लिखा है : "यह जो मनुष्य के अंदर उसके व्यक्तिगत व्यवहार में, मानसिक प्रतिक्रियाओं में, संस्कृति में, समाज-व्यवस्था में, इतिहास में जो अहेतुक है, अविवेकी है, असंगत है, इर्रेशनल है, वह इनके लिए आसन्न संकट बन गया था।...यह अविवेक जो उचित-अनुचित, सत्य-असत्य को एक-सा मानता है, उनके लिए गहन आकर्षण में बदल गई।" (पृ०-२२)

स्पष्ट है कि भारती की दृष्टि में युद्ध का कारण भी वस्तुगत परिस्थितियाँ नहीं। सामाजिक विषमता नहीं, वरन् अविवेक या मनुष्य की पाशविक वृत्ति है। 'हम सबके मन में कहीं अंध गह्वर है। बर्बर पशु, अंधा पशु वास वहीं करता है। स्वामी जो हमारे विवेक का।'—कवि

का अंतर्विरोध यह है कि जिस विवेक को पाशविकता के समक्ष इतना शक्तिहीन मानता है, उसे ही आगे चलकर 'मानव-भविष्य का रक्षक' भी घोषित करता है। यह अस्तित्ववादी मिथ्या मनोविज्ञान है। नीत्शे ने भी मनुष्य को मूलतः पशु—'स्वर्णाभिषेक' पशु माना था। मनुष्य को ही नहीं, नैतिकता के प्रतिमानों को भी उसने शुद्ध जैविक आधार पर विश्लेषित करने का प्रयास करते हुए कहा था कि जैविक मूल्यों की तुलना में नैतिक मूल्य भ्रामक हैं। नतीजा यह है कि नीत्शे के लिए भले-बुरे, सद्-असद में कोई फर्क नहीं रहा। मूल्यहीनता का यह दर्शन कितना खतरनाक है, इसका अंदाजा इसी बात से लग सकता है कि जर्मनी में बर्बर नाजीवाद ने अपने पक्ष में नीत्शे के दर्शन का भरपूर इस्तेमाल किया। चूँकि अच्छे-बुरे, सत्य-असत्य के फर्क को मिटा दिया गया था, इसलिए नाजियों द्वारा की गयी किसी भी हत्या या दुष्कृत्य का समर्थन आसानी से किया जा सकता था।

भारती जब लिखते हैं कि 'दोनों ही पक्षों ने तोड़ी मर्यादा', तो वस्तुतः वे भी कौरव-पाण्डव दोनों को और द्वितीय विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों और फासीस्ट देशों को एक ही लाठी से हाँकते नजर आते हैं। साथ ही वे युद्ध के बुनियादी कारणों और उन हिटलरी कौरवों के कुकृत्यों पर परदा डालते हैं जो समूचे विश्व को युद्ध की आग में झोंकने के लिए जिम्मेदार हैं। वे उन देशभक्त पाण्डवों के अनुपम साहस, त्याग और बलिदान को भी भुला बैठते हैं जो ऐब्सर्ड फासी-वाद के चंगुल से विश्व को बचाने के लिए कंधे-से-कंधा मिलाकर लड़े थे। भारती अगर महा-भारत के मिथक को तोड़ते हैं तो इसी अर्थ में।

ठीक है, मर्यादाएँ दोनों पक्षों ने तोड़ीं। किसी ने कम, किसी ने ज्यादा, लेकिन इस फर्क को भी कैसे भुला दिया जाए? भारती का सत्य इतना निरपेक्ष है कि वे पाण्डवों को भी कौरवों के स्तर पर ही उतार लाते हैं। लेकिन पूरी कृति में यह कहीं नहीं दिखा पाते कि पाण्डवों ने जो मर्यादाएँ तोड़ी थीं, वे कौरवों के अन्याय-अत्याचार से कम नहीं थीं। इसके लिए जो कल्पना-शक्ति चाहिए थी, उसे कष्ट देने की जरूरत नाटककार को महसूस नहीं हुई। मर्यादा तोड़ने से कवि का एक अभिप्राय युद्धकालीन मर्यादाओं के टूटने से है। रणभूमि में सैनिक की क्या मर्यादा होती है? किसी भी तरीके से शत्रु का विनाश। और उस स्थिति में तो और भी जब दुश्मन अधिक ताकतवर हो। उसके पास सत्ता और सेना का अपरिमित बल हो। इसलिए व्यास के कृष्ण को बार-बार कूटनीति का सहारा लेना पड़ता है। ऐसा नहीं है कि व्यास के मन में युद्ध की नैतिकता-अनैतिकता के सवाल नहीं हैं। लेकिन उनके सामने एक स्पष्ट लक्ष्य है : सत्य पक्ष को विजयी बनाना। इस उद्देश्य की प्राप्ति में अगर युद्धभूमि में कुछ मूल्य मर्यादाएँ टूटती हैं तो टूटें। उनका मूल्य गौण है। सत्य और न्याय की रक्षा उनके लिए प्राथमिक मूल्य है। भारती के पास कोई सापेक्ष दृष्टि नहीं है। इसलिए वे युद्ध मात्र को अनैतिक मानकर अरण्य रुदन करते हैं। वे महाभारत के 'विषादयोग' तक ही सीमित रह जाते हैं। युद्ध के पहले यही विषाद अर्जुन को होता है और युद्ध के बाद युधिष्ठिर को। अर्जुन का भ्रम-निवारण कृष्ण करते हैं गीता के कर्मवाद के द्वारा। युधिष्ठिर का विषाद दूर करते हैं भीष्म—राजधर्म की महिमा बतलाकर। इन दोनों की जगहों पर व्यास की प्रतिभा ने कर्मवाद का अद्भुत प्रतिपादन किया है। यह कर्मवाद जो सदियों से भारतीय जन-मानस के लिए प्रेरणा का अक्षय-स्रोत रहा है और जो राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम के दौर में भी तिलक जैसे नेताओं को प्रेरित करता रहा और उन्होंने उसका नया भाष्य किया और मदनलाल धींगरा जैसे अनेक क्रांतिकारी गीता को हाथ में लेकर फाँसी के

तख्ते पर हँसते-हँसते झूल गये, वही कर्मवाद आजादी के तत्काल बाद भारती जैसे साहित्यकारों के लिए अचानक इतना निरर्थक, निष्क्रिय कैसे हो गया, आश्चर्य है !

कोई महाभारत से कुछ भी ग्रहण करे, भारती को तो वहाँ सिर्फ 'अनासक्ति' मिलती है। यह अनासक्ति भी बड़ी विचित्र है। यह सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय, भला-बुरा सबसे निरपेक्ष बनी रहती है। वह उत्पीड़क-उत्पीडित, कौरव-पाण्डव सबकी पीड़ाओं को समान भाव से ग्रहण करती है। वह कोई पक्ष ग्रहण करने नहीं देती, क्योंकि 'अंतिम परिणति में दोनों जर्जर करते हैं पक्ष चाहे सत्य का हो अथवा असत्य का।' अतः कोई भी पक्ष मत लो, तटस्थ हो जाओ। सत्य का पक्षधर युयुत्सु बुरी तरह टूट जाता है। कृष्ण खलनायक बन जाते हैं। गांधारी के शब्दों में—'जिसको तुम कहते हो प्रभु / उसने जब चाहा मर्यादा को अपने ही हित में बदल लिया / वंचक है।' और दुर्योधन की जाँघ टूटने के बाद बलराम की भर्त्सना तो कृष्ण को ऐसा निरुत्तर कर देती है कि इस पूरे महायुद्ध में तटस्थ और निरपेक्ष बने रहने वाले बलराम ही सबसे अच्छे लगने लगते हैं।

युद्ध के सवाल को लगभग इन्हीं दिनों दिनकर भी 'कुरुक्षेत्र' में उठा रहे थे। दिनकर की रचना अधिक प्रभावी, अधिक प्रासंगिक क्यों है ? बात यह है कि उसमें एक स्पष्ट मूल्य-दृष्टि विद्यमान है। दिनकर पौराणिक मिथक को आधुनिक संदर्भों में भी अर्थवान बना देते हैं। युद्ध के बाद युधिष्ठिर के विषाद का निवारण करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :

> छीनता हो स्वत्व कोई और तू,
> त्याग तप से काम ले, यह पाप है
> पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे,
> बढ़ रहा तेरी तरफ़ जो हाथ है।

भारती के पास यह मूल्य-दृष्टि नहीं है। वे अन्यायपरक हिंसा के विरुद्ध क्रान्तिकारी हिंसा को भी कोई महत्त्व नहीं देते। वे अहिंसावादी हैं। 'मानव-मूल्य और साहित्य' में वे साध्य-साधन की पवित्र एकता वाले तर्क को दूर तक खींचते हुए कहते हैं कि अगर हमने लक्ष्य की प्राप्ति में कूटनीति और हिंसा का सहारा लिया तो 'हमारा आचरण हमारे द्वारा स्वीकृत मूल्य पर आधारित नहीं रहा, वह तो प्रतिपक्षी का जवाब देने के लिए उसी के साधन द्वारा अनुशासित विवेक हो गया।' (पृ० ६२) गांधी-विनोबा की साध्य-साधन की एकता वाले सिद्धांत को वे अंतिम ओषधि बताते हैं और कृष्ण द्वारा उपादिष्ट निष्काम कर्म की मूल्य-मर्यादा को नए ढंग से विकसित करने की जरूरत पर बल देते हैं। (पृ० १२२)

लेकिन क्या भारती के लिए वस्तुतः साध्य-साधन का सवाल कोई महत्त्व रखता है ? साधन की पवित्रता-अपवित्रता का सवाल तो तब उठता है जब कोई स्पष्ट लक्ष्य हो। और लक्ष्य का सवाल सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय से निरपेक्ष नहीं रह सकता।

'पश्यन्ती' में भारती लिखते हैं : 'कवि के लिए अच्छे-बुरे की रेखा बिलकुल अनिश्चित हो गई है।' (पृ० ६०) कहना न होगा कि यही वह धुँधली, निषेधवादी दृष्टि है जो 'अंधा युग' में आद्यन्त व्याप्त है। उद्देश्य है अनास्था का, मूल्यहीनता का प्रचार। इसका गहरा असर कृति के चरित्र-विधान, घटना-संयोजन, संक्षेप में रचना के पूरे शिल्प-तंत्र पर देखा जा सकता है।

ऐसा लगता है जैसे 'अंधा युग' के पात्र, नाट्य-स्थितियाँ, घटना-क्रम, सभी नाटककार के विचारों का वहन करने के लिए साधन बनकर आते हैं। वे जीवन की सहज नाट्य-स्थितियों में

स्वतः उद्भूत नहीं होते । लेखक जब चाहता है, उन्हें खुला छोड़ देता है । प्रसिद्ध नाट्य-समीक्षक सुरेश अवस्थी के शब्दों में—'नाटक के पात्र वस्तु-व्यापार के स्वतंत्र कर्ता-भोक्ता नहीं लगते—सभी पात्र अपनी विशिष्टताओं में चित्रित न होकर केवल नाटककार के प्रवक्ता के रूप में ही बोलते रहते हैं और वे कभी तो नाटकीय कथा कहते हैं और कभी अनेक तरह के भावों और अनेक तरह के भावों और विचारों की प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण-उद्घाटन करते हैं—सब करते हैं, केवल सहज स्थितिजन्य संवाद नहीं बोलते ।' (पृ० ८००, विवेक के रंग)

मतलब यह कि सभी पात्र नाटककार के विचारों के प्रतीक हैं, अपनी-अपनी विशिष्टताओं में जीते-जागते इंसान नहीं ।

अंधा युग में 'संजय के रूप में भारती खुद हैं । संजय कवि का प्रतीक है । वह 'शब्दों का शिल्पी' है । तटस्थ दृष्टा है । और जैसा कि भारती 'पश्यन्ती' में खुद कहते हैं, 'संजय की तटस्थता बहुत उलझी हुई जटिल प्रक्रिया हो जाती है क्योंकि कभी-कभी संजय जो कहना चाहता है उसमें और जिन शब्दों में कहना चाहता है उनमें, संघर्ष उठ खड़ा होता है ।" (पृ० ६) वस्तुतः अभिव्यक्ति का यह संकट निष्क्रिय तटस्थता से पैदा होता है और उससे भी अधिक सत्ताधारियों के साथ जुड़े रहने से । भारती के ही शब्दों में—"अगर किसी के लिए संघर्ष से असम्पृक्त रहना आवश्यक है तो कलाकार के लिए, अगर किसी के लिए संघर्ष में डूबना आवश्यक है तो कलाकार के लिए । उसको पक्ष भी ग्रहण करना चाहिए और अपने आधे हृदय की सहानुभूति शत्रु के लिए भी सुरक्षित रखनी चाहिए ।" (पृ०१५४, मानव-मूल्य)

कहना न होना कि यह एकसाथ ही संघर्ष में डूबने और असम्पृक्त रहने, पक्ष ग्रहण करने और शत्रु को आधे हृदय से सहानुभूति देने की जो जटिल प्रक्रिया है, वह उलझाव को तो जन्म देगी ही । वह अभिव्यक्ति के संकट को ही जन्म नहीं देती, सत्य को देखने वाली दृष्टि भी हर लेती है । कर्म से तटस्थ रहने और अंधों को सत्य दिखाने की प्रक्रिया में संजय की दिव्य दृष्टि छिन जाती है । वह न तो 'रथ को आगे बढ़ा पाता है और न ही धरती का स्पर्श' कर पाता है । उसकी आत्म-स्वीकृति लाजवाब है :

> पर मैं तो हूँ निष्क्रिय
> निरपेक्ष सत्य ।
> कर्म से पृथक्/खोता जाता हूँ क्रमशः
> अर्थ अपने अस्तित्व का ।

विडम्बना यह है कि कर्म-क्षेत्र में भाग लेने वाले 'अंधा युग' के किसी भी पात्र की स्थिति उससे बेहतर नहीं है । सभी पात्र निराश होकर अन्त में अपनी-अपनी धुरी से उतर जाते हैं । सत्य का पक्ष ग्रहण करने की प्रक्रिया में युयुत्सु जर्जर हो जाता है । और अन्त में आत्महत्या कर लेता है । पाण्डवों की विजय एक "क्रमिक आत्महत्या में बदल जाती है । विदुर संशयग्रस्त हो जाते हैं । वृद्ध याचक की भविष्यवाणी झूठी सिद्ध होती है और उसकी हत्या कर दी जाती है । इतिहास-निर्माता कृष्ण 'निकम्मी धुरी' सिद्ध होते हैं और सर्वग्रासी अंधकार अन्ततः उन्हें भी लील लेता है । अपनी अंधता और बर्बरता में ही जो पात्र अधिक स्थिर लगते हैं, वे हैं गांधारी और अश्वत्थामा ।

सभी पात्रों को नाटककार ने लगभग एक ही रंग से चित्रित किया है, इसलिए कृति के रचना-संसार में एक ऐसा घमघोंट अँधेरा उभरता है कि आशा की कोई किरण नहीं दिखती ।

नेमिचन्द जैन ने सही कहा है कि "भारती अंधों के माध्यम से ज्योति की कथा कहने में अंधकार में ही उलझे रह गये हैं। नाटक में ऐसी गहरी निराशा और विवशता का चतुर्दिक् लगभग समान मर्यादाहीनता और अनैतिकता का दम घोंटने वाला वातावरण है कि अन्त में वृद्ध याचक और कथागायक का आशावाद आरोपित लगने लगता है।" (विवेक के रंग)

दरअसल, इस स्थिति के लिए जिम्मेदार लेखक का इतिहास-विरोधी चिंतन है। इतिहास-विरोध का सर्वाधिक मुखर स्वर नाटक में वृद्ध याचक के माध्यम से उभारा गया है—"झूठी थी सारी अनिवार्यता भविष्य की' अथवा 'नियति नहीं है पूर्व-निर्धारित / उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।' 'अंधायुग' के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भारती 'मानव-मूल्य और साहित्य' में लिखते हैं : "वे समस्त सिद्धान्त जो मानव-नियति को पूर्वनिर्धारित मानते हैं, मनुष्य से विकल्प की स्वतंत्रता और संकल्प की गरिमा छीन लेते हैं, फिर मनुष्य के अपने निर्णय का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, अपने विवेक की कोई सार्थकता नहीं रह जाती। हम अपनी अंतरात्मा से निर्देशित होकर अपने विवेकपूर्ण आचरण द्वारा जिस अंश तक उस नियति का साक्षात्कार करते हैं, उसी से मानव नियति सार्थक होती है, इसलिए प्रगति की जो धारणा पिछली दो-तीन शताब्दियों में विकसित हुई है, वह आज के संदर्भ में सार्थक नहीं हो सकती, इतिहास की प्रगति हमसे बाहर नहीं, हमारे भीतर घटित होती है। इसलिए प्रगति की धारणा अन्ततः आंतरिक ही होती है।" (पृ० ३६)

ध्यान देने की बात यह है कि यह भारती का निजी विवेकप्रसूत चिंतन नहीं है। उनसे बहुत पहले सार्त्र, यास्पर्स और बर्डयेव जैसे अस्तित्ववादी, वैयक्तितावादी विचारक यही बात कह चुके हैं। यहाँ पूछा जा सकता है कि 'मनुष्य की आंतरिक प्रगति' क्या बाह्य ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया से बिल्कुल ही निरपेक्ष घटित होती है? बाह्य इतिहास अपने-आप में कुछ नहीं होता—यह मनुष्य है जो उसमें अर्थ भरता है, उससे अर्थ पाता है। इतिहास निरर्थक घटनाओं और युद्धों का निरर्थक समूह भर नहीं है, वह मानवता का ही उचित दिशा में क्रमिक विकास है। इतिहास का बोध बेहतर भविष्य के निर्माण का दिशा-संकेत देता है। समाज को बदलने और बेहतर बनाने के लिए प्रेरित करता है। प्रगति की यह धारणा मनुष्य की विवेकपरक सकर्मक भूमिका को झुठलाती नहीं, उसे स्वीकार करके चलती है। मनुष्य अपने विवेक के अनुसार स्वतंत्र आचरण करे—अपनी नियति का निर्माण खुद करे, इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है? लेकिन क्या मानवीय विवेक और स्वतंत्र आचरण की कोई समाज-निरपेक्ष स्वतंत्र सत्ता है? कोई भी मनुष्य शून्य में आचरण नहीं करता, शून्य में 'अपनी नियति' का निर्माण नहीं करता। मनुष्य और समाज का, इतिहास और व्यक्ति का सम्बन्ध द्वन्द्वात्मक है, अन्योन्याश्रित है। मनुष्य का विवेक, उसका आचरण सर्वथा स्वतंत्र नहीं है, देश-काल से बद्ध है। मनुष्य की स्वतंत्रता सापेक्ष है। समाज की मूल्य व्यवस्था से—सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय की धारणा से निरपेक्ष उसकी कोई सत्ता नहीं है।

भारती की इतिहास-विरोधी दृष्टि 'अंधा युग' ही नहीं, 'कनुप्रिया' में भी उभरती है। यहाँ आते-आते वे मानवीय विवेक-बुद्धि का ही तिरस्कार करने लगते हैं। उन्हीं के शब्दों में : "जीवन के मूल विपर्यय का हल निरी बुद्धि से, निरे ऐतिहासिक चिंतन और विश्लेषण से नहीं निकल सकता। मानवता की समस्याएँ जिस अखण्ड एकता के स्तर पर हल की जा सकती हैं, वह विज्ञान अथवा तर्क का स्तर नहीं बल्कि सहज रागात्मक सम्बन्ध का स्तर है।" इसलिए 'कनुप्रिया' की राधा भी सहजता अथवा अयुक्ति के आधार पर ही समस्त को कसना चाहती है।

उसे क्षणिक सुखोपयोग के सिवाय कोई जगद्गति नहीं व्यापती। उसके लिए तो 'चरम साक्षात्कार का एक गहरा क्षण सारे इतिहास से बड़ा और सशक्त है।' 'अतीत, वर्तमान और भविष्य तीनों से कटकर केवल क्षणों में जीने वाली राधा के लिए इतिहास-निर्माण का दायित्व व्यर्थ है, निरर्थक है।

'कर्म, स्वधर्म, निर्णय दायित्व / मैंने भी गली-गली सुने हैं ये शब्द। अर्जुन ने इनमें चाहे कुछ भी पाया हो / मैं इन्हें सुनकर कुछ भी नहीं पाती प्रिय।'

उसके लिए इतिहास केवल युद्ध है—'युद्ध की अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएँ।' इस तरह 'अंधा युग' की भाँति 'कनुप्रिया' में भी इतिहास मात्र अमानुषिकता एवं युद्ध-बर्बरता के रूप में प्रस्तुत हुआ है। कनुप्रिया स्वप्न में देखती है कि कृष्ण का इतिहास-निर्माण व्यर्थ हो गया है। जनसमूह की लहरें उनके नियन्त्रण से बाहर हो गई हैं और कृष्ण थककर, हार कर कनुप्रिया के वक्ष के गहराव में अपना चौड़ा माथा रखकर सो गए हैं। उन्हें स्वधर्म, न्याय-अन्याय, सद्-असद की कोई कसौटी नहीं मिलती। निराशा की मनःस्थिति में उन्हें मधुर संदेश सुन पड़ते हैं—'सो जाओ योगिराज ! जागरण स्वप्न है, छलना है, मिथ्या है। निद्रा समाधि है।' और कृष्ण असफल इतिहास को जीर्ण वसन की भाँति त्याग देते हैं. राधा के लिए पुनः एक 'गहरी पुकार' बन जाते हैं। कहना न होगा कि इस तरह भारती पाठक की जाग्रत, सक्रिय चेतना को सुलाने के लिए अस्तित्ववादी क्षणवाद की फंतासी खड़ा करते हैं, कृष्ण और राधा को युगीन सन्दर्भों में नई अर्थवत्ता देने के बजाय पश्चिमी पतनशील दर्शन को भारतीयता के मुलम्मे में पेश करना चाहते हैं।

विचारणीय सवाल यह है कि 'अंधा युग' का रचनाकार क्या महाभारत के पात्रों को आधुनिक सन्दर्भों में जीवंत एवं अर्थवान बना पाया है ? क्या वह पुराण में इतिहास और मिथक में यथार्थ खोज पाया है ? महाभारत के पात्र कर्म-प्रवाह एवं दुर्निवार घटना-चक्र में इस तरह गूँथ दिए गये हैं कि जीवन की संघर्षशीलता के साथ ही उनका दुखतत्त्व अपने उत्कट रूप में प्रकट होता है। भले ही नियति का खेल महाभारत की कथा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूत्र हो, लेकिन मनुष्य की मानवीयता को, उसकी कर्मशक्ति में अदम्य आस्था को व्यास कभी नहीं भूल पाते। दैवी अंश से युक्त पात्र भी यहाँ मनुष्य बनकर आते हैं—सदोष मनुष्य। वे हर पात्र को मानवीय दुर्बलताओं के साथ चित्रित करते हैं—सुन्दर और कुरूप, कोमल-कठोर दोनों रंगों में। महाभारत में धृतराष्ट्र और गांधारी ऐसे लोग हैं जो वत्सल पिता की निर्मम नियति ढोते हैं। दुर्योधन के कुकर्मों पर खीझते हैं, शर्म से झुक जाते हैं। पुत्र-मोह के चलते कुछ कर नहीं पाते हैं। लेकिन 'अंधा युग' में वे केवल सत्ता की अंधता के प्रतीक भर हैं। महाभारत के कृष्ण ईश्वर होते हुए भी मनुष्य हैं, महान् कूटनीतिज्ञ और राजनेता हैं। और कूटनीतिज्ञ मनुष्य की सफल भूमिका का निर्वाह कर अन्त में एक साधारण मनुष्य की तरह ही मौत का वरण करते हैं। लेकिन 'अंधा युग' के कृष्ण ऐसे अतिमानव हैं जो सबको मरवाकर उनकी पीड़ाओं को समान भाव से ग्रहण करते हैं और अन्त में सबका दायित्व लेकर स्वर्ग चले जाते हैं। 'अंधा युग' के पात्र न तो जीवन्त लगते हैं और न ही आधुनिक। वे या तो लेखक के हाथों की यंत्रचालित कठपुतलियाँ बन जाते हैं अथवा क्रूर नियति के हाथ का खिलौना—कोई भूत-प्रेत बनकर पुनः स्टेज पर आ धमकता है तो कोई 'आत्महत्या का शिलाद्वार खोलकर अंधी गुफाओं' में भटकने लगता है। यही वजह है कि पाठक नाट्यानुभूति में डूबता-उबरता नहीं; समस्त खेल कौतूहल बनकर रह जाता है। दरअसल, नाटक का स्थापत्य बहिर्द्वन्द्व अथवा अन्तर्द्वन्द्व की मजबूत बुनियाद पर निर्मित ही नहीं है। नाटक की

बुनियाद मूल्यहीनता का दर्शन है। नाट्य-शक्ति और नाट्य-अनुभूति के विघटन का कारण भी वही है।

सबसे अधिक जीवन्त और युगीन पात्र अंधायुग के दो प्रहरी हैं। लेकिन वे कथा-गायकों की तरह ही नाटकीय क्रिया-व्यापार से अलग, तटस्थ द्रष्टा मात्र हैं। प्रहरी सामान्य जनता के प्रतीक हैं। वे दूसरों द्वारा लादे गये निर्णय के बोझ को ढोते हुए जीवन की निरर्थकता को बड़ी गहराई से महसूस करते हैं। इसके अतिरिक्त संघर्ष की कोई प्रेरणा उनमें नहीं है। वे केवल दास हैं।

'हम जैसे पहले थे / वैसे ही अब भी हैं / शासक बदले / स्थितियाँ बिल्कुल वैसी ही हैं / इससे तो पहले के ही शासक अच्छे थे / अंधे थे / लेकिन वे शासन तो करते थे।······हमको तो अन्न मिले / अंधे आदेश मिलें / नाम उन्हें चाहे हम युद्ध दें या शांति दें। जानते नहीं ये प्रकृति प्रजाओं की।'

यह स्थिति की विडंबना हो सकती है। लेकिन इसके अतिरिक्त भी जनता की प्रकृति में बहुत कुछ है जिसे नाटककार स्वीकार करना नहीं चाहता। क्योंकि उसे स्वीकार करने का अर्थ है पूँजीवादी व्यवस्था की अनिवार्य नियति—उसके विनाश को स्वीकार करना। अतः 'अंधा युग' ह्रासोन्मुख पूँजीवादी संस्कृति की गाथा ही नहीं, मूल्यांधता का दर्शन है। रूप-विधान और काव्य की दृष्टि से चाहे जितना सम्मोहक लगे, लेकिन वर्तमान सन्दर्भ में उसकी प्रासंगिकता संदिग्ध है।

●

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण' तक का सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य : नारी-समस्या के विशेष संदर्भ में

●

डॉ० आशा गुप्त

आधुनिक नाटककारों में सुरेन्द्र वर्मा एक समर्थ हस्ताक्षर के रूप में भलीभाँति प्रतिष्ठापित हो चुके हैं। कई अच्छे नाटक लिखकर उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि वह अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में गम्भीर हैं, परिश्रमी हैं, दायित्व का अनुभव करते हैं। नींद क्यों रात भर आती नहीं, द्रौपदी, आठवाँ सर्ग, छोटे सैयद बड़े सैयद, सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक आदि अनेक नाटक प्रकाशित हो चुके हैं, अभिनीत हो चुके हैं और प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं।

सुरेन्द्र वर्मा आधुनिक सामाजिक पृष्ठभूमि पर पैनी नजर रखने वाले नाटककार हैं। वे कथानक कहीं से भी क्यों न उठाएँ, समसामयिक संस्कारहीन भौतिकवादी दृष्टि पर प्रहार वे अवश्य करते हैं और बड़े सशस्त्र मनोवैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के साथ करते हैं। समाज के नैतिक मूल्यों के नाम पर खोखलापन, व्यक्ति का परिस्थितियों के दबाव में खण्डित होना, विवशताओं के परिणामस्वरूप प्राप्त टूटन और कुण्ठा, पारिवारिक विघटन, उदात्त जीवनादर्शों के अभाव में भटकता मनुष्य, अतृप्त, अशांत, तनावग्रस्त मनुष्य-मन की जटिल समस्याएँ, ये सब सुरेन्द्र वर्मा के नाटककारों में छोटे पैने चुटीले संवादों के तीर बनकर दर्शक/पाठक पर सीधे मर्माघात करती हैं।

सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक तीन, १९७५ ई० में प्रकाशित हुआ। यह तीन अंकों में विभाजित ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा एक ऐसा नाटक है जो स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की विडम्बना को सीधे सामने रखता है, बिना किसी आवरण के।

आलोच्य नाटक अपनी कथा, कथ्य, संवादों सभी से चौंकाता है। नियोग-जैसा बीहड़ विषय जो भारतवर्ष की शास्त्रीय परम्परा के अनुसार अनुमोदित था, उसे छूना आग छूना है। और सुरेन्द्र वर्मा ने उस आग को छुआ ही नहीं, इस नाटक में पकड़ लिया है—और पढ़ने वाले/देखने वाले से भी कहा है—लो पकड़ कर देखो इस आग को कैसे जलाती है—जरा देखो तो छूकर ही, जरा हाथ में पकड़ कर देखो।

शीलवती का उपपति का चुनाव उसका प्रतोष के साथ पूरा अनुभव और उस अनुभव के सम्बन्ध में उसकी निस्संकोच बेबाक अभिव्यक्तियाँ बहुत ही बीहड़ हैं। कलात्मक दृष्टि से नहीं, भारतीय समाज के, इन सब बातों के सम्बन्ध में दरिद्र चिन्तन की दृष्टि से। पुरुष के पौरुष पर प्रश्नचिह्न श्री जयशंकर प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में अपने ढंग से लगाया था, लेकिन ढिंढोरा

नहीं पीटा था, केवल शास्त्र की सम्मति लेकर उसके मोक्ष का विधान प्रस्तुत किया था, लेकिन यहाँ सुरेन्द्र बाकायदा उसकी डोंडी पिटवाते हैं···उद्घोषक पुकार-पुकार कर कहता है —'मल्ल राज्य के हर नागरिक को···सूचना दी जाती है···कि आज से ठीक एक सप्ताह बाद, पूर्णमासी की संध्या को···राजमहिषी शीलवती धर्मनटी बन कर···राजप्रांगण में उतरेंगी । मल्ल राज्य के हर नागरिक को···प्रत्याशी बनकर···पधारने का आमंत्रण है । राजमहिषी शीलवती···अपनी इच्छा के अनुसार···किसी भी नागरिक को एक रात के लिए···सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक—उपपति के रूप में चुनेंगी ।'

ओक्काक के मनस्संघर्ष की अभिव्यक्ति इस नाटक की एक बड़ी उपलब्धि है । महामात्य महसरिका को आदेश देते हैं—

'आज सारी रात तुम महाराज के साथ रहना । उनका मन बहुत अस्थिर है । कहीं कुछ कर न बैठें !'

महसरिका देखती है—आज महाराज क्लांत हैं । इन्हें विश्राम की आवश्यकता है, निद्रा की, तन्द्रा की, विस्मरण की आवश्यकता है । और ओक्काक न सो पाता है, न भूल पाता है । उसका चित्त सारी रात छटपटाता रहता है ।

ओक्काक अपने विक्षिप्त भाव के कारण महाबलाधिकृत, राजपुरोहित और महामात्य के पूर्ण पुरुषत्व पर व्यंग्य करता है । वे तीनों अपनी विवशता, राजतंत्र की विवशता व्यक्त करते हैं । मल्ल राज्य की परम्परा को बनाए रखने के लिए वे राजा की पत्नी को उपपति चुनने के लिए, साधारण प्रजा की भीड़ में धर्मनटी बनकर प्रस्तुत होने के लिए विवश करते हैं ।

सारी भूमिका—कथाप्रसंग की, अत्यधिक क्रूर है । ओक्काक का नपुंसक होना, नपुंसक होते हुए भी विवाह करना । जब उसकी पत्नी - वह जैसा भी है, उसी में रमी हुई है—इस भाव में ही डूब चुकी है, तब सहसा उसको मनुष्य न समझ कर मात्र एक पशु, एक यन्त्र समझ कर एक रात्रि के लिए एक अन्य पुरुष का संवरण करने के लिए निर्मम आदेश, शीलवती का दैन्य, सभी कुछ बड़ी ही विडम्बना है, मनुष्य जीवन के संदर्भ में । शीलवती अन्तर्मुख होकर सोचती है—सोचती हूँ और काँप-काँप जाती हूँ ।·········एक अनजाना भवन·········उस भवन का शयन-कक्ष·········उस शयनकक्ष की शैया·········उस शैया पर·········बिल्कुल पहली ही भेंट—और उसी में सबसे आत्मीय सम्बन्ध·········निकटता की चरम सीमा·········भग्नता का अन्तिम सोपान·········

भारतीय संस्कृति जितनी ही छुई-मुई रही है, उतनी ही विद्रोही और समन्वयात्मक भी रही है । स्त्री-सम्बन्धों मर्यादा के सम्बन्धों में वैदिक काल की मान्यताएँ, महाभारत-काल की घटनाएँ, गुप्त-काल के प्रसंग, बौद्धों के विहारों की भिक्षुणियाँ, तन्त्र में स्त्री का प्रयोग, राजपूतों की स्त्रियों के प्रति दृष्टि, मुस्लिम काल में स्त्रियों की दशा, सन्तों की दृष्टि में नारी, भक्ति के क्षेत्र में सती-भाव, रीतिकाल की रमणी, अंग्रेजों के काल में शिक्षा के परिणाम-स्वरूप स्त्रियों की बदलती स्थिति, स्वतन्त्रता-संग्राम में कंधे से कंधा भिड़ाकर जूझती युवतियाँ, स्वतन्त्र भारत की समानाधिकार-प्राप्त किन्तु दहेजाग्नि में जलती ललनाएँ—यह पूरा चित्र भारतीय संस्कृति के वनिता-सम्बन्धी वैविध्य, विवशता, विद्रोह, वशीकरण और बन्य प्रकृतियों का ऐसा इतिहास है जो पुरुष के बल, उसके पौरुष की विजय फिर-फिर घोषित करता है ।

पुरुष के पास स्त्री को संतुष्ट करने का बल है, पौरुष है, उसे सन्तानवती बनाने के लिए उसी के पास वह बीज सुरक्षित है जो स्त्री स्वयं में उद्भूत नहीं कर सकती । स्त्री को पुरुष की

उतनी ही आवश्यकता है जितनी पुरुष को। केवल माँ बनने के ही लिए ही नहीं, अपनी देह की, अपने मन के राग की तुष्टि के लिए भी स्त्री को पुरुष की ही अपेक्षा है। समस्त मानव संस्कृति ने इसका एकमात्र सुरक्षित उपाय विवाह खोज निकाला है और स्त्री को ठीक-ठीक ढंग से समझा दिया गया है कि जो भी पुरुष इस विवाह-संस्कार के रूप में तुम्हें मिला है, बस वहीं तक तुम्हारे आनन्द की सीमा है। वह बलवान् है तो ठीक, नहीं है तो ठीक, पौरुष-सम्पन्न है तो वही है तुम्हारा पति, नपुंसक है तब भी वही है तुम्हारा पति।

भारतीय संस्कृति में पतिव्रता की अतिरिक्त महिमा रही है। सारे शास्त्र यही घोषित करते आए हैं कि पति ही स्त्री की गति है। स्त्री का धर्म-कर्म पति ही है। उससे उसे शारीरिक मानसिक आनन्द मिले या न मिले, वह कुछ कर नहीं सकती। अपनी घुटन में छटपटाते रहना ही उसकी नियति है।

सुरेन्द्र वर्मा ने इसी बिन्दु पर भारतीय संस्कृति को ललकारा है, वह भी उसी का अस्त्र छीनकर। भारतीय संस्कृति के व्याख्याता, निर्माता शास्त्रों की ही बन्दूक उठाई है और उसी पर गोलियाँ दागी हैं, एक ऐसे ही नारी पात्र के माध्यम से। धर्मनटी जैसे शब्द के अर्थ को कामनटी से संपुष्ट करके शीलवती नाम स्वयं में भारतीय शीलवती नारी के हृदय के सत्य को शब्दायित कर देता है। हृदय में भीषण ज्वार समेटे, बिना बोले अपनी मर्यादा में जो रहे, वह सांस्कृतिक सुरक्षा की दृष्टि से श्रेष्ठ है, लेकिन जो उस ज्वार को तट तक जाने दे; वह संस्कृति पर एक न मिटने वाला प्रश्नचिह्न है। शीलवती के हृदय का वही ज्वार जो मर्यादा और अपने भाग्य को स्वीकार लेने की भावना की चहारदीवारियों में बन्दी था, सहसा उमड़ पड़ता है— प्रतोष को पाकर, दुहरा प्रतोष, शास्त्रीय सम्मति के फलस्वरूप प्राप्त प्रतोष जिससे वह अपने यौवन के पाँच वर्ष वञ्चित रही।

सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक में सुरेन्द्र जिस प्रकार ओक्काक की मनःस्थिति का फिर-फिर चित्रण करते हैं—वह समस्त भारतीय संस्कृति-सम्पन्न तथाकथित पुरुषों की मनस्थिति है जो इस बात को स्वीकारना ही नहीं चाहते कि उनसे हटकर भी स्त्री का कोई अस्तित्व है। स्त्री की अपनी तृप्ति भी कोई अर्थ रखती है, इस बात को पुरुष नज़र-अन्दाज़ करता चला आ रहा है, अपने पौरुष के मिथ्या अहं में। उसे मातृत्व का मुखौटा पहनाकर; भारतीय नारी की भूमिका में जबर्दस्ती पेश करता, भारतीय संस्कृति के नगाड़ों से उनके कान बधिर करता, अपनी नपुंसकता को छिपाता, अपने स्थूल बल के आधार पर कभी उसे वस्त्रविहीन और कभी उसे अवगुंठनवती बनाकर स्वयं अपने ऊपर इतरा रहा है।

सुरेन्द्र वर्मा ने इसी छल को बेरहमी से छील दिया है। चोट दोनों को लगती है, बल्कि तीनों को, पुरुष के पति-रूपी अहं को, स्त्री के पत्नी-रूपी व्यक्तित्व को और व्यवस्था को। लेकिन यह चोट लगाना इस मिथ्या नियति को ओढ़े रहने से अच्छा है।

प्रकृति-प्रदत्त अधूरापन और अपने संस्कारों के फलस्वरूप निर्मित अधूरापन—दोनों की अपनी-अपनी स्थिति है। महामात्य राजा-रानी की दशा के प्रति चिंतित दिखाये जाते हैं, लेकिन यह चिंता कितनी खोखली है। महसरिका बताती है कि महादेवि तो छह रातों से नहीं सो सकी हैं और ओक्काक भी पूरी रात नहीं सो सके, अन्न का दाना भी उनके मुँह में नहीं गया। लेकिन महामात्य क्रूरता से वही प्रश्न करते हैं—उन्हें तैयार किया गया? क्या पहनाया जा रहा है उन्हें? जयमाला गूँथी जा चुकी है? पूरी भारतीय समृद्धि के मंगलमय चिह्नों से मंडप सजाया जा रहा है, रत्नजटित स्तम्भ खड़े किये गए हैं, कदली के तोरण बनाये गये हैं, मल्लिका कलियों

की मालाओं के जाल तोरणों पर सजाये गए हैं, सिन्धुवार पुष्पों की मंजरियाँ जालों से लटकायी गई हैं, लवंग-पल्लवों की बन्दनवारें बाँधी गई हैं और मंगल-कलश स्थापित किये गए हैं—जिन पर स्वस्तिचिह्न लगे हैं, और यह सब किसलिए कि कविजन जिसे असूर्यस्पर्श्या विशेषण देते रहे हैं, वही स्त्री अपने हाथों में जयमाला लेकर राजप्रांगण में उतरे, सहस्रों दृष्टियों का केन्द्र बने और एक रात के लिए किसी ऐसे पुरुष के साथ चली जाए जिसे उसने कभी देखा तक नहीं, और उसे अपना रूप-यौवन-कौमार्य समर्पित कर दे।

सबसे नाजुक विन्दु को नाटककार ने पकड़ा है जब शीलवती पत्नी रूप में पूरे पातिव्रत्य भाव से अपने उसी पति ओक्काक से इस विपत्ति में सहारा चाहती है।

पहली बात तो यह कि शीलवती यदि नियोग नहीं चाहती थी, तो राजवंश की रक्षा के नाम पर उसे विवश करने का अधिकार महामात्य, राजपुरोहित और महाबलाधिकृत को नहीं होना चाहिए था, और यदि राजनीति के नाम पर वे विवश ही कर रहे थे राजा को, तो राजा का अस्तित्व एक पति के रूप में भी था, वह इस आदेश को नकार सकता था, राज्य का त्याग भी कर सकता था। असली नपुंसक वह सिद्ध होता है—शीलवती को इस विवशता की अग्नि में झोंककर। दर्शकों/पाठकों की सहानुभूति ओक्काक खो बैठता है उस समय जब वह शीलवती पर व्यंग्य करता है, उसके प्रति अविश्वास करता है, शीलवती की जाल में फँसी आसन्न मृत्यु से भयभीत हरिणी जैसी दशा को नहीं समझ पाता, अपनी विक्षिप्तता, ईर्ष्या, हीन भावना के तीखे विषैले तीरों से उसे निर्ममता के साथ घायल करता जाता है।

पुरुष का यह नपुंसकत्व जो शरीर का नहीं, उसकी बुद्धि का होता है, नारी के लिए असहनीय होता है, वह शारीरिक नपुंसकत्व से समझौता कर सकती है, लेकिन इस मानसिक नपुंसकत्व से मन में निश्चित ही कहीं गहराई में असंतुष्ट हो जाती है और यह असंतोष केवल अवसर की प्रतीक्षा करता है। वह विद्रोहिणी, व्यभिचारणी, स्वार्थी, आत्मतोष की भूखी हो सकती है। यही आत्मतोष वह प्रतोष से संयोग से प्राप्त करती है, लेकिन किस मूल्य पर ?

भारतीय संस्कृति स्त्री को विवाह के माध्यम से सुरक्षा प्रदान करती है। वही रक्षक स्वयं यदि वन्य पशुओं को अपनी पत्नी को सौंपे, तो क्या वह पतिव्रता की मर्यादा की दुहाई देने का अधिकारी है ? यह बहुत बड़ा प्रश्न है जो 'ध्रुवस्वामिनी' में प्रसाद ने अपने ढंग से उठाया था, सुरेन्द्र वर्मा ने सूर्य की अन्तिम किरण से लेकर सूर्य की पहली किरण तक में अपने ढंग से, यों कहे कि इस युग की नारी की आन्तरिक वाणी को बेदर्दी के साथ प्रस्तुत कर दिया है।

इतिहास के ऐसे सन्दर्भ जो आधुनिक युग में भी मानवता की अक्षुण्ण परम्परा के रूप में ज्यों के त्यों बने हुए हैं, उन्हें उठाना प्रशंसनीय है। मनुष्य का मर्म, मनुष्य का भावजगत्, समस्त ज्ञानोपलब्धि; समस्त वैज्ञानिक प्रगति के बाद भी वैसा का वैसा ही है। न उसका शरीर बदला है, न मन। साहित्य जहाँ भी इसे नए बौद्धिक धरातल पर पेश कर पाता है, वहाँ निश्चय ही स्तुत्य होता है। युगीन होते हुए भी स्थायी होने की संभावना रखता है। सुरेन्द्र वर्मा के इस नाटक की सृष्टि इसी दायरे में रखी जा सकती है। आज की जागृत नारी और मिथ्या अहंकार, मिथ्या पौरुष-भाव से सम्पन्न पुरुषों के लिए यह आँख में उँगली गड़ाकर एक स्थिति को सामने रखने वाला नाटक है।

'जय वर्धमान' की मानसिक पृष्ठभूमि

डॉ० मधु जैन

आधुनिक युग विज्ञान का युग है। विज्ञान का सृजनात्मक रूप जहाँ मनुष्य के लिए वरदान सिद्ध हुआ, वहाँ उसके विध्वंसात्मक रूप ने संसार को तीसरे विश्वयुद्ध के कगार पर खड़ा कर दिया है।

अस्तित्व के प्रति संत्रास की प्रतिक्रिया भी उतनी ही तीव्र हुई। वह अपने अस्तित्व-संरक्षण के लिए उतनी ही तेजी के सन्नद्ध होने लगा। इतिहास साक्षी है कि विश्वशान्ति के लिए इतने व्यापक पैमाने पर प्रयत्न इससे पूर्व मानव जाति ने कभी नहीं किए। आज जहाँ विनाश की व्यापक पैमाने पर तैयारियाँ हो रही हैं, विश्वशान्ति और सह-अस्तित्व के प्रयत्न भी उतनी ही तीव्रता से हो रहे हैं। लेकिन ये प्रयत्न तभी सफल होंगे, तभी व्यावहारिक रूप ले सकेंगे जब व्यक्ति जाति, धर्म, वर्ग व राष्ट्रीयता के भेदभाव विस्मृत कर दे। बल्कि यों कहा जाए कि उसमें मानवतावादी दृष्टिकोण इतना प्रखर हो जाए कि वर्गवाद के लिए उसमें कोई स्थान न रहे। वर्धमान महावीर एक ऐसे ही मानवतावादी लोककल्याणार्थ समर्पित क्रान्तिकारी थे। जिस अस्तित्व-संत्रास की विभीषका को बीसवीं सदी में मनुष्य अनुभव कर रहा है, उसे उन्होंने सदियों पूर्व महसूस किया था। उनका मानवतावादी दृष्टिकोण इतना तीक्ष्ण था कि उसमें वर्ग और जाति-वाद के लिए कोई स्थान नहीं था। विचार-समन्वय से सांस्कृतिक एकता एवं व्यापक संस्कृति का निर्माण उनके जीवन का लक्ष्य था। वर्धमान महावीर की यह महानता और मानवतावादी दृष्टिकोण आज अस्तित्व-रक्षण में तत्पर मनुष्यों के लिए प्रेरणा-स्रोत है। इसी उद्देश्य को अपने सामने रखकर सुप्रसिद्ध नाटककार डॉ० रामकुमार वर्मा ने 'जय वर्धमान' नाटक की रचना की। 'प्राक्कथन' में अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लेखक ने स्वयं कहा है—"यदि मेरे नाटक 'जय वर्धमान' से हमारे देश के राष्ट्रीय और मानवतावादी दृष्टिकोण को प्रश्रय मिलेगा तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।"[1]

१. नाटक की ऐतिहासिकता और मनोविज्ञान

प्रारम्भ में मनुष्य अपने को प्राकृतिक जगत् का अंग समझता था—पशु और पेड़-पौधों की भाँति—लेकिन विकास-पथ पर आगे चलकर जब मनुष्य अपनी अवस्था से निकल आने का निश्चय कर लेता है तो अपने और पशु जगत् के बीच एक विभाजन-रेखा खींच देता है और विशुद्ध मानव-समाज मानव-जगत् में ही अपने उद्गम, अपनी जड़ें ढूँढ़ता और बनाता है। इसलिए आज भी विकास की इतनी आगे की अवस्था में आम तौर पर लोग परिचयपूर्ण मानव के रूप नहीं देते हैं, बल्कि देते हैं अपने में अलग किसी राष्ट्र, सम्प्रदाय या राज्य आदि के अंग होने के रूप में। डॉ० रामकुमार वर्मा अपने नाटकों में अधिकतर ऐतिहासिक घटनाओं को लेते हैं जो उनके विचारों का

प्रतिनिधित्व करती हैं। उनके माध्यम से वह स्वर्णिम अतीत का भव्य चित्र तो अंकित करते ही हैं, साथ ही उसमें अपना मंतव्य भी प्रकट कर देते हैं। 'जय वर्धमान' में भी ऐसा ही किया गया है।

ऐतिहासिक नाटकों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (१) शुद्ध ऐतिहासिक नाटक, (२) इतिहासाश्रित नाटक। शुद्ध ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास की समस्त घटनाओं, पात्रों की परिस्थितियों का भी पूर्ण अंकन रहता है, जबकि इतिहासाश्रित नाटकों में वैसा व्यापक प्रयोग नहीं होता। 'जय वर्धमान' को हम शुद्ध ऐतिहासिक नाटकों की कोटि में रख सकते हैं। इसमें लेखक ने नाटक के प्रारम्भ में 'स्मृति बिन्दु' में भगवान् महावीर से सम्बन्धित समस्त घटनाओं, पात्रों और परिस्थितियों का पूर्ण विवरण दिया है।[२]

डॉ० वर्मा ने नाटक के लिए सामग्री का चयन इतिहास के साथ-साथ श्वेताम्बरी और दिगम्बरी सम्प्रदाय के ग्रन्थों से भी किया। 'कथासूत्र' शीर्षक से उन्होंने कथासार देते हुए सामग्री के मूल स्रोतों का भी उल्लेख किया है। इस दृष्टि से यह नाटक विशुद्ध ऐतिहासिक नाटक की कोटि में रखा जा सकता है।

संक्षेप में कथासार इस प्रकार है—विदेह देश की राजधानी वैशाली में ईसा पूर्व ५९९ में भगवान् महावीर का अवतरण हुआ।

वैशाली में गण्डक नदी प्रवाहित होती थी। उसके तट पर दो उपनगर बसे हुए थे। क्षत्रिय कुंडग्राम और ब्राह्मण कुंडग्राम। क्षत्रिय कुंडग्राम के अधिपति महाराज सिद्धार्थ थे और उनकी रानी त्रिशला। इन्हीं के यहाँ चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

महाराज सिद्धार्थ ने आनन्दविभोर होकर बड़ा उत्सव मनाया। जिस समय से पुत्र गर्भ में आया, उसी समय से राज्य में धन-धान्य और कोश-भंडार की आशातीत वृद्धि हुई, इसलिए पिता सिद्धार्थ ने पुत्र का नाम वर्धमान रखा।

इन्हीं वर्धमान ने एक अवसर पर क्रोध में मत्त हाथी को बिना किसी शस्त्र के वश में कर लिया, किन्तु इनकी प्रवृत्ति प्रारम्भ से वैराग्य की ओर थी। जब महावीर के सामने विवाह का प्रस्ताव रखा गया, तो उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

महावीर वर्धमान का विवाह हुआ या नहीं, इस पर मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय का मत है कि उनका विवाह नहीं हुआ, किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है कि उनका विवाह कौण्डिय गोत्रीय राजकुमारी से हुआ था। 'कल्पसूत्र' में विवाह का उल्लेख मिलता है। 'हरिवंश पुराण' में भी इसका निर्देश मिलता है।

वे विवाह के पश्चात् भी संन्यास लेना चाहते थे, किन्तु माता-पिता को कष्ट देना वे हिंसा का दूसरा रूप मानते थे, इसलिए दस वर्ष तक गृहस्थाश्रम का पालन करते रहे। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने अपने बड़े भाई नन्दिवर्धन के सामने यह प्रस्ताव रखा, किन्तु उन्होंने अनुमति नहीं दी। दो वर्षों तक वे रुके रहे। जब उनकी पत्नी यशोदा कुछ समय के लिए अपने पिता के यहाँ गई हुई थीं, तभी इन्होंने संन्यास ले लिया।

संन्यास में महावीर को घोर उपसर्ग सहन करने पड़े। लोग उन पर तरह-तरह के प्रहार करते थे, लेकिन वह किसी से कुछ नहीं कहते थे। सर्प और विषैले जन्तुओं का उपद्रव, भयानक शीत और प्रबल ऊष्मा उन्हें कठोर साधना से डिगा नहीं सकी।

अस्थिक ग्राम के एक चैत्य में शूलपाणि नामक एक यक्ष रहता था। उस चैत्य में वह किसी को ठहरने नहीं देता था। महावीर ने वहीं अपना पद्मासन लगाया। यक्ष ने बहुत उपद्रव किया, किन्तु अन्त में भगवान् महावीर के समक्ष झुक गया।

प्रश्न उठता है कि नाटककार ने उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए महावीर के चरित्र को ही क्यों लिया ? उसके लिए महात्मा बुद्ध का चरित्र भी लिया जा सकता था।

इसके दो कारण थे। पहला तो यह कि मानवतावादी दृष्टिकोण वर्धमान महावीर में जितना विकसित था, बुद्ध भगवान् में नहीं। दूसरे, वर्धमान महावीर के प्रति नाटककार का बाल्यकाल से सहज स्वाभाविक आकषर्ण।

इस सहज आकर्षण को तर्कसंगत आधार उन्हें उस समय मिला जब वह 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' लिख रहे थे। अध्ययन के दौरान उन्होंने पाया कि हिन्दी साहित्य के आदि काल का ७५ प्रतिशत साहित्य जैन आचार्यों, मुनियों और कवियों द्वारा अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी में लिखा गया है। फलतः उनकी श्रद्धा स्वाभाविक रूप से जैन धर्म की ओर अग्रसर हुई।

बाल्यकाल का वर्धमान महावीर के प्रति वह सहज स्वाभाविक आकर्षण शोधकार्य के दौरान तर्कसंगत आधार पाकर नाटककार महावीर जी के प्रति श्रद्धा से अभिभूत हो उठता है। यह आन्तरिक श्रद्धा और भक्ति 'जय वर्धमान' के रूप में प्रकट होती है।

जैसा कि मैं पहले ही कह आई हूँ कि जय वर्धमान नाटक शुद्ध ऐतिहासिक नाटक है, किन्तु लेखक ने ऐतिहासिक तत्वों की रक्षा करते हुए इसमें अपनी कल्पना का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है।

२. हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक पक्ष

नाटक में वर्धमान महावीर की कथा को लिया गया है। इसमें मुख्य कथा भगवान् महावीर की है। अन्य सभी प्रासंगिक कथाएँ मुख्य कथा को विकसित करने के लिए ली गई हैं। सच तो यह है कि ये सभी कथाएँ भगवान् महावीर के चरित्र को उभारने में सहायक हुई हैं। प्रारम्भ में क्रुद्ध हाथी को आत्मबल द्वारा शान्त करने की कथा जहाँ एक ओर कथा का विकास करती है, वहाँ महावीर के चरित्र के मूलभूत गुण—दृढ़ इच्छाशक्ति व आत्मबल को हमारे समक्ष उभारती है। इस दृष्टि से इसे चरित्रप्रधान नाटक कहा जा सकता है।

अन्त में भगवान् महावीर के प्रभाव से शूलपाणि जैसे दुष्ट प्रकृति के यक्ष का हृदय-परिवर्तन करा के नाटककार ने जहाँ एक ओर महावीर के जनकल्याणकारी तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व को उभारा है, वहीं इस मनोवैज्ञानिक सत्य का भी प्रतिपादन किया है कि सच्ची व स्थायी विजय व्यक्ति को मानसिक रूप से पराजित करने में है। और किसी दुष्ट व्यक्ति पर मनोवैज्ञानिक विजय तभी प्राप्त की जा सकती है जब उसके दुर्व्यवहारों को शान्तिपूर्वक सहन करते हुए उसका हित-चिन्तन करें। इससे उसके मन में धीरे-धीरे आत्मग्लानि उत्पन्न होने लगेगी। यही उसके विरोधी भाव को सदैव के लिए समाप्त कर सकेगी। महावीर जी उक्त मनोवैज्ञानिक सत्य से भली-भाँति परिचित थे। वह चाहते तो शूलपाणि की उद्दंडता का उत्तर शारीरिक दंड के रूप में दे सकते थे, किन्तु इससे शत्रुता का अन्त नहीं होता। घृणा से घृणा का विस्तार ही होता। इसे सदैव के लिए समाप्त करने का एक ही उपाय था कि वे उस पर शारीरिक रूप से विजय प्राप्त न करके मानसिक रूप से विजय प्राप्त करें। शूलपाणि पर उनकी साधुता का अपेक्षित प्रभाव पड़ा, यह स्वाभाविक था; वह उनसे अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा माँगकर उनका अनुयायी बन जाता है।

वस्तुतः महावीर वर्धमान एक अतिप्रतिभाशाली चरित्र के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। उनकी मनीषा मानवीय सत्य को खण्डों में न देखकर समग्र दृष्टि से ग्रहण करना चाहती थी।

मनोवैज्ञानिक शब्दावली में कहा जा सकता है कि महावीर जी ने मानव-जीवन पर समग्रतावादी दृष्टि से विचार किया है।

३. मानव और पशु की मूलगत एकता

महावीर जी के अहिंसावादी आचरण से मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। मदमत्त हाथी महावीर को समक्ष देख नतमस्तक हो जाता है, क्यों? क्योंकि हाथी और मनुष्य की प्रवृत्तियों में मूलगत एकता है। यही कारण है कि उनके आत्मबल के समक्ष जंगली पशु भी अपनी उद्दंडता भूलकर विनम्र हो जाता है। यहाँ जाने-अनजाने व्यवहारवादी मनोविज्ञान के मानव-पशु की एकता का सिद्धान्त ध्वनित हो उठता है।

४. चरित्र और वातावरण

यह सत्य है कि वातावरण का मनुष्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण हाथ होता है, परन्तु इस मनोवैज्ञानिक सत्य को भी नकारा नहीं जा सकता कि मनुष्य अपनी व्यक्तिगत भिन्नताओं के आधार पर एक ही वातावरण के प्रभाव को भिन्न-भिन्न रूपों में ग्रहण करता है। यहाँ हम नाटक के दो मुख्य चरित्रों—वर्धमान और यशोदा—को लेंगे। दोनों का पालन-पोषण राजवंश में हुआ। लेकिन वर्धमान राजसुख से असम्पृक्त थे, जबकि यशोदा उसमें पूर्णतया आसक्त। वातावरण तो दोनों को एक-सा मिला, पर जीवन दर्शन भिन्न-भिन्न क्यों हो गए? स्पष्ट है कि यह अन्तर वातावरण की देन नहीं है; उनकी वैयक्तिक विशिष्टाएँ इस भिन्नता के लिए उत्तरदायी हैं।

यशोदा और वर्धमान के एक वार्तालाप के द्वारा लेखक ने उनके दृष्टिकोण के अन्तर को बड़ी कुशलता से उभारा है।

दोनों में प्रकृति के सुन्दर और असुन्दर रूप को लेकर चर्चा चल रही है। वर्धमान का विचार है कि प्रकृति विपुल सौन्दर्य का भण्डार है। किन्तु कितनी देर के लिए। फिर उसमें मन रमाने का क्या लाभ? यह आकर्षण अन्ततः दुःखदायी होगा।

इसके विपरीत यशोदा का दृष्टिकोण सन्तुलित है। वह प्रकृति के विध्वंसात्मक व सृजनात्मक, दोनों रूपों के प्रति आस्थावान् है। प्रकृति के प्रांगण में विघटन के साथ-साथ सृजन की प्रक्रिया भी समान रूप से विद्यमान है। बल्कि देखा जाए तो प्रकृति में मूल रूप से एक ही क्रिया चलती है—परिवर्तन की। यदि एक फल धूल-धूसरित होता है तो उसी के बीज से दूसरा फल जन्म ले लेता है। चूँकि वर्धमान महावीर का सारा चिन्तन प्रकृति के विध्वंसात्मक रूप पर ही केन्द्रित है, इसलिए सुख के समस्त उपकरण होते हुए भी उसका उपयोग नहीं कर पाते। उसकी नश्वरता और क्षणभंगुरता उनके व्यक्तित्व पर प्रतिपल हावी रहती है। एक प्रकार से अस्तित्व संत्रास की समस्या उन्हें प्रतिपल सजग रखती है। यही कारण है कि राजकीय वातावरण में पोषित होते हुए भी जहाँ यशोदा नैसर्गिक कामनाओं से आन्दोलित है, वहाँ वर्धमान उससे विरक्त।

आप कहेंगे कि जीवन की नैसर्गिक वृत्तियों ने जब यशोदा को स्पन्दित किया तो वर्धमान कैसे असम्पृक्त रहे? इसका तात्पर्य यह हुआ कि वे असामान्य (अब्नॉर्मल) थे।

इसका उत्तर मेरे निकट यही है कि वर्धमान किसी भी प्रकार से असामान्य चरित्र की कोटि में नहीं आते। मन की चंचल शक्तियों को शमित करने के लिए उन्होंने वही मनोवैज्ञानिक उपाय अपनाया जो प्रायः हमारे अनेक मुनि अपनाते रहे हैं। अर्थात् विषय-वासनाओं के बुरे पक्ष का चिन्तन। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि किसी भी विषय या व्यक्ति के यदि हम सदैव बुरे पक्ष का चिन्तन करते रहें तो स्वाभाविक रूप से उससे एक दिन घृणा हो जाएगी। चूँकि वर्धमान सदैव विषय के बुरे पक्ष का चिन्तन करते रहे, इसलिए उनका मन धीरे-धीरे इस ओर से विरक्त हो गया। तभी तो नन्दवर्धन द्वारा भेजी गई सुन्दरियाँ अपनी समस्त आकर्षण-कलाओं का भी प्रयोग करके वर्धमान महावीर को विचलित करने में असमर्थ रहती हैं।

विषय-वासनाओं के बुरे पक्ष का चिन्तन जहाँ वर्धमान के मन को स्थिरता प्रदान करता है, वहाँ जीवन और जगत् के प्रति उनके दृष्टिकोण को एकांगी बना देता है। जो प्रत्येक प्रतिभाशाली व्यक्ति की अनिवार्य नियति है। इसीलिए तो मनोवैज्ञानिक युंग कहता है कि प्रत्येक प्रतिभाशाली व्यक्ति एकांगी व एकपक्षीय होता है।

वर्धमान महावीर मनोवैज्ञानिकों के एकांगी विश्लेषण से कहीं आगे थे। जीवन के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण उनका साध्य नहीं था, भावी साधना-पथ का साधन था जिसने उनकी मनोवृत्तियों को स्थिरता प्रदान की और वे अपनी कोमल वृत्तियों से निःसंग होकर लोककल्याण के लिए प्रव्रजित हो सके।

संक्षेप में 'जय वर्धमान' डॉ० रामकुमार वर्मा की एक सफल नाट्य-रचना है जो इस कटु सत्य का बोध कराने में पूर्णतया सक्षम है कि मनुष्य और ईश्वर के बीच सबसे बड़ी बाधा उसका ईश्वरत्व है। ईश्वर का नैकट्य उस पर पुष्प और अक्षत चढ़ा कर नहीं पाया जा सकता। उसके लिए उसके चरित्र के माध्यम से उसके मनोलोक में उतरना होगा; उस पथ का अनुसरण करना होगा जिन पर चलकर वह ईश्वरत्व की परिधि में प्रवेश पा सका। जैन धर्म सर्वाधिक वैज्ञानिक धर्म है। वह प्रत्येक आत्मा को परमात्मा बनने की प्रेरणा देता है। वर्धमान महावीर मनुष्य की उन अतिमानसी शक्तियों से सदियों पूर्व परिचित हो चुके थे जिसको जागृत करके मनुष्य ईश्वरत्व की प्राप्ति कर सकता है।

संदर्भ-संकेत

१. डॉ० रामकुमार वर्मा—जय वर्धमान, पृ० ६। २. जय वर्धमान, पृ० १०।

'स्कंदगुप्त' की भाषा की सर्जनात्मकता

●

डॉ० प्रेमलता

प्रसाद विकासशील प्रतिभा के रचनाकार हैं। उनके नाटकों में भाषा की सर्जनात्मक क्षमता उत्तरोत्तर निखरती गई है। 'सज्जन' (सन् १९१०) से लेकर 'कल्याणी-परिणय', 'प्रायश्चित', 'राज्यश्री', 'विशाख', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'अजातशत्रु', 'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त मौर्य', 'ध्रुवस्वामिनी' (सन् १९३३) तक प्रसाद की भाषिक सर्जनात्मक क्षमता सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप में संक्रमित होती गई है। 'स्कन्दगुप्त' अपने में एक ऐसा नाटक है जो अपनी भाषिक क्षमता के आधार पर प्रसाद को रचनाकारों की सर्वोत्कृष्ट श्रेणियों में ला खड़ा करता है।

प्रसाद-प्रणीत ऐतिहासिक नाटक 'स्कन्दगुप्त' का रचनाकाल सन् १९२८ ई० है जिसमें भाषा के प्रचलित संस्कार को अपने ढंग से निखारने का आग्रहपूर्ण प्रयास है। 'स्कन्दगुप्त' में हूण-विद्रोह-काल के माध्यम से समसामयिक खण्डित मानवीय मूल्य, पतनोन्मुख धर्म एवं संस्कृति का उद्‌घाटन किया गया है। इसके साथ ही देशवासियों में राष्ट्रीय भावना के संचरण से, उनको कर्तव्य-पथ की ओर उन्मुख करने की समस्या भी रही है। इस अन्तरंग और बाह्य जटिलता की उदात्त अभिव्यक्ति के लिए स्कन्दगुप्त-जैसा उदात्त चरित्र रचनाकार के लिए वरेण्य है। इतिहास और कल्पना के सानुपातिक प्रयोग में समकालीन जीवन के अनुभव को जोड़कर वर्तमान और भविष्य के मार्ग-निर्देशन की सक्रिय कोशिश है।

प्रसाद ने अपनी जिस नवीन बौद्धिक चेतना को छायावाद के रूप में नया मोड़ दिया, उसमें व्यापक स्तर पर भाषिक आन्दोलन का भी समावेश था। प्रगाढ़ अनुभूति और भाषा में समानता छायावादी नाट्यभाषा की विशिष्टता कही जा सकती है जिसमें रचनाकार की अनुभूति की गहराई तक पाठक का प्रवेश सम्भव है। प्रसाद की नाट्यभाषा सामान्य से विशिष्ट होती गई है।

नाटक मूलतः संवादों में होता है। संवाद में भाषा की विशिष्ट भंगिमा समाहित रहती है। यही कारण है कि उपन्यास, कहानी, निबन्ध, कविता, आदि साहित्य की विविध विधाओं में रचनाकार को जितनी भाषिक क्षेत्र में स्वतंत्रता रहती है, उतनी नाटककार को नहीं। संवाद की शिथिलता नाटक को असफल सिद्ध कर सकती है। नाटक में नाटकीय परिस्थितियों के अनुरूप संवादों का कसाव अपेक्षित होता है।

चूंकि संवाद का अस्तित्व वक्ता और श्रोता पर पूर्णतया आश्रित होता है, इसलिए उसमें भाषा का प्रवाह, बोलचाल का गुण अपेक्षित है। बोलचाल की भाषा में यथार्थ का अधिक आभास होता है। क्लिष्ट साहित्यिक भाषा में अधिक सर्जनात्मक क्षमता होती हो, यह आवश्यक नहीं। 'स्कन्दगुप्त' में बोलचाल की भाषा का बड़ा सक्षम प्रयोग हुआ है।[1] पात्रों के स्वभावानुकूल भाषा का सशक्त प्रयोग प्रसाद-भाषा की विशेषता कही जा सकती है। दार्शनिक और

काव्यमय पात्रों की भाषा गम्भीर और सैनिक कोटि के (शर्वनाग, भटार्क, कमला) पात्रों को भाषा सामान्य शब्दावली से युक्त है।

यह ठीक है कि 'स्कन्दगुप्त' में अधिकतर क्लिष्ट भाषा का प्रयोग प्रसाद ने किया है, किन्तु पात्रों के स्वभावानुकूल उसका प्रयोग हुआ है। स्कन्द, देवसना जैसे चिन्तनशील पात्रों के मुख से मनोभावों की अभिव्यंजना अत्यन्त सरल शब्दावली में नहीं हो सकती।

संवाद या तो तत्सम शब्दावली में हो, जैसा कि प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों की स्थिति है, या तद्भव शब्दावली में—प्रवाह पहली शर्त है। 'स्कन्दगुप्त' में जहाँ भी तत्सम शब्दावली का प्रयोग हुआ है, भाषिक प्रवाह में कहीं भी अवरोध उत्पन्न नहीं हुआ।[२]

पुष्करणाधिपति, स्वत्वाधिकारी आदि संश्लेषणात्मक शब्दों का प्रयोग रचनाकार ने भाषा की सर्जनात्मक आवश्यकता से प्रेरित होकर किया है। ये शब्द प्रसाद की मितव्ययी भाषा के लिए प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

प्रसाद ने जिस समय 'स्कन्दगुप्त' की रचना की, वह राष्ट्रीय पुनर्जागरण का युग था। इस समय सांस्कृतिक गरिमा को फिर से जागृत किया गया। देश की सांस्कृतिक विशदता को पूरे विस्तार में चित्रित करने के लिए उसी तरह की शब्दावली की आवश्यकता थी, अतः इसी आवश्यकता से उत्प्रेरित होकर रचनाकार ने संस्कृत की तत्सम शब्दावली का सुसंगत प्रयोग किया। तथापि, पुनश्च, अथच आदि संस्कृत की तत्सम शब्दावली 'स्कन्दगुप्त' की भाषा को धाराप्रवाह में प्रवाहित करती है।

संघर्ष आधुनिक नाटकों का मूल तत्त्व है जिसका आरम्भ पाश्चात्य नाटकों से हुआ। इसके उपकरण हैं—तनाव, विरोधाभास, स्वगत और गीतों का प्रयोग। स्कन्द की भाषा अन्तः-बाह्य संघर्षों से अनुप्राणित होकर मुखरित हुई है। उसकी भाषा में .बराबर एक तनाव है जो उसके मानवीय पक्ष को उद्घाटित करता है।

प्राचीन नाटकों में स्वगत-कथन का प्रयोग स्वाभाविकता की दृष्टि से सक्षम माना जाता था, किन्तु आधुनिक युग में जब यथार्थवादी नाटकों की रचना हुई, तब स्वगत को भाषिक संवेदन/ में बाधक समझा गया। स्वयं प्रसाद ने स्वगत शैली पर व्यंग्य किया है। इसके बावजूद उन्होंने स्वगत-कथन का प्रयोग किया। शेक्सपियर ने स्वगत का खूब प्रयोग किया है। प्रसाद पर भी इसका प्रभाव पड़ा। पात्रों की एक विशेष श्रेणी के लिए स्वगत का प्रयोग किया गया है। गम्भीर, दार्शनिक, एकाकी प्रवृत्ति वाले पात्र स्कन्द, देवसेना आदि मुख्य रूप से इस कोटि में आते हैं। स्कन्द और देवसेना का चरित्र इतना जटिल है कि इनकी अभिव्यंजना स्वगत-कथनों द्वारा ही हो सकती थी, जैसा कि प्रसाद ने किया है। स्वगत-कथनों के अभाव में स्कन्द के सूक्ष्म अन्तर्द्वन्द्वों को उसकी सूक्ष्मता से समझना लगभग असम्भव-सा है। स्कन्द के स्वगत-कथन में प्रसाद की आस्तिक मनोवृत्ति साकारता ग्रहण कर सकी है जो इधर के नये नाटकों में नहीं परिलक्षित होती। अधिक तनाव की स्थिति में व्यक्ति ईश्वर का स्मरण करता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसको स्वगत में अभिव्यंजित करना अधिक सार्थक था। अतः 'स्कन्दगुप्त' में स्वगत-कथन स्वाभाविक बन पड़ा है जिसमें समृद्ध शब्दावली का बहुत बड़ा हाथ है।

'स्कन्दगुप्त' में दो प्रकार के पात्रों का समावेश किया गया है जिनकी भावनाओं के अनुसार स्वगत-कथन में शब्दों के सजग प्रयोग का आग्रह प्रमुख है। 'कामायनी' की श्रद्धा की समकक्षता देवसेना करती है और इड़ा की विजया। यदि देवसेना की प्रकृति में सात्त्विक गुणों का

समावेश है, तो विजया में राजस गुण विद्यमान है। विजया के अन्तर्गत प्रतिहिंसा का भाव परिलक्षित होता है। अपने प्राप्य में देवसेना को बाधक समझकर विजया के अन्तर्गत प्रतिहिंसा की ज्वाला धधक उठती है।

देवसेना एक ओर जहाँ विजया की प्रिय सखी है, वहीं दूसरी तरफ अभीप्सित वस्तु में बाधक है। दोनों को सोचकर विजया के अन्दर अन्तर्द्वन्द्व मचता है जो विजया द्वारा किये जाने वाले कर्म—देवसेना को मरवाने—में अवरोध उत्पन्न करता है। अतः विजया का स्वगत-कथन उसके मनोभावों को व्यक्त करने में समर्थ हुआ है।

'स्कन्दगुप्त' में गीतों द्वारा आन्तरिक और बाह्य संघर्ष को बड़े ही सर्जनात्मक ढंग से अंकित किया गया है। परतन्त्रता की बेड़ी में जकड़ी जनता लम्बे अन्तराल तक अव्यवस्थित भारतीय संस्कृति को देखकर त्रस्त हो जाती है। इस दयनीय अवस्था में अपने आप पर शंका होती है। देवसेना के अन्तःकरण में संघर्षों का उठता बवंडर उसकी सखी के इस गीत में स्वरित हुआ है—

"माझी साहस है खे लोगे!
जर्जर तरी भरी पथिकों से—
झड़ में क्या खोलोगे?
अलस नील-घन की छाया में—
जल-जालों की छल-माया में—
अपना बल तोलोगे ?
अनजाने तट की मदमाती—
लहरें, क्षितिज चूमती आतीं?
ये झटके झेलोगे? माझी।..."[१]

प्राकृतिक उपादानों पर मानवीय भावों का आरोप है जिसमें व्यक्तिगत संघर्ष में देश की विराट समस्याओं का सन्निवेश है। अन्तःकरण को माझी-रूप में सम्बोधित किया गया है जो कर्तव्य-विमुख जनता को साथ-साथ सम्बोधित करता चलता है। 'जर्जर तरी' शब्द तत्कालीन अकिंचन संस्कृति को तो ध्वनित करता ही है, साथ-साथ उसकी सम्पूर्ण अव्यवस्था को आँखों के समक्ष प्रतिबिम्बित करता है। 'तरी' शब्द यहाँ अर्थ की जो विशदता उद्भूत करता है, वह अन्य शब्द-प्रयोग द्वारा मुश्किल था। 'अलस नील-घन की छाया में' बड़ा ही सूक्ष्म बिम्ब है जिसमें ध्वनि-सौन्दर्य का सहयोग कम नहीं है। अलसाये हुए नीले बादलों की छाया कितनी शान्त और कितनी पवित्र होगी, इसका अन्दाज शब्दों के सुसंगत प्रयोग से लग जाता है। 'छल-माया' रूपक कबीर की 'माया महा ठगिनि हम जानी' पंक्तियों की याद दिलाता है। 'अनजाने......झेलोगे' में देवसेना की स्कन्द के प्रति आसक्ति है। अव्यवस्था के साम्राज्य में देवसेना के मन में अनजाने प्रेम का जो बीज अंकुरित हो रहा है, इस आन्तरिक संघर्ष को संश्लिष्ट भाषा पतन के गर्त में क्रमशः गिरती हुई संस्कृति के साथ रूपायित करती है। प्रसाद ऐसे पहले रचनाकार हैं जिन्होंने खड़ीबोली का सशक्त प्रयोग इन गीतों में किया।

देश के लिए अपने वैयक्तिक सुखों को बलि देने के बावजूद स्कन्द के आकर्षक व्यक्तित्व से प्रभावित होकर देवसेना कर्तव्य-पथ पर डगमगाने लगती है। ऐसे में कर्म और कर्तव्य के प्रति

उसके अन्दर द्वन्द्व मचने लगता है और उसकी अभिव्यक्ति उसके गीतों में होती है। देवसेना के हृदय में उठते अन्तर्द्वन्द्व को गीत सं० १० में बड़े मार्मिम ढंग से व्यंजित किया गया है—

"हृदय ! तू खोजता किसको छिपा है कौन-सा तुझमें
मचलता है बता क्या दूँ छिपा तुझमें न कुछ मुझमें।"[४]

यद्यपि इस गीत में पहले की भाँति शिल्पगत दोहरा रचाव नहीं है, फिर भी देवसेना का अन्तर्द्वन्द्व अपने पूरे विस्तार में अंकित हुआ है। अतः सरल शब्दों के प्रयोग में भाषा की सर्जनात्मक क्षमता कम नहीं होती, इस विश्वास को यह गीत सुदृढ़ करता है।

संवादों के कसाव में प्रसाद के पात्रों का मानस सामान्य से विशिष्ट, स्थूल से सूक्ष्म और सरल से कठिन की सीमा का संस्पर्श करता जाता है। इस प्रक्रिया में वह संस्कृत की परम्परित सूक्ति-शैली से अनुप्राणित दिखाई पड़ता है। अपने व्यक्तिगत सुख से वंचित न होने के लिए जयमाला बन्धुवर्मा के अन्दर आत्ममोह पैदा करना चाहती है जिसमें शब्द-प्रयोग का सुनियोजित ढंग श्लाघ्य है। जयमाला का देवसेना को सम्बोधित करके बन्धुवर्मा के प्रति अपने मन्तव्य को जाहिर करना भारतीय मर्यादा को उजागर करता है। 'व्यष्टि' और 'समष्टि' शब्द संवाद में सौन्दर्य और अर्थ-विस्तार दोनों का समावेश करते हैं। 'विश्व प्रेम, सर्व भूत-हित-कामना' धर्म की विराटता को ध्वनित करता है। अतः भाषिक सर्जना का यह रूप प्रसाद की भाषा को 'अनावश्यक स्फीति' कहने वाले नलिन विलोचन शर्मा को आश्वस्त करता है। जयमाला अपने मन्तव्य को 'व्यष्टि में भी समष्टि रहती है' इतने में व्यक्त नहीं कर सकती थी। यदि कर भी लेती तो पाठक की समझ अधूरी रह जाती। धर्म, संस्कृति के विषय पर जो पात्र सूक्ष्म चिन्तन करते हैं, उनमें इस शैली का होना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। ऐतिहासिक नाटक में भाषिक सक्रियता लाने के लिए यह अपेक्षित है।

प्रसाद मुख्य रूप से ऐतिहासिक नाटककार हैं। ऐतिहासिक नाटकों में रचनाकार इतिहास में प्रख्यात व्यक्तित्व को मानवीय चरित्र देकर समकालीन अनुभव से जोड़ता है, क्योंकि इतिहास में मानवीय चरित्र लुप्त रहता है। भारतेन्दु इतिहास के आलोचक नहीं थे। भारतेन्दु की दृष्टि इतिहास से शिक्षा ग्रहण करना रही है, जबकि प्रसाद इतिहास की नींव पर रचना का सर्जन करते हैं। अन्य नाटकों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटकों में भाषा-प्रयोग की अत्यन्त जटिल समस्या होती है। ऐसे नाटकों में उदात्त शैली से समागत अन्तराल, तत्सम और शिष्टाचार के शब्दों से काल-विशेष का बोध होता है। अतः भाषा का क्लिष्ट और उदात्त होना स्वाभाविक है।

'स्कन्दगुप्त' में समकालीन भाषा से इतर उदात्त भाषा का प्रयोग बड़ी ही सतर्कता से किया गया है जिससे उसकी ऐतिहासिकता का परिज्ञान बड़ी सहजता से हो जाता है। विस्तृत गुप्त साम्राज्य के अधिकारी कुमारगुप्त थे। उनके विलासी जीवन का कुप्रभाव देश की संस्कृति, धर्म पर पड़ रहा था। देशप्रेमी और कर्मठ पुत्र स्कन्दगुप्त का चिन्तन भाषा की सर्जनात्मकता के साथ प्रस्फुटित हुआ है।[५]

यह प्रारम्भिक संवाद जहाँ समसामयिक परतन्त्र जनता के अधिकारों के प्रति उदासीनता की झाँकी प्रस्तुत करता है, वहीं स्कन्द की ऐतिहासिकता का भी स्मरण कराता है। स्कन्द की वीरता में कोई सन्देह नहीं, लेकिन इसके साथ-साथ उसके चरित्र की सर्वप्रमुख विशेषता 'अनिश्चय-वृत्ति' है। 'अधिकार-सुख कितना मादक और सारहीन है' वाक्य में शब्दाकर्षण का अर्थ-समृद्धि से वैमनष्य नहीं है। वह विशिष्ट गुणों से युक्त है, लेकिन साधारण व्यक्ति की तरह

रहना चाहता है—अधिकारों से स्वतन्त्र ! अतः किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में भाषा-गाम्भीर्य अभिप्रेत है ।

पर्णदत्त स्कन्द का विश्वसनीय सहयोगी है जो निराश स्कन्द में उत्साह भरता है । सम-सामयिक सन्दर्भ से जुड़कर भी वह स्कन्द को माध्यम बनाकर अपसी ओजस्वी भाषा से अकर्मण्य जनता को कर्तव्योन्मुख होने ही प्रेरणा देता है ।[६]

'स्कन्दगुप्त' नाटक की मूल समस्या राष्ट्रीयता की है । इतिहास साधन और राष्ट्रीयता साध्य है जिसमें सांस्कृतिक पक्ष को स्कन्द, देवसेना, पर्ण, कमला, बन्धुवर्मा आदि पात्रों की समर्थ भाषा यत्र-तत्र उद्‌घाटित करती है । त्रस्त प्रजा की करुण पुकार सुनाकर, उनको कर्तव्य का बोध कराने की सुन्दर प्रक्रिया राष्ट्रीयता और मानवीयता की संश्लेषणात्मक स्थिति को उजागर करती है ।

इतिहास-प्रमाणित कुमारगुप्त की पदवियों—'महेन्द्रादित्य', 'श्री अश्वमेध महेन्द्र', 'श्री महेन्द्र' के सर्जनात्मक प्रयोग से त्रस्त जनता को आश्वासित करने की दृष्टि सजग है, इसके लिए प्रस्तुत उदाहरण द्रष्टव्य है—'सेनापते ! प्रकृतिस्थ होइये ? परम् भट्टारक महाराजाधिराज अश्वमेध पराक्रम श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य के सुशासित राज्य की सुपालित प्रजा को डरने का कारण नहीं ।'[७]

'परम् भट्टारक', 'अश्वमेध पराक्रम', 'महेन्द्रादित्य' आदि शब्दों में अर्थ की ओजस्वी छटा व्याप्त है । पूर्वजों के गुणों के संस्मरण द्वारा अकर्मण्य एवं उदासीन व्यक्ति को कर्तव्योन्मुख करने की बलवती इच्छा को प्रसाद ने साकार किया है । 'सुपालित', 'सुशासित' शब्द कुमारगुप्त की राजनीतिक दक्षता को प्रकाशित करते हैं । पुराणेतिहास-काल में 'स्कन्दगुप्त' नाटक में इतिहास का सानुपातिक प्रयोग करने का उद्देश्य उस चरित्र से तादात्म्य स्थापित करवाना रहा है, क्योंकि पुराण के प्रति आदर और इतिहास के साथ आत्मीयता सम्भव है । स्कन्दगुप्त, पर्ण-दत्त, कुमारगुप्त, बन्धुवर्मा आदि पात्रों से प्रेरणा ग्रहण की जा सकती है, जबकि कृष्ण के प्रति आदर और श्रद्धा ही सम्भव है । अतः इतिहास का सजग प्रयोग प्रसाद की गहन प्रतिभा को द्योतित करता है जिसमें उदात्त भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है । राष्ट्रीयता और प्रेम जैसे उदात्त भावों के प्रकाशन में 'स्कन्दगुप्त' में अति नाटकीयता का दिग्दर्शन हुआ है ।

ऐतिहासिक नाटककार की संवेदना की सही पहचान, उसके इतिहास-प्रयोग की सजग दृष्टि की पकड़ के लिए काव्यमय, तत्सम शब्दावली का अनुशीलन ही पर्याप्त नहीं है । तत्सम, काव्यमय शब्दावली से काल-विशेष का बोध अपूर्ण रह जाता है, जब तक शिष्टाचार के शब्दों में रचनाकार ने अपनी सम्वेदनशीलता का परिचय न दिया हो । कर्तव्यनिष्ठ और पराक्रमी व्यक्ति के सम्बोधन का विशेष ढंग ऐतिहासिक नाटक में इतिहास की पुष्टि करता है । परम भट्टारक, कुमारमात्य, महाबलाधिकृत का सम्बोधन सम्राट, मन्त्री, सेनापति के लिए किया गया है । विषयपति के सहयोगियों को महाप्रतिहार, महादण्डनायक आदि विशेष पदवियों से सम्बोधित किया गया है जो इतिहास-प्रमाणित है ।[८]

महाबोधि, महाश्रमण, भिक्षु-शिरोमणे आदि शब्दों का प्रयोग गुप्तकाल में बौद्ध प्रभाव का सूचक है । यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि 'स्कन्दगुप्त' में प्रयुक्त एक-एक शब्द नाटक-कार की नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को प्रकट करता है । वृद्ध और पिता के लिए तात, पुत्र के लिए वत्स, श्रेष्ठ पुरुष के लिए आर्य श्रेष्ठ, वीर नारी के लिए आर्या के सम्बोधन में भरतमुनि की नाट्यभाषा-दृष्टि का समर्थन है । 'स्कन्दगुप्त' की भाषा में भारतीय संस्कृति और परम्परा

का निर्वाह बराबर हुआ है। स्कन्द अपनी विमाता के कुकर्म से क्षुब्ध होकर भी मात्र 'सौतेली माता' कहता है और अन्त में उसे क्षमा कर देता है।

प्राकृतिक परिवेश और सूक्ष्म सम्वेदनों को अपने भीतर आत्मसात् करने में बहुत बड़ी सीमा तक कृतकाम होने के कारण 'स्कन्दगुप्त' में काव्यात्मक भाषा का प्रयोग शैली के रूप में परिलक्षित होता है। इस प्रकार की सर्जनात्मक भाषा के प्रयोगकर्ता जयशंकर प्रसाद को मौलिक रचनाकार किसी विवशता के वशीभूत होकर नहीं कहना पड़ता। काव्यात्मक भाषा का सामंजस्य नाटक में तीन प्रकार से होता है—कविता और गद्य का अलग-अलग प्रयोग—जैसा कि शेक्सपीयर ने किया, पूरा नाटक कविता के रूप में—जैसा इलियट ने किया और काव्यात्मक गद्य का प्रयोग। प्रसाद की स्थिति इन तीनों से इतर है। उन्होंने यथास्थान काव्यात्मक शैली का सजग प्रयोग किया। 'कामायनी', 'आँसू' आदि की तरह नाटक में काव्य की लय मुखर नही है, क्योंकि नाटक सम्वादों का एक क्रम है। काव्य-रूप की अधिक उद्भावना सम्वादों में अस्वाभाविकता को प्रश्रय देती है। राष्ट्रीयता के आवेश में, प्रेम के उन्माद में, इतिहास-रस की परिकल्पना में, आदर्शात्मक भावबोध की स्थापना में, स्वगत-कथनों के प्रयोग में काव्यात्मक भाषा का दिग्दर्शन होता है। जयमाला के स्वर में काव्यात्मक सौन्दर्य और सशक्त अभिव्यक्ति की सम्पृक्ति दृष्टव्य है—'एक प्रलय की ज्वाला अपनी तलवार से फैला दो। भैरव के शृंगीनाद के समान प्रबल हुंकार से शत्रु-हृदय को कँपा दो! वीर बढ़ो, गिरो तो मध्याह्न के भीषण सूर्य के समान! आगे, पीछे सर्वत्र आलोक और उज्ज्वलता रहे?'[६]

'भैरव............कँपा दो' में नाद-सौन्दर्य अपनी पूरी संश्लिष्टता के साथ मानस-पटल पर अमिट छाप छोड़ता है। 'प्रलय की ज्वाला' युद्ध की भयानकता का आभास देने में सक्षम है जो उनके व्यक्तित्व और सांस्कृतिक सुरक्षा के लिए समस्याओं से जूझने वाली दृढ़ता को प्रतिफलित करती है। 'मध्याह्न का भीषण सूर्य' के प्रयोग में प्रकाश-पुञ्ज की चरम सीमा है जिसमें चेतना के स्तर पर वीरगति का भाव निहित है। 'आगे-पीछे सर्वत्र' आलोक और उज्ज्वलता में चित्र का साम्य-भाव देखने योग्य है।

मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रसाद ने मातृगुप्त की मनःस्थिति का सजीव अंकन किया है जिसमें सूक्ष्म स्तर पर सच्चे और निःस्वार्थ प्रेम की व्यंजना हुई है। प्रेम की यह पवित्रता कोरे देहवादियों की स्थिति पर तरस खाने के लिए विवश करती है। 'कंगाल की निधि' मुहाविरा में मालिनी के प्रति मातृगुप्त के सच्चे स्नेह की प्रगाढ़ता चित्रित हुई है। 'आह' शब्द में मातृगुप्त की पीड़ा कराह उठी है। मातृगुप्त कवि है और उससे पहले एक आदमी। उसके अन्तर के प्रेमभाव को मालिनी ने जगाकर हरा कर दिया और बाद में उसी मालिनी का प्रेम व्यावसायिक बन गया। मातृगुप्त के प्रेम और मालिनी के इस प्रेम में कितना अन्तर है। एक पवित्र और निःस्वार्थ है, तो दूसरा व्यावसायिक और लोभी। मातृगुप्त के हृदय की पवित्रता 'भाग्याकाश के मन्दिर' में अभिव्यंजित हुई है।

इतिहास रस की परिकल्पना में भी काव्यात्मक भाषा का दिग्दर्शन होता है। जहाँ एक दूरी और निकटता या अतीत और वर्तमान दोनों की सम्भावना एकसाथ होती है, वहाँ काव्यात्मकता आ जाती है। इसे इतिहास रस की संज्ञा दी गई है।

'स्कन्दगुप्त' नाटक में संस्कृति के उदात्त मूल्यों की सुरक्षा की समस्या है और उसी के अनुरूप शब्दों की अर्थ-गरिमा की खोजबीन करके, धर्म, संस्कृति की निश्चितता द्वारा राष्ट्रीय भावना को व्यक्त करने की रचनात्मक बेचैनी है। 'उसी गरुड़ ध्वज की छाया में' कहकर पर्णदत्त

अतीत की ओर ध्यान आकृष्ट करता है और 'मर मिटूँ' में वर्तमान का संकेत है। अतः यहाँ पर इतिहास रस की उद्भावना निश्चित रूप से हुई है। अपने कर्तव्य द्वारा पर्ण ने तत्कालीन अकर्मण्य जनता को कर्तव्य का ध्यान दिलाया है जो रचनाकार का प्रमुख उद्देश्य है।

यों तो 'स्कन्दगुप्त' नाटक में स्कन्द, पर्णदत्त, चक्रपालित, बन्धुवर्मा, भीमवर्मा, देवसेना, देवकी, जयमाला आदि अनेक देशप्रेमी पात्रों का प्रणयन हुआ है, किन्तु विदेशी पात्रों द्वारा भरत की प्रशंसा में राष्ट्रीयता का आग्रह अधिक मुखर हुआ है। धातुसेन ऐसा ही पात्र है—भारतीय संस्कृति के प्रति जिसकी दृष्टि श्लाघ्य है। ऐसे भावबोध की स्थापना में काव्यमयी भाषा स्पृहणीय है।[१०]

काव्यात्मक भाषा के उपकरण हैं—बिम्ब और लय। आवेग के क्षण में जब पात्र अपनी मानसिकता का रूपायन कर रहा होता है, तो उसकी भाषा में लोच होती है। अकेले लय-सौन्दर्य का नाटक की काव्यात्मक भाषा में निर्णायक महत्त्व नहीं है, जब तक कि वह सर्जनात्मक भाषा या बिम्ब से जुड़ नहीं जाता। 'स्कन्दगुप्त' नाटक की भाषा में जहाँ भी बिम्ब का सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है, वहाँ प्रसाद की रचनात्मक स्वायत्तता और स्वाधीनता सूक्ष्मता की अधिकतम सीमा का संस्पर्श कर सकी है और उनकी अनुभूति, उसे अभिव्यंजित करने वाली बिम्बों की लड़ियाँ, रचना—विधान एक संश्लिष्ट रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। इसकी सही पहचान के उपक्रम से ही व्यावहारिक भाषा की प्रक्रिया को सार्थक बनाया जा सकता है। बिम्ब में सर्जनात्मक अर्थवत्ता विद्यमान रहती है। बिम्ब-गठन में भाषा की उन्मुखता समसामयिक अनुभव को काव्य के स्तर पर निरूपित नहीं करती, तो यह निश्चित है कि 'स्कन्दगुप्त' में दर्शन और इतिहास की साक्षात्कार-प्रक्रिया अधिक होती।

बिम्ब-प्रयोग के विविध रूप हैं—जैसे राजनीति-सम्बन्धी बिम्ब, प्रेमोन्माद-सम्बन्धी बिम्ब, दर्शन-सम्बन्धी बिम्ब, संगीत-सम्बन्धी बिम्ब। अन्य बिम्बों की चर्चा तो किसी न किसी रूप में हो चुकी है। यहाँ संगीत, राजनीति-सम्बन्धी बिम्बों की चर्चा अभिप्रेत है।

सम्पूर्ण नाटक के रचना-विधान में देवसेना का केन्द्रीय स्थान है और उसकी भाषा का निर्धारण भी उसकी विशेषताओं के आधार पर हुआ है। इसकी पहली विशेषता 'संगीतमय' है—'जहाँ पारस्परिक संगीत बाह्य में विलय हो जाय वह, लय है।'[११] लय का अर्थ में निर्णायक महत्त्व नहीं है, बल्कि उससे सौन्दर्यात्मक वृद्धि भले हो जाती है। देवसेना के लिए सम्पूर्ण सृष्टि संगीतमय है, स्वयं उसका जीवन भी संगीतमय है। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में संगीत का स्वरूप जब उभरा है, तब पाठक सुर और लय में तन्मय हो जाता है। देवसेना उस बिन्दु पर है जहाँ सम्पूर्ण नाटक के संघर्ष का समाहार होता है। उसमें आत्म-सम्मान की प्रबलता है जिसके कारण उसने स्कन्द को अस्वीकार किया। वह आत्मसम्मान आत्मत्याग से उद्भूत हुआ है। वह अन्ततः संघर्षों और द्वन्द्वों का अतिक्रमण कर जाती है।

ज्ञानशील व्यक्ति भ्रम के वशीभूत होकर तो अपने जीवन को सञ्चित करता है और ईश्वर-प्रदत्त वस्तु को लुटाता है, जैसा देवसेना के जीवन में हुआ है। अगली पंक्तियों को बिम्बों के कुशल प्रयोग द्वारा आधुनिकता प्रदान की गई है। सुबह से यात्रा पर निकली सूर्य की किरणों का सन्ध्या के समय थक कर कुम्हला जाना और उससे निकले स्वेद-कणों का देवसेना के आँसू के रूप में अहर्निश गिरना तथा सुबह से शाम तक की इतनी सूक्ष्म यात्रा तय करने में—'नीरवता की अनन्त अँगड़ाई' लेना कितनी शान्त, गम्भीर और आलस्ययुक्त सौन्दर्य-समृद्धि होगी, इसका अनुभव यह बिम्ब भली-भाँति सम्प्रेषित करता है। इसके नीचे वाली चार पंक्तियों (श्रमित······

उठाई) में स्कन्द का देवसेना के प्रति आकर्षण-भाव निहित है। ऐसे समय में जब पथिक क्लान्त होकर घने जंगल में पेड़ की छाया में सो रहा था और स्वप्नों की मधुर माया में लिप्त था, तब 'विहाग की तान' का उठाना देवसेना के प्रति स्कन्द के आकर्षण-भाव को समग्रता के साथ प्रस्तुत करता है। 'विहाग की तान' बिम्ब है जिसके कारण जटिल अनुभव क्रमशः विकसित होता चलता है। 'आशा आह ! बावली' में भी छोटा-सा बिम्ब है जो आशा के रूप को उसके भावों के सहित सम्प्रेषित करता है। यदि आशा को प्रतीक (आशा-बावली) द्वारा व्यंजित किया जाता, तो वह आशा के अनुभव को इतने सूक्ष्म ढंग से न व्यंजित कर पाता। 'आह !' पीड़ा के भाव को उजागर करता है। मधुकरियों, सतृष्ण, सकल आदि शब्दों का स्थान अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जिसके द्वारा अनुभव की सम्पूर्णता गति की सम्पृक्तता के साथ बिम्ब-साक्षात्कार की प्रक्रिया मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ती है।

राजनीतिक गतिविधियों को सूक्ष्मता से रूपायित करने के लिए बिम्बों की सर्जना स्पृहणीय है। इन बिम्बों का प्रादुर्भाव प्रकृति के बाह्य जगत् से हुआ है। ऐसे बिम्ब अधिक सूक्ष्म नहीं बन पड़े हैं, किन्तु उनके द्वारा सर्जनात्मक अर्थों की तह में पहुँचा जा सकता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। प्रकृति के विभिन्न रूपों पर मानवीय भावों को आरोपित करके भाषा की सार्थकता की सिद्धि की गई है। 'स्कन्दगुप्त' में पर्णदत्त के संवाद द्वारा गुप्त साम्राज्य की स्थिति का चित्रण आँधी आने से पहले स्तम्भित आकाश तथा बिजली गिरने से पहले शून्य पर चढ़ी नील कादम्बिनी जैसे सजीव बिम्बों की सर्जना हुई है।

सात्त्विक भावों—मुख्य रूप से प्रेम के चित्रण के लिए प्रसाद ने बिम्ब के निरूपण में प्रकाश का सहारा लिया है। कथानक-परिवेश निर्माण के लिए धूमकेतु, मेघ, बिजली, आँधी आदि बिम्ब विशेष प्रिय रहे हैं।

अनुभूति की आँच में पकी मानव-मन की विचित्रता, देश में व्याप्त भय, राजकीय वातावरण और प्रकृति की मनोहर छटा को अंकित करने के लिए प्रतीकों की सहायता ली गई है जिसमें बिम्ब अनायास पुष्पित हो जाते हैं। प्रतीक कब बिम्ब हो जायेगा, इसका अनुमान सहज नहीं लगाया जा सकता, बल्कि इसके द्वारा भाषा की अर्थवत्ता अपनी समग्रता में प्रमाता के समक्ष खड़ी हो जाती है। प्रसाद ऐसे पहले रचनाकार रहे हैं जो प्रतीकों से बिम्बों तक की सूक्ष्म यात्रा बड़ी ही कुशलता से तय कर सके हैं। प्रतीक और बिम्ब के दोहरे दायित्व को वहन करने के बावजूद 'स्कन्दगुप्त' की भाषा बोझिल नहीं होने पायी है।

बिम्बों को जीवन्तता प्रदान करने के लिए कहीं-कहीं प्रसाद ने मिथक को सजीव उपकरण के रूप में प्रयुक्त किया है। अभीष्ट वस्तु को प्राप्य समझकर विजया लम्बी अवधि तक उसके पीछे दौड़ती रही जिसके कारण राष्ट्रीयता की भावना से वंचित रही; ऐसी मनःस्थिति के चित्रण के लिए पौराणिक सन्दर्भ का सर्जनात्मक प्रयोग हुआ है—

बिम्बों की रंगीन छवि को अंकित करने के लिए प्रसाद की दृष्टि कुछ विशेष रंगों—काला, लाल, नील, लोहित में अधिक रमी है। कतिपय प्रसंगों में रंगों के अत्याग्रह के कारण पुनरुक्ति अलंकार का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु उसका दर्शन दोष रूप में न होकर, वास्तविक स्वभाव के रूप में होता है।

'स्कन्दगुप्त' में मूर्त को अमूर्त और अमूर्त को मूर्त रूप प्रदान करने की अपनी विशेष उपलब्धि रही है, ऐसे सन्दर्भों में पारिभाषिकता का आग्रह सम्पूर्ण अर्थवत्ता के साथ मुखर हुआ है।[१२]

रमणीय परिवेश को निर्धारित करने वाले प्रकृति के विभिन्न उपादानों में मानवीय क्रिया-व्यापारों का आरोप करने में प्रसाद सिद्धहस्त रहे हैं। चूंकि वस्तु की अपेक्षा चेतन के रूप में चिन्तन की प्रमुखता है, इसलिए जड़ को चेतन के रूप में देखने का आग्रह भाषा की सर्जनात्मक आवश्यकता का प्रतिफलन है। अनुभूति के तीव्र आवेग में रचनाकार जड़-चेतन, मूर्त-अमूर्त का भेद भूल जाता है. लेकिन उसकी भाषिक क्षमता नाटक में आद्योपान्त सक्षम रही है। नियति-सुन्दरी, मेघ-समारोह जैसे अनेक शब्दों के प्रयोग में मानवीय भावों का आरोप है।

स्कन्द नितान्त मानवीय चरित्र है, इसलिए वह जीवन के निर्मम और क्रूर यथार्थ में भ्रमण करता है। ऐसे में मानव की अकर्मण्यता, स्खलित राष्ट्रीय भावना, विखण्डित संस्कृति, धर्म एवं मानव मूल्यों के प्रति उसका क्षुब्ध होना स्वाभाविक है। इस क्षुब्धावस्था में वह अधिक निराश होता है जो स्कन्द मात्र की न होकर सम्पूर्ण मानव-मन में व्याप्त कमजोरियों के प्रति संकेत करती है।[१३]

शीतल, शुभ्र, शरद-राशि, विलास, विडम्बना जैसे शब्दों के प्रति रचनाकार का विशेष लगाव रहा है। इसके प्रदर्शन के लिए उचित स्थान को ढूंढ़ा गया है जिसके साथ-साथ सम्प्रेषण की अद्भुत शक्ति जुड़ी हुई है। प्रकृति के रमणीय दृश्य की छटा इन शब्दों में साकार हुई है। दाँत पर दाँत रखना, मुट्ठी बाँधना, लाल-लाल आँखों से घूरना आदि सामान्य जनजीवन में प्रचलित मुहाविरे-'प्रसाद को क्लिष्ट शब्दों के प्रयोगकर्ता' कहने पर प्रश्नचिह्न लगाते हैं। इनका प्रयोग युद्ध में रत मनुष्यों की भयानकता को चरितार्थ करता है। स्कन्द की यह निराशा महाभारत-कालीन अर्जुन की निराशा-सदृश है। ऐसा नहीं है कि निराशा इसी बिन्दु पर केन्द्रित हो जाती है बल्कि अर्जुन को कर्तव्य की ओर उन्मुख करने वाले कृष्ण के समान पर्णदत्त, देवसेना, चक्रपालित आदि पात्र विभिन्न रूपों में निराश स्कन्द को कर्तव्य के लिए प्रेरित करते हैं और स्वयं कर्म करते हैं।[१४]

इस बात की एक बार फिर पुनरावृत्ति अपेक्षित है कि 'स्कन्दगुप्त' की मूल वस्तु पराधीनता की बेड़ी में जकड़े भारतवासियों के अन्दर राष्ट्रीय भावना का संचरण करके, उन्हें कर्तव्य-पथ की ओर उन्मुख करना है। यही नाटक का केन्द्रबिन्दु है जिसको पुष्ट करने के लिए सम्पूर्ण भावनायें उनके चारों ओर चक्कर लगाती रहती हैं। इन भावनाओं के अन्तर्गत कुलवधुओं, बालकों, धर्म की व्यापक मर्यादा एवं अन्य मूल्यों को लिया जा सकता है। इसके विपरीत आचरण करने वाले लोगों पर पर्णदत्त की खीझ सशक्त रूप में व्यक्त हुई है।

यों तो 'स्कन्दुगुप्त' के अन्तर्गत हास्य-सृष्टि में प्रसाद की वृत्ति अधिक नहीं रमी है, लेकिन सीमित स्थानों पर ही अर्थ की सशक्त सम्भावनाओं के कारण नाटकीय स्थिति हास्य के आयोजन के कारण अधिक सक्षम बन पड़ी है। शर्वनाग और उसकी पत्नी रामा का संवाद उक्त कथनों के अन्तर्गत आता है।

मुद्गल और धातुसेन के सम्वाद में भी हास्य की सुन्दर योजना हुई है—

'रचनाकार की लेखनी जहाँ श्रेष्ठि कन्ये, भिक्षु-शिरोमणे, कवि-शिरोमणे आदि शब्दों के प्रयोग में व्यक्ति की श्रेष्ठता को अभिव्यंजित करती है, वहीं धन के पीछे मानवता का परित्याग कर देने वाले अकर्मण्य व्यक्तियों के सम्बोधन के लिए रक्त-पिपासु, अपदार्थ, क्रूरकर्मा, कृतघ्नता की कीच का कीड़ा, नरक की दुर्गन्ध आदि प्रयोगों से अन्तर्मन में व्याप्त सम्पूर्ण खीझ को उभारने में समर्थ हुई है। इन शब्दों की चोट डंडों की चोट से कम नहीं है। ऐसे भावों के चित्रण में भी 'कौड़ी के मोल बेचना' जैसा मुहाविरा और रक्त-पिपासु जैसे अनेक रूपक अपनी स्वाभाविकता के साथ मुखर हुए हैं।[१५]

अन्य पात्रों की तरह शर्वनाग और रामा का सम्वाद रिश्तों की क्रूरता का प्रतिफ़लन है जिससे नारी के सुकोमल, पर आवश्यकता होने पर क्रूर भावनायें चरितार्थ होती हैं। नारी जितनी अबला है, अन्याय-दमन के लिए देश एवं संस्कृति की रक्षा के लिए उतनी ही रामा जैसी सबला हो जाती है, इसके लिए क्रूर से क्रूर कर्म करने से भी चूकती नहीं है। ऐसा आचरण सब के प्रति बराबर है। समाज-प्रदत्त रिश्ते इसमें बाधक नहीं हैं। उपर्युक्त उद्धरण में इस कथन की पुष्टि बड़ी सजीवता से की गई है। ओह ! अहा ! आदि का प्रयोग पश्चात्ताप और निराशा के लिए किया गया है। छोटे-छोटे शब्दों में अर्थ की अद्‌भुत शक्ति पिरोयी गई है।

किसी रचना का भाषिक विश्लेषण समसामयिक सन्दर्भ में किया जाना चाहिए। इस कसौटी पर प्रसाद खरे उतरते हैं। 'स्कन्दगुप्त' नाटक की भाषा इतनी प्रौढ़ है कि वह पात्रों के व्यक्तित्व को अनुशासित करती है। सामर्थ्यवान् भाषा नाटक की आधारभूमि है जिस पर उसकी अन्य विशेषतायें टिकी हुई हैं। नाट्यभाषा की अपेक्षाओं के साथ-साथ प्राचीन, आधुनिक, पाश्चात्य आदि के ग्राह्य स्रोतों को मिलाकर प्रसाद ने मौलिक नाटक की रचना की। इसी कारण इन्हें हिन्दी का प्रथम आधुनिक नाटककार कह सकते हैं।

सन्दर्भ-संकेत

१. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त; प्रथम अंक, पृ० २२। २. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त, पृ० ५७। ३. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त, तृतीय अंक, पृ० ८३। ४. वही, पंचम अंक, पृ० ११६। ५. वही, द्वितीय अंक, पृ० ५६। ६. वही, पंचम अंक, पृ० १। ७-८. वही, पंचम अंक, पृ० २। ९. वही, पंचम अंक, पृ० ३७। १०. वही, चतुर्थ अंक, पृ० १०१-१०२। ११. डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी : सर्जन और भाषिक संरचना, पृ० २६। १२. जयशंकर प्रसाद : स्कन्दगुप्त, द्वितीय अंक, पृ० ५२। १३. वही, प्रथम अंक, पृ० १७। १४. वही, द्वितीय अंक, पृ० ४०। १५. वही, प्रथम अंक, पृ० २३।

'बकरी' का नाट्य-सौन्दर्य

डॉ० अब्दुल बिस्मिल्लाह

हिन्दी के जिन नाटकों को रंगमंच पर बेहिसाब सफलता मिली है, उनमें सिर्फ़ दो नाटकों के नाम ही ख़ास तौर पर लिये जा सकते हैं : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नाटक 'अंधेर नगरी' और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'बकरी'। यह भी एक विचित्र संयोग है कि उपर्युक्त दोनों नाटक बिल्कुल आकस्मिक ढंग से लिखे गये। भारतेन्दु ने 'अंधेर नगरी' की रचना नेशनल थियेटर नामक एक रंगमण्डली के अनुरोध पर की थी और यह नाटक एक ही रात में एक बैठक में लिखा गया था।[1] 'बकरी' के बारे में स्वयं लेखक ने लिखा है कि यह नाटक इब्राहिम अल्काजी[2] के साथ इस बातचीत के बाद लिखा गया था कि हिन्दी में आम आदमी का समसामयिक नाटक नहीं है। इसके लिखे जाने पर उनके राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की नाट्य-मण्डली ने इसे दो दिन कुछ आमन्त्रित लोगों के सामने खेला भी...।[3] यानी 'अंधेर नगरी' और 'बकरी' दोनों की रचना के मूल में किसी न किसी नाट्य-मण्डली का अनुरोध स्पष्ट ही दिखाई पड़ता है। इस 'अनुरोध' की स्थिति को समझे बग़ैर नाटक का समुचित मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इसके साथ ही सर्वेश्वर जी की इस पंक्ति पर भी विशेष रूप से ध्यान होगा कि 'हिन्दी में आम आदमी का समसामयिक नाटक नहीं है।' सर्वेश्वर जी का यह कथन भारतेन्दु के युग में भी उतना ही प्रासंगिक था जितना अब है। वस्तुतः उस समय भी हिन्दी में कोई ऐसा नाटक नहीं था जो देश की तत्कालीन विषम परिस्थितियों को आम आदमी के सामने आम भाषा में आम ढंग से प्रस्तुत कर सके। संस्कृत के सारे नाटक अप्रासंगिक हो गये थे और पारसी थियेटरों के ज़रिए एक सस्ते क़िस्म का मनोरंजन जनता के समक्ष पेश किया जा रहा था। ऐसी परिस्थिति में ऐसे नाटकों की सख्त जरूरत थी जो अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक गरिमा के साथ-साथ सामान्य जनता का मनोरंजन भी कर सकें। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक था कि सामान्य जनता को दिखाया जाने वाला वह 'खेल' केवल खेल न होकर समसामयिक निरंकुश सत्ता के चरित्र को भी नंगा करे। भारतेन्दु ने अपने नाटकों के ज़रिए यही काम किया। उन्होंने नाटक को शास्त्र की वस्तु नहीं बनाया—जैसा कि नाट्यशास्त्र के कुछ विद्वान् चाहते हैं। भारतेन्दु जानते थे कि देश को अंततः जनता ही मुक्ति दिला सकती है, नेता नहीं; इसलिए उन्होंने जनता का पूरा का पूरा ध्यान रखा। और यही कारण है कि 'अंधेर नगरी' में पुष्ट विचार और लोकशिल्प का अद्भुत सामंजस्य देखने को मिलता है।

लेकिन कालांतर में जाकर नाटक का सम्बन्ध जनता से पुनः विच्छिन्न हो गया और बहुत काल तक विच्छिन्न रहा। नाटक तो असंख्य लिखे गये और लिखे जाते रहे, पर सब पढ़ने-पढ़ाने के लिए। किसी का मंचन भी हुआ, तो पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा प्रदत्त बड़े-बड़े प्रेक्षागृहों

में, जहाँ हिन्दोस्तान के सामान्य आदमी की पहुँच हो ही नहीं सकती। और परिणाम यह सामने आया कि जनचेतना का सबसे सशक्त माध्यम जन से ही दूर हो गया।

इस बीच देश की परिस्थितियाँ विषम से विषमतर होती गयीं। आज़ादी से पहले आज़ाद भारत के लिए जो-जो योजनायें बनायी गयी थीं और जनता को जो-जो आश्वासन दिये गये थे, वे सब हवाई महल बनकर रह गये। जाति और धर्म का भेदभाव भूल कर जिस एकता की बुनियाद पर आज़ादी की लड़ाई लड़ी गयी थी, आज़ादी मिलते ही वह चकनाचूर हो गयी और आज़ाद भारत के रहनुमा के रूप में जिस विभूति के सिद्धान्तों का स्तोत्र गाया रहा जा था, साम्प्रदायिक मदान्धता ने उन्हीं गांधीजी का ख़ून का दिया। देश के दो टुकड़े हो ही गये थे; अब जो भारत नाम का एक टुकड़ा देश बचा था, उसे नोचने-खसोटने की होड़ शुरू हुई। और नेहरू जी की मृत्यु के बाद तो यह होड़ भयानक आंतरिक संघर्ष में बदल गयी। ध्यान देने की बात है कि 'बकरी' नाटक सन् १९७४ में लिखा गया और सन् १९६४ से १९७२ तक के भारतीय तंत्र का सोवियत इतिहासकारों ने जो नक्शा खींचा है, वह इस प्रकार है—

वे गुट अधिकाधिक शक्तिशाली होते जा रहे थे जो राज्यों में संगठन को नियंत्रित करते थे और केन्द्रीय कांग्रेस नेतृत्व अथवा केन्द्रीय सरकार के अलग-अलग सदस्यों के समर्थक थे। इस परिस्थिति में विभिन्न कांग्रेस संगठनों में स्थानीय 'दादाओं' की भूमिका काफ़ी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गयी थी। सामान्यतया इन 'दादाओं' का स्थानीय पूँजीवादी वर्ग के प्रभावी हलक़ों के साथ घनिष्ठ सहयोग था...।[४]

उपर्युक्त चित्र को देखकर सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वतन्त्रता से पूर्व कांग्रेस के जो महान् उद्देश्य थे, वे अब क्षरित हो गये थे और गांधीजी के सिद्धान्त मात्र दिखाने के दाँत बनकर रह गये थे। देश के नेतृत्व वर्ग ने गांधी को देवता बनाकर यहाँ-वहाँ उनकी प्रतिमाएँ स्थापित करा दीं और स्कूली बच्चों से उनकी जय बुलवा कर देश की भोली-भाली जनता को अत्यन्त सरलता के साथ समझा दिया कि गांधी जी और उनके विचार हमें कितने प्रिय हैं। ऐसे में यह आवश्यक था कि भारत की जनता को सही स्थिति से अवगत कराया जाय और उसके लिए जनता के बीच जाकर 'खेल'[५] दिखाने से बढ़ कर दूसरा कोई जनपरक माध्यम हो नहीं सकता था—पर मोहन राकेश आदि बड़े-बड़े नाटककार भी सिर्फ़ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर ही नाट्य रचना करते रहे!

वस्तुतः साहित्य में जब सौन्दर्य की बात उठायी जाती है तो उसका अर्थ भावसौन्दर्य या सिर्फ़ कलासौन्दर्य नहीं होता, बल्कि साहित्य का सौन्दर्यात्मक पहलू यह भी है कि कोई रचना किस प्रकार अपनी विषयवस्तु और अपने शिल्प के माध्यम से एक व्यापक यथार्थ को भावक के समक्ष प्रभावशाली ढंग से प्रेषित कर पाती है। सौन्दर्यशास्त्र-सम्बन्धी एक नयी पुस्तक 'प्रॉब्लम्स ऑफ़ कॅन्टेम्पोरेरी एस्थेटिक्स' में संकलित एक निबन्ध (कन्सर्निंग दि कैटेगॅरी ऑफ़ दि ब्यूटीफ़ुल : बाई मिखेल ओव्सिनिकोव) में सौदर्य के जो तीन पक्ष बताये गये हैं, उनमें यह तथ्य समाहित है।[६] जहाँ तक नाटक का सवाल है, यह 'प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित' कर पाने का गुण उसमें कुछ अधिक ही होना चाहिए, क्योंकि नाटक मूलतः एक दृश्य विधा है और उसका भावक (दर्शक) वही प्राप्त करता है जो वह तुरन्त देखता है। उसके साथ ऐसा प्रायः नहीं होता कि आज वह जो देखे, उस पर किसी अन्य समय पर विचार करे और तब उसके प्रभाव को ग्रहण करके उसके साथ साधारणीकृत हो। अतएव जब हम नाट्य-सौन्दर्य की चर्चा करते हैं तो उसका सीधा अर्थ यह होता है कि नाटक में विषयवस्तु और रंगकल्पना की यथार्थपरक, जनपरक

भूमिका अनिवार्य रूप से होनी ही चाहिए। यहाँ विषयवस्तु की बात जानबूझकर बार-बार उठायी जा रही है, क्योंकि हिन्दी रंगमंचों पर प्रायः वही नाटक बार-बार दिखाये जाते रहे हैं और दिखाये जा रहे हैं जिनकी विषयवस्तु ऐसी होती है जो जनता का तात्कालिक मनोरंजन तो कर सकती है, पर उसे सोचने-समझने के लिए उद्वेलित नहीं कर सकती। चाहे वे हिन्दी रंगमंचों पर बहुत ज्यादा लोकप्रिय मराठी नाटककार विजय तेंदुलकर के ही नाटक क्यों न हों!

नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में व्याप्त इस आभिजात्य किस्म के दबाव से विद्रोह करके ही नुक्कड़ नाटकों का आंदोलन शुरू हुआ और आज वह बड़े शहरों से बाहर निकलकर छोटे-छोटे क़स्बों और गाँवों तक में अपनी प्रभावशाली भूमिका अदा कर रहा है। ख़ुद 'बकरी' की असंख्य प्रस्तुतियाँ अनेकानेक गाँवों, क़स्बों और गली-कूचों में हो चुकी हैं। लेकिन इस नाटक की लोकप्रियता का सिर्फ़ यही कारण नहीं है कि इसमें नौटंकी और पारसी थियेटर के समन्वय से एक नये और यथार्थवादी शिल्प का उपयोग किया गया है, बल्कि वास्तविकता यह है कि 'बकरी' अपनी सघन वैचारिकता और स्थित्यनुकूल रंगरचना के कारण ही इस युग के सर्वाधिक सशक्त नाटक के रूप में स्वीकृत हुआ है। नाटक में निहित मुखर व्यंग्य ने इसे और अधिक प्रभावशाली बनाया है।

स्वाधीनता के पूर्व भी और बाद में भी भारतीय राजनीति के अगले दस्ते में प्रायः वही लोग छाये रहे जो आभिजात्य वर्ग के थे और जिन्हें पता था कि भारतीय जनता की कमजोरी क्या है। यही कारण है कि इस देश में जनता का सर्वाधिक शोषण धर्म के नाम पर हुआ। क्योंकि धर्म यहाँ के हर औसत आदमी की सबसे बड़ी दुर्बलता है। अंग्रेजी-शिक्षा ने धर्म के प्रति लोगों की रुचि कम तो कर दी, पर धार्मिक उन्माद को बढ़ा दिया। रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के ख़िलाफ़ इतना ढोल पीटा गया, पर उन्हें नेस्त-नाबूद नहीं किया जा सका। शहरी जीवन में भले थोड़ी-बहुत चेतना आयी, पर गाँव का सम्यक् परिष्कार नहीं हुआ। नतीजा यह रहा कि आजादी के बाद देशी हुक्मरानों ने भारत की अंधविश्वास-लिप्त ग्रामीण जनता का शोषण और दुरुपयोग ख़ूब जमकर किया। 'बकरी' नाटक की मूल अंतर्कथा यही है। इसका केन्द्रीय विषय है राजनीति, लेकिन केवल सत्ता की राजनीति नहीं। वस्तुतः राजनीति के सदा ही दो पक्ष होते हैं : सत्ता की राजनीति और जनता की राजनीति। जो लोग राजनीति को साहित्य के लिए अनावश्यक मानते हैं, उनकी दृष्टि में केवल सत्ता की ही राजनीति होती है। दृष्टि की इस संकीर्णता से मुक्त होते ही राजनीति के व्यापक अर्थ खुलने लगते हैं और तब सहज ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता के पास केवल राजनीति है, जबकि जनता के पास राजनैतिक चेतना भी है। आवश्यकता इस बात की है कि कोई उसे जगा दे। भारतेन्दु जी ने कभी लिखा था कि "भारतवर्ष की जनता तो हनुमान की तरह है। उसमें बल-विक्रम तो बहुत है, पर उसका बोध उसे नहीं है। कोई याद दिला दे, तब उसका पराक्रम देखे।"[७] 'बकरी' में सर्वेश्वर जी ने जनता की उसी राजनैतिक चेतना को उभारा है और इसके लिए लेखक ने जो संवाद गढ़े हैं, जो दृश्य पैदा किये हैं, नौटंकी और थियेटर शैली में जो गीत-संगीत रचे हैं, पात्रों के जो विविध मूड्स चित्रित किये हैं, उनकी समग्र प्रभावमयता ही 'बकरी' का अपना नाट्य-सौन्दर्य है। इसमें उसकी उपयोगिता और उसकी सोद्देश्यता भी समाहित है।

'बकरी' की सोद्देश्यता आरम्भ में ही स्पष्ट हो जाती है जब लेखक कहता है : 'नट विद्रोही है।'[८] नाटक में राजनीतिक छल-प्रपंच की खाल उधेड़ी जायगी, यह भी वहीं साफ़

हो जाता है, क्योंकि नट मंगलाचरण गाता है, पर उसे राजनीतिक संदर्भ से जोड़ देता है।[६] इसके पीछे नाटककार का जो मंतव्य है, वह भी उजागर होता है : "मुक्ति की हो अभिलाषा, जगे समता की भाषा' (नट)। लेकिन यह मंतव्य तो तभी पूरा होगा जब नाटक से जनता का समग्र साधारणीकरण होगा और यह तभी संभव होगा जबकि नाटक का जो शास्त्रीय आधार है, उससे और योरोपीय रूपवाद के प्रभामंडल से अलग हटकर जनता की भाषा में और जनता की शैली में नाटक प्रस्तुत किया जाएगा—केवल 'रूप' पर ध्यान न देकर जीवन के 'सत्य' को भी उजागर किया जाना जरूरी है। क्योंकि 'रूप' के रूप में बात उड़ जाए है, सत्य क्या है इसकी ख़बर ही नहीं।"[१०] नाटक के क्षेत्र में जो 'कलात्मक' और 'सुरुचि-सम्पन्न' जैसे शब्द आयातित माल की तरह प्रचलित हो गये हैं, लेखक उनकी क़लई भी खोलता है।[११] और इस प्रकार 'भूमिका दृश्य' में ही नट-नटी के संवाद के जरिए नाटक की जनोन्मुखता साफ़ तौर पर उजागर हो जाती है।

नाटक के पहले अंक के पहले दृश्य में भिश्ती का प्रवेश होता है जिसके हाथ में बकरी की खाल की मशक है। यानी नाटककार दिखाना यह चाहता है कि जो पहले 'बकरी' थी, अब वह 'मशक' बन गयी है। ध्यान रहे कि आगे नाटककार गांधी जी की 'बकरी' को लाने वाला है। गांधी जी बकरी के दूध का सेवन करते थे, इसलिए बकरी और गांधी का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध सिद्ध है। और यह सम्बन्ध जब मुहावरा बनकर प्रयुक्त हुआ, तो 'बकरी' एक तरह से गांधी-सिद्धान्त का प्रतीक बन गयी। यानी 'मशक' जो बनी है, वह बकरी की नहीं; बल्कि गांधी जी के सिद्धान्तों की है। स्वयं को गांधी जी के शिष्य मानने वाले और गांधी जी के पगचिह्नों पर चलने का दम भरने वाले नये कर्णधारों ने स्वाधीनता के बाद गांधी के साथ वही सलूक किया जो एक बिना मुँह की बकरी के साथ किया जाता है। पहले उसे मार दिया, फिर उसका गोश्त खाया और उसकी खाल से मशक बना ली। ध्यान देने की बात है कि गांधी जी की हत्या के बाद जब कुछ इसी तरह का क्षोभ नागार्जुन ने अपनी कविता में व्यक्त किया था, तो कांग्रेसी सरकार ने उन्हें जेल में डाल दिया था।[१२]

आज़ादी के बाद धीरे-धीरे भारतीय राजनीति में ऐसे तत्त्वों का प्रवेश और प्रभुत्व बढ़ा जिनके लिए निजी हित मुख्य था और राष्ट्र-हित गौण। तमाम असामाजिक तत्त्व खद्दर पहन कर नेता हो गये। राजनीति एक गन्दी चीज़ मानी जाने लगी और 'नेता' शब्द का बड़ी तेज़ी के साथ अर्थापकर्ष हुआ। यह जो नये अर्थ में नेता वर्ग आया, पुलिस से इसकी साझेदारी बढ़ी। और जनतंत्र की आड़ में सब मिल-जुलकर जनता का रक्त चूसने लगे। सर्वेश्वर जी ने इस स्थिति को अत्यन्त बारीकी के साथ बस चन्द संवादों के ज़रिए व्यक्त कर दिया है।[१३]

दुर्जन सिंह : होश में बात करो दीवान जी, अब हम डाकू नहीं, शरीफ़ आदमी हैं।
सिपाही : शरीफ़ आदमी ! हाय अब मेरा क्या होगा.........।
दुर्जन : वही जो हमारा होगा।
सिपाही : यानी ?
दुर्जन : मज़े। (मूँछों पर ताव देता है) मज़े, ख़ूब मज़े।

आगे यही लोग एक बकरी पकड़ लाते हैं जिसके बारे में प्रचार करते हैं कि यह गांधी जी की बकरी है। उस बकरी की प्रशंसा में भाषण देते हैं और उपदेश झाड़ते हैं। उसके माध्यम से मालामाल होने की योजनाएँ बनाते हैं। बकरी की मालकिन (विपती) को तरह-तरह से समझाने

की कोशिश करते हैं कि यह तुम्हारी नहीं, गांधी जी की बकरी है और अब यह देवी हो गयी है। विपती नहीं मानती तो ग्रामीण जनों में अंधविश्वास और भय फैला कर ये लोग उन्हें अपने पक्ष में कर लेते हैं और विपती को जेल में डाल देते हैं। फिर 'बकरी स्मारक निधि' बनाते हैं। बकरी देवी पर भोले-भाले ग्रामीणों से चढ़ावा चढ़वाते हैं। बकरीवाद का प्रचार करने विदेश जाने की योजना बनाते हैं। चुनाव लड़ते हैं। चुनाव-चिह्न बकरी का थन रखते हैं और अन्त में चुनाव जीत जाने के बाद बकरी को मार कर खा जाते हैं। उस दावत को ये शाकाहारी कहते हैं, क्योंकि बकरी गांधी जी की है। दावत में 'शेरवानी में गुलाब लगाए एक बड़े नेता और उनके साथ एक नेत्री (भी) आती हैं।'[१४]

इस तरह यह नाटक सत्ता के झूठे जनतंत्रवाद को और उसके घिनौने चरित्र को बड़ी निर्ममता के साथ उद्घाटित करता है। अपनी नाट्य-प्रक्रिया में नाटककार व्यंग्य और कटाक्ष को हथियार की तरह इस्तेमाल करता है। 'अन्धेर नगरी' में भारतेन्दु ने भी इसी तरह के अस्त्रों का प्रयोग किया था। वहाँ लक्ष्य में अंग्रेजी सत्ता थी और यहाँ देशी सत्ता है। यानी अंग्रेजी सत्ता और देशी सत्ता के मूल स्वरूप में कोई बुनियादी अन्तर नहीं दिखायी पड़ता—'अंधेर नगरी' और 'बकरी' के तुलनात्मक विश्लेषण से यह बात सहजतया सिद्ध होती है। ध्यान देने की बात है कि 'अन्धेर नगरी' में भी एक बकरी थी जिसके कारण सारा टंटा खड़ा हुआ था। लेकिन जनता के मिजाज में एक ख़ास अन्तर दिखायी पड़ता है। 'अन्धेर नगरी' में जनता राजा की मूर्खता का लाभ उठा कर उसके अन्त की व्यवस्था बड़े ही सादे ढंग से कर लेती है, पर 'बकरी' में स्थिति भिन्न है। यहाँ लेखक की नज़र जनशक्ति पर है। इसीलिए वह बकरी तथा उसकी मालकिन के नये अर्थ खोलकर एक युवा चरित्र को सामने लाता है जो नाटककार की दृष्टि में जनता के क्रान्तिकारी वर्ग का प्रतिनिधि है। नाटक में धीरे-धीरे 'बकरी' का अर्थोत्कर्ष होता है और वह गांधी-सिद्धान्त के प्रतीक से आगे बढ़कर पूरी भारतीयता का प्रतीक बन जाती है। और विपती उस 'गाँव' के बृहत् अर्थ में सामने आती है जो भारतीयता का वास्तविक मूल है। विपती अपनी 'बकरी' के बारे में स्थान-स्थान पर इस प्रकार के उद्गार व्यक्त करती है :

'ई सच है सरकार। हमरे ही घर ई पैदा भई, हम ही एहका पाला पोसा, रात-दिन साथ रही।······हम देश में नहीं रहित हुजूर गाँव में रहित है।······हुजूर एहका छोड़ दें, हमरे पीछे-पीछे न लग जाए तो जौन सजा चोर की ऊ हमरी। आपके पीछे नाँही जायगी हुजूर, हमरे पीछे जाएगी।······गाँव में सबका चीन्हती है···'(पृ० ३५-३७ के मध्य)।

अर्थात् जो भारत देश है, वह जनता का है, खद्दरधारी लुटेरों का नहीं। जनता गाँव है जहाँ देश की मूल अंतश्चेतना निवास करती है। भारत की जनता के लिए गाँव ही उसका देश है, वह अलग से 'देश' की कल्पना नहीं करती। इसीलिए जब कोई ग्रामीण रोजी-रोटी की तलाश में अपना गाँव छोड़ कर बाहर जाता है तो कहता है, परदेस जा रहे हैं। 'देश' के नियंताओं ने इस मूल अंतेश्चेतना को भ्रष्ट करने की जी-तोड़ कोशिश की है। फलस्वरूप देश के विभिन्न हिस्सों में जनता उद्वेलित हुई है और जन-उभार तेज हुए हैं। व्यवस्था के छद्म और राजनीति के दुष्चक्रों के विरुद्ध जगह-जगह जनांदोलन खड़े हुए हैं। नाटककार ने इस समूचे संदर्भ को पूरे कलात्मक सौन्दर्भ और लोकरुचि को भानेवाली आकर्षक नाट्यविधि के साथ प्रस्तुत किया है। चूँकि नाटक का उद्देश्य ही है सम्वाद और संगीत के माध्यम से लोक की चेतना को जागृत करना, इसलिए 'बकरी' की नाट्य-रचना में लोकशैलियों का अद्भुत उपयोग किया गया है। ख़ास तौर से नौटंकी और पारसी थियेटर के परम्परागत रूपों को नये अंदाज में ढाला गया है।

नाटक को गीत-संगीतमय बनाने के लिए एक ओर तो नाटककार ने दोहा-चौबोला-दौड़, बहरे तवील, कहरवा, कजरी (चिरई दाना बिन मुरझाये), ग़ज़ल (दौलत की है दरकार ए सरकार आपको) और थियेटर शैली के पद्यात्मक सम्वादों का जम कर प्रयोग किया है तो दूसरी ओर 'डंडा ऊँचा रहे हमारा' और 'तन मन धन उन्नायक जय हे, जय जय बकरी माता' जैसे गीतों के माध्यम से उन लोकप्रिय गीतों का व्यंग्यात्मक उपयोग किया है जिन्हें राष्ट्रीय गीत कह-कहकर देशभक्ति का अत्यन्त सरलीकृत प्रचार किया गया है। दरअस्ल शिल्प के प्रति सर्वेश्वर का जो स्वदेशी रुझान है, वही उनके नाटक के प्रभाव को तीव्र, गहन और प्रभावी बनाता है। हिन्दी के नाटककारों में प्रयोग के नाम पर पश्चिम के रूपवादी नाट्यशिल्प की ओर तेज़ी के साथ बढ़ती हुई दिलचस्पी और अनावश्यक शोर-शराबे के विरुद्ध सर्वेश्वर तथा हबीब तनवीर जैसे नाटककारों ने अपनी धरती के परम्परागत नाट्यरूपों को अधुनातन शैली में ढाल कर हिन्दी नाटक को व्यापक जनाधरों से जोड़ा है। इससे एक बात साफ़ हुई है कि नाटक का वस्तुपक्ष यदि सबल है, तो उसे किसी भी शिल्प में ढाल कर अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है। जर्मन रंगमंच के प्रख्यात रंगशिल्पी बर्तोल्त ब्रेख्त ने भी कहा है कि "यदि कथ्य उद्देश्यपूर्ण है तो उसका अर्थ निकाल लिये जाने पर अपने आप शोर-शराबा पैदा हो जाएगा।"[१४] अर्थात् केवल शिल्प के ज़रिए शोर-शराबा पैदा करने का न कोई मतलब है, न कोई अर्थ।

अन्त में एक बात की ओर और संकेत करना आवश्यक है। वह यह कि नाटक के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र 'युवक' के क्रियाकलाप नाटककार द्वारा ऊपर से थोपे गये जान पड़ते हैं। 'बकरी' का यह आलोच्य पक्ष है। दरअस्ल वामपंथी लेखकों के एक वर्ग ने अपना यह सिद्धान्त बना लिया है कि उनकी रचना में अन्ततः क्रान्ति होकर ही रहेगी। इस कल्पित क्रान्तिवाद ने प्रगतिशील और यथार्थवादी रचनाधर्मिता को बहुत हानि पहुँचायी है। 'बकरी' का कथ्य अपने आप में इतना प्रभावशाली है कि क्रान्ति अगर न भी होती तो भी उस ग़ुस्से की सृष्टि जनमानस में होकर रहती जो नाटककार का अभीष्ट है। क्या जनता को सिर्फ़ यह बता देना पर्याप्त नहीं था कि चन्द खद्दरधारी लुटेरे इस देश की आत्मा का पहले जी भर कर उपभोग करते हैं, फिर अपना मतलब निकल जाने के बाद बड़ी बेहयायी के साथ उसका गला घोंट देते हैं! लेकिन नाटक में एक 'युवक' आता है जो पहले तो वोट-सिस्टम का विरोध करता है, चुनाव को मज़ाक बताता है[१६] और फलतः जेल में डाल दिया जाता है। फिर नाटक के अन्तिम दृश्य में अचानक वह पुनः प्रकट होता है और जनता को आदेश देता है कि 'बाँधो इन लुटेरों को। इन्कलाब जिन्दाबाद।' बस परिवर्तन हो जाता है। शोषण करने वाली सत्ता परास्त हो जाती है और 'युवक' के नेतृत्व में जनता गाती है—

बहुत हो चुका अब हमारी है बारी,
बदल के रहेंगे ये दुनिया तुम्हारी।

यह सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की 'बकरी' का यथार्थ हो सकता है, और दूर तक सोचें तो भविष्य का यथार्थ भी हो सकता है, पर यह आने समय का यथार्थ क़तई नहीं है।। शोषण और जुल्म के ख़िलाफ़ चारों ओर जनांदोलन रो रहे हैं, जनाधिकारों की लड़ाइयाँ लड़ी जा रही हैं; पर तुरन्त कोई परिवर्त्तन हो जाय, ऐसी स्थिति अभी नहीं बनी है। न भारत की जनता ने अपने शोषकों को अभी तक परास्त किया है और न फ़िलहाल करने की स्थिति में है। हाँ, भविष्य में वह ऐसा करेगी अवश्य, इस बात पर सभी समझदार लोगों का विश्वास है। एक दिन ऐसा ज़रूर आएगा जब शोषण की सत्ता समाप्त होगी और सर्वहारा वर्ग ख़ुदमुख्तार होगा। लेकिन ऐसी स्थिति किसी

एक 'युवक' के तथाकथित क्रान्ति कर देने मात्र से नहीं आने वाली है। दरअस्ल 'क्रान्ति' अकेले करने वाली चीज है ही नहीं। इसके लिए ज़रूरी है जनशक्ति का संगठित और सचेतन होना। अभी तो साहित्य का यही काम है कि वह जनशक्ति को संगठित और सचेतन बनाने की प्रक्रिया में अपनी रचनात्मक भूमिका अदा करे; जनशक्ति जिस हद तक संगठित और सचेतन हो चुकी है या हो रही है, उसका यथार्थपरक चित्र प्रस्तुत करे। जीवन-जगत् में जो नहीं हो रहा है और साहित्यकार की कामना है कि ऐसा हो, अगर अपने पात्रों से वह वैसा करा भी देता है तो उससे क्या हो जायगा? दरअस्ल रचना में इस तरह की कमज़ोरी तब आती है जब रचनाकार पर विचारधारात्मक दबाव बहुत बढ़ जाता है। विचारधारा के बग़ैर तो कोई भी रचना रचना है ही नहीं, पर कला तो यह है कि विचारधारा रचना से फूटे, न कि रचना पर मँडराये। 'बकरी' के अन्तिम दृश्यों में विचारधारा नाटक पर मँडराने लगी है। और यही कारण है कि सर्वेश्वर जी वर्तमान से कूद कर भविष्य में चले गये हैं, जबकि एक नाटककार के लिए परम्परा से चिपके रहना अथवा भविष्य के कल्पित निष्कर्षों को जीना—दोनों ही समान रूप से घातक होते हैं। इस सम्बन्ध में ब्रेख्त का यह कथन द्रष्टव्य है—

"कोई भी कलाकार जो भावी पीढ़ियों के लिए काम कर रहा है, वह परम्परा की कितनी ही सख्त नाकेबन्दी में घिरकर बैठे, वह रंगमंच को नयी गति दे ही नहीं सकता अगर उसकी नाव की पाल में हवा नहीं है। और ध्यान रहे कि पाल में हवा भविष्य की हो नहीं सकती, यह वही हो सकती है जो उसके ज़माने में उसके वक्त में फैली होगी।............उस हवा से नाव आज कैसे चलायी जा सकेगी जो भविष्य में चलने वाली है।"[१७]

लेकिन सिर्फ़ इस एक बिन्दु के कारण 'बकरी' की महत्ता कम नहीं हो जाती। चूँकि नाटक में प्रतिबद्धता भी है और सोद्देश्यता भी, इसीलिए निर्णयात्मकता का होना अस्वाभाविक नहीं है। पर सच तो यह है कि नाटक का सौन्दर्य चेतनासम्पन्न 'युवक' के तेज-तर्रार व्यक्तित्व में उतना नहीं है जितना 'विपती' के आत्मविश्वास और सहज विद्रोह में है।

संदर्भ-संकेत

१. अन्धेर नगरी; सं० गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ २९। २. नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा, दिल्ली के तत्कालीन निदेशक। ३. 'बकरी' की भूमिका : इस नाटक के बारे में। ४. भारत का इतिहास, अन्तोनोवा, लेविन और कोतोव्स्की, पृष्ठ ७३५। ५. नाटक के लिए 'खेल' शब्द भारतेन्दु जी का दिया है। द्रष्टव्य : अन्धेर नगरी, सं० गिरीश रस्तोगी, पृष्ठ २४। ६. द्रष्टव्य उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १०५। ७. द्रष्टव्य : भारतेन्दु जी का निबन्ध 'भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है?' यहाँ उनकी बात अपने शब्दों में कही गयी है। ८. बकरी, भूमिका दृश्य। ९. बकरी, भूमिका दृश्य। १०. वही, पृष्ठ १८। ११. वही, पृष्ठ १९। १२. गांधी जी की मृत्यु पर नागार्जुन ने चार कविताएँ लिखी थीं : तर्पण, शपथ, मत क्षमा करो और गोड्से। १३. बकरी, पृष्ठ २५। १४. बकरी, पृष्ठ ७६। १५. बर्तोल्त का नाटक 'लुकुआ का शाहनामा' की भूमिका से। (पृ० ९) भूमिका लेखक : कन्हैयालाल नन्दन। १६. बकरी, पृ० ६४। १७. लुकुआ का शाहनामा, भूमिका, पृष्ठ ३३-३४।

'अन्धेर नगरी' और भारतेन्दु

●

श्री अभय शुक्ल

कवि, चिंतक, कथाकार, पत्रकार एवं बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का हिन्दी नाट्य-जगत् में विशेष महत्त्व है। उनसे पूर्व हिन्दी-नाटकों की कोई स्वस्थ और विकसित परम्परा नहीं थी। जो पद्यात्मक नाटकीय काव्य मिलते हैं, वे नाट्यकला की कसौटी पर बहुत खरा नहीं उतरते हैं। अतः इन पूर्ववर्ती नाटकों का ऐतिहासिक महत्त्व है, किन्तु कला-सम्बन्धी गौरव नहीं। सर्वप्रथम भारतेन्दु ने ही नाट्यकला के सभी अंगों को आत्मसात् कर साहित्यिक नाटक लिखे जो रंगमंच की दृष्टि से भी उपयुक्त हैं। परिणामतः हम उन्हें आधुनिक 'हिन्दी-नाटक का जनक' कह सकते हैं।

दरअसल, हिन्दी-नाटक के क्षेत्र में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का अभ्युदय एक साहित्यिक क्रान्ति है, इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। उन्होंने मौलिक और अनूदित सब मिलाकर १८ (अठारह) नाटकों की रचना की है। नाटकों के कथ्य एवं शिल्प के सन्दर्भ में भी उनकी दृष्टि की विविधता तथा जागरूकता परिलक्षित होती है। वे एक ओर भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों के प्रति जागरूक थे, तो दूसरी ओर समसामयिक समस्याओं के प्रति भी सजग थे। डॉ० गोपीनाथ तिवारी ने लिखा है कि 'भारतेन्दु ने आँख मूँदकर पश्चिमी या पूर्वी नाट्यकला का अनुसरण नहीं किया है। उनके समय में एक ओर पश्चिमी नाट्य-कला बावनी डग रख रही थी तो दूसरी ओर संस्कृत-नाट्य-कला का द्वार खुला पड़ा था। भारतेन्दु बाबू ने सावधानी से दोनों नाट्य-कलाओं को परखा और अपने नाटकों में उनका उपयोग किया।' भारतेन्दु ने निर्भीकता से कहा कि हमें अपनी आँखें खोलकर चलना चाहिए और जहाँ जो अच्छाई हो, उसे अपनाना चाहिए। न सारी प्राचीनता ही ग्राह्य है और न सम्पूर्ण नवीनता ही। उन्होंने इसी मौलिक एवं सामंजस्यवादी दृष्टिकोण को अपनाकर प्राचीन परिपाटी (चन्द्रावली, सत्य-हरिश्चन्द्र, विषस्य विषमौषधम्) के भी नाटक लिखे और नवीन परिपाटी (भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, भारत-जननी, प्रेम-जोगिनी) के भी। इसी प्रसंग में कहा जा सकता है कि उन्होंने 'नाटक' नामक शोध-निबन्ध लिखकर हिन्दी-जगत् के समक्ष सर्वप्रथम भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य-सिद्धान्तों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया। भारतेन्दु के नाटकों की सर्वाधिक विलक्षणता यह है कि उनमें युग का यथार्थ और समग्र चित्र उपस्थित हो गया है। उन्होंने नाट्यकला और रंगमंच को अधिकाधिक सरल और जनवादी रूप प्रदान किया है। साथ ही पारसी रंगमंच को भोंड़ी भड़ैंती से भी उठाने का प्रयास किया। इस प्रकार भारतेन्दु जी ने हिन्दी नाट्यकला को परिमार्जित कर उसे सुनिश्चित दिशा प्रदान की।

भारतेन्दु की अद्वितीय नाट्यकृति 'अन्धेर नगरी' चुनौती के रूप में आज भी विद्वानों और सामान्य पाठकों के समक्ष अवस्थित है। किसी रचना अथवा साहित्यकार का महत्त्व तभी तक स्थायी रहता है जब तक वह विभिन्न स्तरों पर जनजीवन से प्रत्यक्षतः जुड़ा रहता है। समाज

और रचना के सम्बन्ध का टूटना, रचना के इतिहास के गर्त में विलीन हो जाने का प्रमाण है। कोई रचना कालजयी क्यों बनती है ? यह उसकी प्रासंगिकता की जाँच के बाद ही सही-सही बताया जा सकता है। भारतेन्दु संवेदनशील नाटककार थे जो समकालीन राजनीति पर पूरी दृष्टि रखते थे। परिणामतः जहाँ उन्होंने 'भारत-जननी' में देश-सुधार, 'प्रेम-जोगिनी' में यथार्थ-चित्रण, 'विद्यासुन्दर' में शुद्ध प्रेम और 'चन्द्रावली' जैसी भक्तिरस से डूबी हुई नाट्य-रचना प्रस्तुत की, वहीं 'अन्धेर-नगरी' जैसा विलक्षण प्रहसन भी लिखा। इस विलक्षण प्रहसन के व्यंग्य का तीखा प्रहार तत्कालीन शासन-व्यवस्था से सम्पृक्त है। प्रस्तुत प्रहसन का कथाक्रम कुल छह दृश्यों में विभक्त है। एक महन्त जी के दो शिष्य हैं—एक लोभी गोवर्धनदास और दूसरा नारायणदास। पहला वह हिन्दू है जो पश्चिमी द्वार से अन्धेर-नगरी में जाकर खाने-पीने में मस्त हो जाता है। नारायणदास वह हिन्दू है जो भारतीय परम्परा में रहकर संयम रखता है। गोवर्धनदास अन्धेर-नगरी (अँग्रेजी-राज्य) की भौतिकता के मोह में फँस जाता है। वह भूल गया गुरु के वचन कि 'बेटा, लोभ न करना और अँग्रेजी फन्दे से बचना।' 'अन्धेर-नगरी' में अपराध किसी ने किया, किन्तु दंड किसी को मिला। मोटा-ताजा गोवर्धनदास पकड़ा गया। उसे फाँसी के तख्ते पर चढ़ना पड़ेगा। अब उसकी आँखें खुलीं। गुरु ने सहायता की और उसे बचा लिया। वकील ऐसे हथकंडे दिखाते थे कि फाँसी से भी अपराधी को बचा लेते थे। वकीलों का मस्तिष्क था गुरु के पास और महंत के इस उपदेश-काव्य के साथ प्रहसन का अंत हो जाता है—

"जहाँ न धर्म न बुद्धि नहिं नीति न सुजन समाज।
ते ऐसेहिं आपहिं नसे जैसे चौपट राज।।"

इस नाटक की मूल-मान्यताओं पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राज्यसत्ता अपनी प्रकृति में अन्धी होती है। उसके विधान में न्याय के लिए जितनी आतुरता है, व्यवहार में वह उतना ही अन्याय करती जाती है। समकालीन शासन के साथ ही साथ किसी भी देश में 'अन्धेर-नगरी' की मूल-मान्यताएँ अपने को प्रमाणित कर सकती हैं। प्रस्तुत नाटक का सम्पूर्ण विधान इसी वैषम्य-विन्दु पर खड़ा है। 'अन्धेर-नगरी' में भारतेन्दु ने अँग्रेजी राज्य की शोषण-नीति पर तीखी टिप्पणियाँ प्रतीकात्मक शैली में की हैं। भारतेन्दु के समय की राजकीय दुर्व्यवस्था, विवेकहीनता, विद्वान् और मूर्ख का अभेद रचना के स्तर पर अभिव्यंजित होते हैं। कुछ कथन सीधे राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था पर चोट करते हैं। चना बेचने वाले घासीराम कहते हैं—

"चना हाकिम सब जो खाते—
सब पर दूना टिकस लगाते।'

इसी भंगिमा में चूरनवाला कहता है—

"चूरन अमले सब जो खावें—दूनी रिशवत तुरत पचावें।
× × ×
चूरन साहब लोग जो खाता—सारा हिन्द हजम कर जाता।"

पाचकवाला चूरन का गुणगान करते हुए हिन्दवासियों की निर्बलता, अधिकारियों की रिश्वतखोरी, महाजनों की जमा-हजम नीति, अँग्रेजों द्वारा भारत की जमापूँजी, उद्योग आदि निगल जाने की साजिश, पुलिसवालों द्वारा कानून के प्रति उदासीनता पर भी प्रकाश डालता है। भारतेन्दु ने अँग्रेजी-राज्य के शोषण और भ्रष्टाचार की खरी आलोचना की है, साथ ही वे अपनी सामाजिक कमजोरियों पर टिप्पणी करते हैं। कुजड़िन कहती है—'**ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट**

और बैर ।' अर्थात् जो साहब लोग सारा हिन्द हज़म करने के लिए तत्पर हैं, उनकी सुविधा के लिए मानो हिन्द के निवासी ऐतिहासिक काल से फूट और बैर का सेवन करते आ रहे हैं । अतः भारतेन्दु जी ने इस प्रहसन में राष्ट्रीय जीवन की मुख्य समस्याओं का चित्रण किया है ।

'अन्धेर-नगरी' में मिठाई का भरपूर भोजन करते हुए गोवर्धनदास ५वें अंक के प्रारम्भ में उस नगर की व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार को देखता है और कहता है कि—

"अन्धा धुन्ध मच्या सब देशा—
मानहुँ राजा रहत विदेशा ।"

भारतेन्दु ने यहाँ सीधा व्यंग्य किया है उस अँग्रेज-शासक पर जो लन्दन में रहता है और अपने अधीन जनता की कोई देखरेख नहीं कर सकता । गाय, ब्राह्मण तथा वेदशास्त्र का महत्त्व घट गया है । ऐसा लगता है नृपति कोई विधर्मी है—

"गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई—मानहु नृपति विधर्मी कोई ।"

अपराध कोई और करता है, फाँसी किसी और को चढ़ना पड़ता है क्योंकि खानापूरी तो करनी ही है । निर्दोष गोवर्धनदास जब पकड़ा जाता है तो प्यादा कहता है—'.........बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी को सजा होनी जरूर है, नहीं तो न्याय नहीं होगा । इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुमको फाँसी दें ।' यह व्यंग्य भी अँग्रेजी न्याय-प्रियता पर है जो ऊपर से न्याय का दंभ भरते हैं, अन्दर से केवल स्वार्थ-साधना में ही संलग्न हैं । पूरे नाटक के विधान में भारतेन्दु जी ने इस बात को बड़े तीखेपन से व्यक्त किया है कि शासन-व्यवस्था न्याय करने के लिए ऊपर से जितनी आतुर दिखती है, उतना ही वह अन्याय का समर्थन करती है ।

सामान्यतः विश्व-साहित्य के इतिहास में प्रहसनों का उपयोग इस बात के लिए बराबर होता है कि समकालीन शासन की बिना राजकोप का खतरा उठाये हुए तीखी से तीखी आलोचना सम्भव है । सम्भवतः, भारतेन्दु जी ने इसीलिए अँग्रेजी-राज्य पर तीक्ष्ण टिप्पणियाँ करने के लिए 'अन्धेर-नगरी' में प्रहसन काव्यरूप को चुना है । अन्धेर-नगरी, अन्धा-धुन्ध, अन्धेरगर्दी और इसी तरह के प्रयोग इस बात के प्रमाण हैं कि नाटककार यह दिखाना चाहता है कि राजा मदान्ध होता है और वास्तविक स्थिति को कभी नहीं देख पाता । इसी मूलसूत्र में ही 'अन्धेर-नगरी' का स्थायी आकर्षण है जो हर देश या काल के पाठक को हँसाता तो है ही, साथ ही गम्भीर चिन्तन के लिए भी विवश करता है । अतः 'अन्धेर-नगरी' आज भी उतनी ही सामयिक, प्रासंगिक तथा सटीक है जितना अपने रचनाकाल के समय में थी । वह आज भी हमारी राष्ट्रीय समस्याओं का एक सच्चा दर्पण है ।

अमृतलाल नागर का नाट्य-परिदृश्य : रेडियो नाटकों के विशेष संदर्भ में

●

डॉ० आनन्दप्रकाश त्रिपाठी

हिन्दी के मूर्धन्य कथा-शिल्पी अमृतलाल नागर की कीर्ति का मुख्य आधार उपन्यास-साहित्य है। किन्तु उन्होंने कहानी, नाटक, व्यंग्य आदि विधाओं में भी महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उपन्यास और कहानी के बाद नागर जी की सर्वप्रिय साहित्य-विधा नाटक है। नाटक और रंगमंच में उनकी अभिरुचि बाल्य-जीवन से ही थी। नाट्य-लेखन के क्षेत्र में नागर जी का प्रवेश फिल्म-जीवन से मुक्त होकर विशुद्ध साहित्यिक जीवन बिताने के प्रारम्भिक दौर में हुआ। लखनऊ में रहकर सर्वप्रथम उन्होंने रंगमंच को चुना और अपने सफल नाट्य-निर्देशक होने का परिचय दिया। रंगमंचीय नाट्य-लेखन की दृष्टि से उन्होंने मात्र दो कृतियाँ 'परित्याग' और 'युगावतार' लिखीं। उनकी नाट्य-लेखन-क्षमता का विशेष परिचय रेडियो द्वारा मिलता है। रेडियो नाट्य-लेखन की प्रेरणा नागर जी को सर्वप्रथम आकाशवाणी, लखनऊ, तत्कालीन इक्जीक्यूटिव के पद पर कार्यरत कवि गिरिजाकुमार माथुर और ड्रामा प्रोड्यूसर कवि स्व० भारतभूषण अग्रवाल से मिली। उनके आग्रह पर नागर जी ने अधिक संख्या में रेडियो नाटक लिखे, जब कि अपने ड्रामा प्रोड्यूसर कार्यकाल (दिसम्बर १९५३ से मई १९५६) में उन्होंने कम रेडियो नाटयों की रचना की।

अभिनय-कला का पहला पाठ नागर जी ने अपने पिता राजाराम नागर से सीखा। स्व० किशोर साहू के आग्रह पर नागर जी ने उनकी फिल्म 'कुँवारा बाप', 'राजा', 'आगे कदम', 'वीर कुणाल' और अधबनी फिल्म 'मानमयी गर्ल्स स्कूल' में अतिथि कलाकार के रूप में अभिनय किया है। पर नाट्य-निर्देशन में उनकी विशेष अभिरुचि रही है। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"बच्चों के नाटक कराने का रस लगा। यह मेरा बहुत बड़ा रस था। सन् ५० से ५६ तक शहर (लखनऊ) में नाटक ही कराता घूमता था। बच्चों के सैकड़ों प्ले कराये हैं। बड़ों के नाटक कराये हैं और यूनिवर्सिटी में कराये हैं। यह हमारा बहुत बड़ा शौक था।" नागर जी ने मुक्ता-काशी रंगमंच के प्रयोग सन् १९४८ में सर्वप्रथम लखनऊ में किये थे। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में द्वारा आठवें दशक में प्रस्तुत नाटक 'दांते की मौत' में दृश्यबन्ध के नियत हिस्से अपनी जगह घूम जाते थे और इस प्रकार दृश्यविधान बदल जाता था। इस परिक्रमी दृश्यबंध-पद्धति का प्रयोग नागर जी ने सन् १९५२ में 'गोदान' में किया था। इस नाटक के मिनियेचर मॉडल प्रसिद्ध चित्रकार स्व० मदनलाल नागर ने तैयार किये थे। नागर जी ने लखनऊ में रेजीडेन्सी के खण्डहरों में नौटंकी और इण्डोनेशियों की पुतलियों का छायानाट्य प्रस्तुत किया था। सन् १९५३ में जननाट्य संघ, लखनऊ द्वारा प्रस्तुत प्रेमचन्द की कहानी 'ईदगाह' का नाट्य-रूपान्तर उनके निर्देशन में अभिनीत हुआ। उन्होंने सन् १९५४ में स्वरचित नाटक 'परित्याग' और सन् १९५४-

५५ में इलाहाबाद में 'रंगवाणी' उद्घाटनोत्सव पर 'युगावतार' का अपने निर्देशन में मंचन किया। सन् ५७ में श्री सर्वदानन्द-कृत नाटक 'चेतसिंह' और सन् ५८ में भारतीय संस्था द्वारा प्रस्तुत भगवतीचरण वर्मा-कृत 'रुपया तुम्हें खा गया' नागर जी के निर्देशन में मंचित हुआ। सन् ६३ में आकाशवाणी के रंगमंच पर उनके निर्देशन में उन्हीं का लिखा हुआ नाटक 'नुक्कड़ पर' सफलता-पूर्वक अभिनीत हुआ।

नागर जी नाट्य-विधा की प्रभावोत्पादकता को खूब समझते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"जो काम इस वक्त एक नाटक कर सकता है, वह दस हजार लायब्रेरी नहीं कर सकतीं। इस समय हमारे देश में दर्शकों की संख्या पाठकों से अधिक है। स्थिति से सीधे-सीधे जूझने की चुनौती नाटक हमें देता है। नाटक एक तरह का एलोपैथिक इंजेक्शन है और कथा लम्बी आयुर्वेद चिकित्सा.........।"[१]

नागर प्रयोगशील नाट्यशिल्पी हैं। उन्होंने रंगमंचीय नाटक, नुक्कड़ नाटक, प्रहसन और रेडियो नाट्य-विधा में अपनी लेखनी को आजमाया और अपेक्षित सफलता पायी है। उन्होंने एकदम नयी सृजनात्मक विधा 'फोटो नाटक' भी लिखा है। 'परित्याग' और 'युगावतार' नागर जी की रंगमंचीय नाट्य-कृतियाँ हैं। 'परित्याग' अप्रकाशित है। 'युगावतार' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के व्यक्तित्व पर आधारित है। तीन अंकों के इस नाटक में भारतेन्दु-युगीन समाज का सम्पूर्ण अहापोह और संघर्ष इस कृति में बड़ी कलात्मकता के साथ रूपायित हुआ है।

'नुक्कड़ पर' (१९८३) सामाजिक समस्याप्रधान नुक्कड़ नाटक है। नाटक में तीन अंक हैं। इसमें एक ओर दिलदार पात्रों के माध्यम से अनैतिक कार्य करते हुए काली कमाई करने वाले सफेदपोशों की बखिया उधेड़ी गयी है और दूसरी ओर आज के जनमानस को क्षुब्ध और विदग्ध करने वाली समस्या—पुलिस विभाग में व्याप्त भ्रष्टाचार को परत-दर-परत उघाड़ा गया है। अविवाहित मातृत्व की समस्या, आज की निरर्थक उद्देश्यहीन शिक्षा, बेरोजगारी, दहेज-समस्या और युवा पीढ़ी के भटकाव की कहानी कहने वाला यह नाटक युवा मन की पीड़ाओं का दस्तावेज है।

रेडियो के लिए नागर जी ने नाटक, रूपांतर, रूपक और प्रहसन लिखे हैं। उन्होंने कुल कितने रेडियो नाटक लिखे, इसकी निश्चित संख्या उन्हें और उनके पुत्र डॉ० शरद नागर को भी ज्ञात नहीं है। उनके अधिकांश रेडियो नाटक आकाशवाणी, लखनऊ की नाटक-फाइलों से गायब हो गये हैं। यह बात नागर जी ने इण्टरव्यू में मुझे बतायी थी। अद्यावधि प्राप्त रचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने लगभग ५० रेडियो नाटक, ५ रूपांतर, १० रूपक और १० प्रहसन लिखे हैं। तेरह रेडियो नाटक तीन संग्रहों में संकलित हैं जिनके नाम हैं—'चंदनवन' (१९७६), 'चक्करदार सीढ़ियाँ और अँधेरा' (१९७८) और 'उतार-चढ़ाव' (१९७८)।

अप्रकाशित नाटकों में कुछ के नाम इस प्रकार हैं—'गूँगी' (१९५३), 'पक्षीतीर्थ' (१९५३), 'प्रेमचन्द पात्रों के बीच में' (४ अगस्त, १९५३), 'मुक्त भारत' (१५ अगस्त, १९५४), 'परित्याग' (५४), 'द्वापर' (५४), 'नटराज की छाँव में' (५४), 'बौद्ध तीर्थ कुशीनगर' (३१ मई, ५६), 'ऋषिपत्तन सारनाथ' (२० अप्रैल, ५६), 'पाताल के खण्डहर' (५८), 'शरद की माँ' (६५), 'देवकीनन्दन खत्री' (१ अगस्त, ६३), 'पहला सवाल' (६४), 'दीपदान', 'लंकादहन', 'सीता' (ध्वनि नाटिका, नव जीवन-दैनिक), 'हीरे की अँगूठी' (जासूसी नाटक), 'हिन्दी रंगमंच के सौ वर्ष', 'परदे के पीछे', 'चचा छक्कन', 'महानिशा', 'आधुनिक शिक्षा' आदि।

बाल रेडियो नाटकों में 'परीदेश की सैर' (५६) उल्लेखनीय है। रेडियो-रूपकों में 'मालवीय जी की दिनचर्या', 'भारतभारती', 'स्वदेशी', 'भारतेन्दु कला' और 'कबीर' प्रमुख हैं। 'केठ बाँकेमल' और 'महिपाल' रेडियो रूपान्तर हैं। वैसे प्रहसन को रेडियो नाटक के अन्तर्गत रखा जा सकता है, किन्तु नागर जी के कृतित्व में इनका महत्त्व रेडियो नाटकों से पृथक् है। प्रकाशित संग्रहों में संकलित रेडियो नाटकों का परिचय निम्नलिखित है—

'चन्दनवन' संग्रह में चार नाटक संकलित हैं—'चन्दनवन', 'सुहाग के नूपुर', 'महाबोधि की छाया में' और 'रत्ना के प्रभु'। 'चन्दनवन' में स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में नये-पुराने मूल्यों के द्वन्द्व तथा कला-बनाम-विज्ञान के प्रश्न को उठाया गया है। ईसा की पहली शताब्दी में तमिल महाकवि इलंगोवन-रचित 'शिल्पदिकारम्' महाकाव्य के कथानक को लेकर नागर जी ने 'सुहाग के नूपुर' के कथानक का ताना-बाना बुना है। उन्होंने घिसी-पिटी त्रिकोणात्मक प्रेमकथा को अपना रचनात्मक संस्पर्श देकर उसे रोचक, सरस एवं मौलिक बना दिया है। वेश्या बनाम कुलवधू के संघर्ष के माध्यम से नारी-पीड़ा का मार्मिक अंकन हुआ है।

इस नाटक की कथा बौद्ध-दर्शन के दुःखवाद से प्रभावित है। कथांत में नायक कोवलन और नायिका कन्नगी की मृत्यु हो जाती है और उनके आधार केन्द्र कावेरीपट्टणम् एवं मदुरा अग्निकाण्ड में नष्ट हो जाते हैं। सन् १९६० में नागर जी ने इस रेडियो नाटक की कथा को परिवर्द्धित एवं संवर्द्धित करके 'सुहाग के नूपुर' नामक उपन्यास की रचना की। उपन्यास का सुखांत होना नागर जी की आस्थावादिता का प्रमाण है। यह नाटक तमिल, उड़िया, कन्नड़ और बंगला भाषा में अनूदित हुआ है।

'महाबोधि की छाया में' (१९५५) में गौतम बुद्ध के युग की सामाजिक और धार्मिक स्थिति की झलक है। श्रेष्ठि वृषभसेन द्वारा आयोजित यज्ञ में एक शूद्र को, झरोखों से अग्नि-दर्शन और वेदध्वनियों के श्रवण के अपराध में आचार्य गन्धोत्कट ने उसके कानों में गर्म शीशा पिघलाये जाने का आदेश किया। आचार्य जीवक ने विरोध प्रकट किया। लोगों का कहना है कि ब्राह्मणों के क्रोध और शाप के भय ने समाज का आत्मविश्वास हर लिया है। धर्म का मन-माना अर्थ कर यह लोग ब्राह्मणेतर वर्णों पर मनमाने अत्याचार करते हैं। शनैः-शनैः सामाजिक जड़ता, विषमता और धार्मिक संकीर्णता को समझने और उससे जूझने की चेतना-शक्ति लोगों में जागृत होती है। समाज को गौतम और महावीर के सान्निध्य में ज्ञान-प्रकाश मिलता है। 'रत्ना के प्रभु' एक भावप्रधान रेडियो एकांकी है जिसमें अन्तर्द्वन्द्व के माध्यम से रत्नावली के काममूलक प्रेम को रागमय बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इसकी मूल चेतना 'मानस का हंस' उपन्यास के बहुत निकट है। 'मानस का हंस' में काम और राम का द्वन्द्व तुलसी के व्यक्तित्व में घटित दिखाया गया है, जबकि इस एकांकी में उक्त द्वन्द्व रत्नावली में दिखाई पड़ता है। इस एकांकी में कथा नहीं, कार्य-व्यापार नहीं, आरोह-अवरोह नहीं, आदि से अंत तक प्रेम की अगाधता और अनन्यता के दर्शन होते हैं।

'चक्करदार सीढ़ियाँ और अँधेरा'—इसमें संकलित नाटकों के नाम हैं—'चक्करदार सीढ़ियाँ और अँधेरा', 'फिर न कहना दोस्त', 'सेठ बाँकेमल' और 'महिपाल'। मानव-मन की जटिलताओं की सूक्ष्म पहचान और संवेदना का सहज धरातल ही इन नाटकों की पृष्ठभूमि है। इसमें एक ओर विभिन्न वर्ग के लोगों पर विनोदपूर्ण चुटकियाँ हैं और दूसरी ओर समाज में व्याप्त विषमताओं के प्रति तीव्र आक्रोश।

'उतार-चढ़ाव'—प्रस्तुत संग्रह में पाँच रेडियो नाटक—'उतार-चढ़ाव', 'शैतान की दुनिया', 'बेगम समरू', 'सीमा' और 'भगीरथ का देश' संकलित हैं। 'उतार-चढ़ाव' सामाजिक समस्यामूलक नाटक है। मनुष्य स्वयं इंसानियत से नहीं गिरता, परिस्थितियाँ ही उसे निर्मम बनाती हैं। परन्तु, क्या परिस्थितियाँ ही सब कुछ होती हैं ? इंसान क्या उनका दास है ? नाटककार का मंतव्य है कि "परिस्थितियाँ इंसान को बदलती हैं और इंसान परिस्थितियों को बदल देता है। यह तो जिन्दगी का उतार-चढ़ाव है। बस उसकी करुणा का सोता नहीं बन्द होना चाहिए।"[२] श्याम की कथा के माध्यम से इस यथार्थ का अंकन किया गया है। इस नाटक की अगली कड़ी है 'शैतान की दुनिया'। नाटककार की चिन्ता है कि बीसवीं सदी का मनुष्य जो आज ऊँची सभ्यता का दम भरता है, क्या वास्तव में वह अपने पुरखों से अधिक सभ्य है ? एटम का जानकार होकर मनुष्य क्या पहले से अधिक घातक नहीं हो उठा है ? हिंसा जैसे इस युग का सहज व्यापार हो गयी है। इन्हीं प्रश्नों को नयनतारा और मलिक साबिर की कथा के माध्यम से उठाया गया है। नयनतारा ने अपने नवजात शिशु की हत्या क्यों की ? इसके जवाब में लेखक का मानना है कि किसी गहरे अभाव के कारण ही मनुष्य में अपराध-वृत्ति पनपती है। सारा अपराध उस सामाजिक व्यवस्था का है जिसमें छुटाई और बड़ाई है। कुछ अन्यायियों के द्वारा पूरे समाज के न्याय का हनन होता है। इस विषम स्थिति से समाज को उबारने का काम पुलिस और पत्रकार वर्ग के सहयोग से सम्भव है। अंत में लेखक ने आस्था व्यक्त की है कि "इंसानियत कहीं नहीं मरती, इंसानियत कभी नहीं मरेगी।"

'बेगम समरू' (१९६१) एक ऐतिहासिक चरित्रप्रधान रेडियो नाटक है। नागर जी ने इस नाटक को परिवर्द्धित एवं परिवर्तित करके 'सात घूँघट वाला मुखड़ा' नामक उपन्यास लिखा। प्रस्तुत नाटक नारी के प्रतिक्रियात्मक मनोविज्ञान एवं अहंभाव पर आधारित है।"

'सीमा' (१९६३) में धनिक वर्ग की चारित्रिक विडम्बना और उनके राष्ट्रघाती कार्यों का पर्दाफाश किया गया है। यह वर्ग एक तरफ जुए के अड्डे खोलकर स्मगलिंग एवं औरतों के व्यापार द्वारा धनी बनने में सक्रिय रहता है और दूसरी तरफ समाज-सेवा का नाटक रचता है। बंशीलाल ऐसे ही वर्ग के प्रतिनिधि हैं।

'भगीरथ का देश' में नाटककार ने फिल्मी दुनिया की झूठी आधुनिकता पर चोट करते हुए कला के माध्यम से भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण पर बल दिया है। पत्र-सम्पादक अभयशंकर एक तरह से लेखक के विचारों का प्रवक्ता है कि 'तड़क-भड़क वाली फिल्में, जिनमें विलासितापूर्ण जीवन का चित्रण है, आज के नवयुवकों को निकम्मा बना रही हैं। हमारी राष्ट्रीय अस्मिता को भी क्षति पहुँचायी जा रही है। झूठी आबरूदारी की लालसा ने मध्यवर्ग को अकर्मण्य बना दिया है। इसलिए फिल्म जैसे शक्तिशाली माध्यम से राष्ट्र की उन्नति में सहयोग देना आवश्यक है। भारतीय संस्कृति की पुनर्प्रतिष्ठा के लिए पौराणिक एवं ऐतिहासिक पहलुओं का परिचय फिल्म द्वारा देना होगा।"[३]

निष्कर्षत: नागर जी ने रेडियो के क्षेत्र में ऐतिहासिक चरित्रप्रधान, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, जासूसी और हास्य-व्यंग्यमूलक नाटकों की रचना की है। लोकप्रियता की दृष्टि से नागर जी के रेडियो नाटकों में बड़ी अपील है। मानवीय मूल्यों में उनकी अप्रतिम आस्था का स्वर मुखरित है। पात्रों के चरित्र-सुधार में उनका विश्वास है। जीवन की छोटी-छोटी मानवीय घटनाओं को महत्त्व मिला है। सभी नाटकों में जीवन की यथार्थ समस्याओं को उठाकर उसका समाधान-संकेत भी दिया गया है।

प्रहसन—नागर जी के कुल दस प्रहसन प्राप्त हुए हैं जिनमें पाँच प्रहसन 'बाँकेमल फिर आ गये' (१९५४), 'बात की बात' (१९५६), 'मुफलिस का रेडियो' (१९६५), 'अबीर गुलाल' और 'प्रेमी की चकल्लस', 'बात की बात' नामक संग्रह में संकलित हैं। शेष अन्य 'आशिक का जनाजा है बड़ी धूम से निकले' (१९५४), 'बाबू शिकायतलाल' (१९५५), 'पाँच सौ रुपये इनाम' (१९५६), 'रंग-विरंगी पिचकारी' (१९६०) आदि अप्रकाशित हैं। ये सभी प्रहसन समय-समय पर आकाशवाणी केन्द्रों से प्रसारित हो चुके हैं।

'बात की बात' (१९७४) में संकलित प्रहसनों के माध्यम से मध्यवर्गीय समाज की जिन्दगी के आसपास के पाखण्ड, अंधविश्वास, सांस्कृतिक मूर्खताओं, झूठी शान, बनावट, दिखावट, कृत्रिम सभ्यता आदि विकृतियों को न सिर्फ पहचानने की, बल्कि उनका पर्दाफाश करने की एक जिंदादिल विनोदमय कोशिश है। 'बाँकेमल फिर आ गये' प्रहसन के प्रमुख पात्र सेठ बाँकेमल के माध्यम से रचनाकार स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के चित्र बड़ी सजवीता के साथ खींच देता है। बाँकेमल उन्नीसवीं सदी के जवान और बीसवीं सदी के बूढ़े हैं। सेठ जी स्मृतियों के गवाक्ष से झाँकते हुए अपने मित्र स्व० पारसनाथ चौबे के साथ बीती अपनी जवानी की बहुरंगी घटनाओं का सूक्ष्म ब्यौरा देते हुए तत्कालीन समाज के अनेक पहलुओं को उजागर कर देते हैं।

'अबीर गुलाल' में वर्ग-चेतना का स्वर मुखर हुआ है। नागर जी ने होली की पृष्ठभूमि में सामाजिक-आर्थिक स्तर पर व्याप्त वैषम्य को उभाड़ते हुए शोषित वर्ग के विद्रोह को वाणी दी है।

'चकल्लस' नामक हास्य-व्यंग्यमूलक प्रहसन में नयी पीढ़ी के नौजवानों की उच्छृंखलता, उनकी दीवानगी, रोमांसवृत्ति आदि को हास्य का आलम्बन बनाया गया है। 'मुफलिस का रेडियो' में मध्य वर्ग की महत्त्वाकांक्षा, आर्थिक टूटन, विवशता और तज्जन्य कुंठा-विक्षोभ को पारिवारिक पृष्ठभूमि में अंकित किया गया है। दहेज-समस्या भी उक्त संदर्भ से जुड़ी हुई है।

फोटो नाटक—'चढ़त न दूजो रंग' (१९८२) सूरदास के जीवन के कतिपय मार्मिक प्रसंगों की नाट्य-प्रस्तुति है। कथानक के छोटे-छोटे चौदह दृश्यों में 'खंजन नयन' उपन्यास के सूरदास के संघर्षमय जीवन का अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण भाग समेटने का प्रयास किया गया है।

नागर जी न केवल नाट्य-रचनाकार, बल्कि श्रेष्ठ रंग-निर्देशक और अभिनेता हैं, इसलिए वे नाट्य-शिल्प की बारीकियों को भलीभाँति जानते हैं और नाटक को अधिकाधिक प्रभावशाली बनाने के लिए नित्य नये प्रयोग करने की बात सोचते हैं। वे कहते हैं—"मैं तो ऐसा सेट बनाने की योजना में हूँ कि सिर्फ एक बक्शे में ही सब सामान अटाकर कहीं किसी भी जगह में नाटक खेला जा सके। लोगों को लोक-मण्डलियों से यह कला सीखनी चाहिए, सिर्फ शानदार थियेटर-हालों और गवर्नरों, मन्त्रियों तक ही अपने दर्शकवृन्द की सीमारेखा न समझनी चाहिए।"[४]

नागर जी कुशल रंगशिल्पी हैं। 'युगावतार' के सफल मंचन के लिए उन्होंने मौलिक प्रयोग किये हैं। उन्होंने अन्तर्बाह्य कक्षों के वातावरण के कथ्य के अनुरूप बनाने के लिए जालीदार पर्दे का उपयोग किया है। यह पर्दा नेपथ्य का आभास कराने, दो कक्षों को एकसाथ प्रस्तुत करने और आवश्यकतानुसार कक्ष के बाहरी मार्ग को भी स्पष्ट करने में सहायक है।

'नुक्कड़ पर' नागर जी की प्रथम नुक्कड़ नाट्यकृति है जिसमें सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार की पोल खोली गयी है। चूँकि इस नाट्य-विधान्तर्गत मंच-

व्यवस्था की औपचारिकताएँ सामान्यतः अमान्य होती हैं, इसलिए नागर जी ने इस नाटक में मंच-व्यवस्था के नाम पर केवल एक चबूतरे और पर्दे का प्रयोग करने का निर्देश किया है ।

नागर जी का रेडियो नाट्य-शिल्प — वैसे तो मार्जोरी वोल्टन के अनुसार एकाग्रता, कथानक, चरित्र-चित्रण विषयक सभी नियम रेडियो नाटक पर लागू होते हैं, तथापि रंगमंचीय नाटक के रंगकर्म और रेडियो नाटक के प्रसारण के कारण दोनों में बड़ा अन्तर आ जाता है । उदाहरणार्थ, रंगमंचीय नाटक का जो आयाम चाक्षुष-संवेदनों से सम्बद्ध होता है, वही रेडियो नाटक में श्रव्य-संकेतों से ग्रहण किया जाता है । इसलिए रेडियो नाटक में ध्वनि की भूमिका रंगमंचीय नाटक की अपेक्षा कई गुनी हो जाती है । वहाँ संवाद-वातावरण और भाषाशैली तीनों ध्वनि-प्रभाव के सहारे परिचालित होते हैं । कथानक, चरित्र और ध्वनि-प्रभाव रेडियो नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व हैं और नागर जी के रेडियो नाटकों में इनका सम्यक् प्रयोग किया गया है ।

कथानक नाट्य-साहित्य के लिए एक अनिवार्य माँग है । नागर जी के अनुसार "रंगमंचीय नाटक हो या रेडियो अथवा फोटो नाटक, कहानी सबके लिए आवश्यक है । कहानी सुनते समय बच्चे हुँकारी भरते हैं । यह हुँकारी ही बड़ों में कौतूहल वृत्ति होकर पनपती है और यह कौतूहल वृत्ति ही कहानी को अपनी चरम गति तक बढ़ा भी ले जाती है ।"[५] कथानक का अस्तित्व चरित्रों और स्थितियों पर आलम्बित है, क्योंकि चरित्रों की क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ ही कथानक का निर्माण करती हैं ।

रेडियो नाटक के कथानक की उत्कृष्टता उसके प्रारम्भ, मध्य और अन्त पर आधारित है । इसलिए प्रारम्भ के कुछ मिनट ऐसे प्रभावजनक होने चाहिए कि श्रोता का कौतूहल, उसकी उत्सुकता सजग हो उठे और वह सोचने लगे कि देखें आगे क्या होता है । नागर जी के नाटकों का प्रारम्भ आकर्षक और प्रभावोत्पादक है जो श्रोता की उत्सुकता को जगाने में समर्थ है । 'सीमा', 'भगीरथ का देश', 'फिर न कहना दोस्त', 'सेठ बाँकेमल' और 'चक्करदार सीढ़ियाँ और अँधेरा' नाटक का प्रारम्भ पात्रों के सहज कथोपकथन द्वारा हुआ है । अन्य नाटकों का प्रारम्भ ध्वनि-प्रभाव एवं वातावरण चित्रण द्वारा, संगीत द्वारा, घटना की सूचना द्वारा (शैतान की दुनिया) और उद्घोषक द्वारा (सुहाग के नूपुर, महाबोधि की छाया में) हुआ है ।

'सुहाग के नूपुर' में नाटककार ने तोता-मैना और राजा-रानी की किस्सा-पद्धति तथा भारतीय नाट्यशाला की नाटकीय पद्धति का एकीकरण कर 'मन' और 'कहानी' नामक पात्रों की कल्पना की है । कहानी स्त्री है और मन पुरुष । कहानी बता रही है कार्य और मन बता रहा है कारण । कार्य अर्थात् स्थूल घटना-संयोजन और कारण अर्थात् इस प्रत्यक्ष घटना-संयोजन के पीछे कारण-रूप में अवस्थित परिस्थिति, परिवेश तथा अन्तरंग मानसिकता के नाना रूप । उक्त दोनों पात्र नाटक के मुख्य पात्रों की कथा की आवश्यक सूचना देते हैं, घटना की शृंखला जोड़ते हैं । इन्हीं के मुख से हम केन्द्रीय घटना की पृष्ठभूमि से परिचित होते हैं ।

रेडियो नाटक के प्रारम्भ में श्रोता को नाटक की मूल-संवेदना का संकेत पात्रों के संवादों द्वारा मिलता है । प्राथमिक भाग कभी-कभी बड़ी तेजी से उठता है और कथानक बड़े वेग से विकसित होने लगता है जिसे सुनते ही श्रोता समस्या के रूप का अनुमान लगाना शुरू कर देता है । नाटक का मध्यभाग कथानक के सम्यक् प्रभाव का आधार-केन्द्र है जहाँ से घटनाओं का निर्माण और विकास, चरित्रों की भावात्मक पृष्ठभूमि का परिचय और नाटक के अन्त की मनोवैज्ञानिकता प्रकट होती है ; फिर, इसी के साथ उनके समाधान की सम्भावनाएँ भी स्पष्ट रूप से

प्रकाश में आने लगती हैं। यहाँ कथानक का प्रवाह तीव्र होता है। मध्य भाग में प्रायः मुख्य समस्याओं और संघर्षों का विकास दिखाया जाता है। संघर्ष के अभाव में नाटक में क्रियातत्त्व का विकसित होना संभव नहीं है। नागर जी के शब्दों में—"बाहरी संघर्ष या मनोद्वन्द्व के ताने-बाने से हम अपनी कथा को लेकर उन क्षणों से टकराते हैं जिनसे हमें आगे के एक्शनों के लिए सुनिश्चित दिशा मिलती है। नायक अथवा नायिका उस परिस्थिति-विशेष के संघर्षों से उबरने के हेतु 'हाँ' या 'ना' में एक निश्चित गति ग्रहण कर चरम संघर्ष अर्थात् क्लाइमेक्स के लिए बढ़ते हैं।"

रेडियो नाटक की कला यद्यपि कालसापेक्ष है, किन्तु इसमें देश के आयाम का भी आभास कराया जाता है। माइक्रोफोन से दूर या निकट रहकर अपेक्षित दूरी का बोध भी कराया जा सकता है। इस दृष्टि से रेडियो नाट्य-शिल्प के महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं—दृश्यांतर, स्वरोदय (फेड इन), स्वर-विलयन (फेड आउट), क्रॉस फेड, संयुक्त दृश्यक्रम (मोण्टाज सीक्वेन्स) और पूर्वदीप्ति (फ्लैश बैक)। नागर जी ने इन सभी उपकरणों का प्रयोग बड़ी कुशलता के साथ किया है।

दृश्यांतर के लिए नागर जी ने अनेक विधियाँ अपनायी हैं। घटना-प्रवाह को कुछ सैकंड के लिए बंद कर दिया जाता है। इस अवकाश को प्रायः संगीत-लहरी से पूर्ण किया जाता है। संगीत दृश्यांतर का सूचक होने के साथ ही साथ हमें एक दृश्य से दूसरे दृश्य में प्रविष्ट होने की सूचना देता है। 'चन्दनवन', 'सुहाग नूपुर', 'महाबोधि की छाया में', 'महिपाल', 'बेगम समरू' और 'सीमा' में दृश्य-परिवर्तन के लिए सामान्य संगीत, सुखांत और करुण संगीत का प्रयोग किया गया है।

नागर जी ने दृश्य-परिवर्तन के लिए 'फेड इन' और 'फेड आउट' का सफल प्रयोग किया है। यदि स्वरभार क्रमशः बढ़ता जाय, तो इसका अर्थ यह होगा कि अभिनेता दूर से निकट आ रहा है और इसे 'फेड इन' कहते हैं। इसके विपरीत स्वरभार यदि कम होता चला जाय तो इसका अर्थ होगा कि अभिनेता दृश्य से प्रस्थान कर रहा है; इसे 'फेड आउट' कहते हैं। रेडियो नाटक में माइक्रोफोन कैमरा का काम करता है। उसी सिद्धान्त पर दृश्य-परिवर्तन की 'फेड इन' और 'फेड आउट' टेकनीक आधारित है।

कहीं-कहीं एक दृश्य के बाद दूसरे दृश्य का प्रारम्भ किसी वस्तु (घड़ी की टिक-टिक, कलम की खरखराहट आदि) की ध्वनियों और वातावरण-निर्माण के द्वारा हुआ है। वहाँ दृश्यांतर के लिए 'डिजॉल्व' का भी प्रयोग किया गया है। 'डिजॉल्व' द्वारा हम उस दूरी का संकेत देते हैं जो एक घटना से दूसरी घटना तक कथा के पहुँचने का क्रम बतलाती है। मान लीजिए, दृश्य में हमने एक घटना प्रस्तुत किया और उसका परिणाम दो घन्टे या दस दिन या दस वर्षों के बाद होने वाला है, तो हम पहले दृश्य को दूसरे दृश्य में डिजॉल्व करेंगे। 'उतार-चढ़ाव' और 'शैतान की दुनिया' में अनेक स्थलों पर 'डिजॉल्व' का उपयोग किया गया है। 'कट' का प्रयोग उस जगह किया जाता है जहाँ एक ही क्रम में बिना दृश्यांतर किये दो स्थलों की घटना बखानी जाती है। 'महाबोधि की छाया में', 'चक्करदार सीढ़ियाँ और अँधेरा', 'उतार-चढ़ाव', 'शैतान की दुनिया' और 'भगीरथ का देश' में कट का प्रयोग किया गया है।

रेडियो नाटक में एक बड़े दृश्य के स्थान पर छोटे-छोटे दृश्यों से निर्मित दृश्यक्रम (सीक्वेंस) होता है। नागर जी के अनुसार—"जिस तरह पुस्तकों में विषय को अध्यायों में बाँटा जाता है, उसी तरह रेडियो नाटक या फोटो कथा में 'सीक्वेंस' अर्थात् अन्वयात्मक अनुक्रमों में कथा का विकास होता है।"[1] रेडियो नाटक में पृथक्-पृथक् चित्रों का मिला-जुला प्रभाव एक

बहुबिम्ब चित्र की तरह अधिक भाव-सम्पन्न और प्रभावोत्पादक होता है। एक लम्बे दृश्य के बाद द्रुतलय में चलने वाले छोटे-छोटे दृश्य भी रख दिये जायँ, तो इस लय के अन्तर से नाटक के प्रभाव में वृद्धि होगी। छोटे-बड़े, द्रुत-मन्थर दृश्यों का मिला-जुला प्रभाव उत्थान और प्रगति का होना चाहिए, न कि गिरती लय का। नागर जी ने रेडियो नाटकों में इन बातों का पूरा-पूरा ध्यान रखा है। 'शैतान की दुनिया', 'उतार-चढ़ाव', 'सीमा', 'बेगम समरू', आदि नाटकों में 'मोण्टाज' तकनीक का प्रयोग हुआ है। 'मोण्टाज' को व्याख्यायित करते हुए नागर जी ने लिखा है—"कहानी की घटनाओं को तेजी से घटते हुए दर्शाना चाहते हैं और उससे एक निश्चित परिणाम तक पहुँचना चाहते हैं तो हम 'वाइप' (त्वरित अन्तराल को वाइप की तकनीक से दर्शाते हैं) के द्वारा विभिन्न स्थितियों को अदल-बदलकर दिखलाते हुए भाववेग और कथावेग को आगे बढ़ाते हैं। इस तकनीक को 'मोण्टाज' कहा जाता है।"[७] इस विधि के द्वारा भावों अथवा घटनाओं की गहराई तेजी से दर्शायी जा सकती है।

कथानक और चरित्र में परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। एक श्रेष्ठ रेडियो नाटक में कथानक और चरित्रों का पूर्ण तारतम्य होना आवश्यक है। नागर जी ने लिखा है—"प्लॉट के बाद हमें अपनी कहानी के चरित्रों का चरित्रांकन करने के लिए भी बहुत सतर्क रहना चाहिए। जैसे-जैसे चरित्रों की अपनी स्वाभाविक विशेषताओं का विकास होता चलेगा, वैसे-वैसे ही घटनाओं और परिस्थितियों का विकास भी होगा। चरित्रों की गति सही मनोवैज्ञानिक आधार पर होगी तो कथा का घटनाक्रम निश्चय ही विश्वसनीय रूप से बन सकेगा।"[८]

नागर जी ने पात्रों का चरित्रांकन खूब मनोयोग से किया है। एतदर्थ उन्होंने पात्रों के मनोविज्ञान का सूक्ष्म अध्ययन किया और अपने अनुभव एवं निरीक्षण-शक्ति के आधार पर विभिन्न सामाजिक और आर्थिक स्तर के चरित्रों का चयन किया है। संघर्ष और द्वन्द्व उनके पात्रों की जीवंतता के प्रमुख लक्षण हैं। ये पात्र प्रायः जीवन की कुरूपताओं एवं विषम परिस्थितियों से जूझते-टूटते हुए दिखायी देते हैं। सामाजिक पात्रों में कवि, लेखक, पत्रकार, कलाकार, डाक्टर, सेठ-व्यापारी, रईस, पुलिस, क्लर्क, झनकार, कुत्तों के भौंकने की आवाज, चौकीदार के पहरे की आवाज आदि ध्वनियाँ प्रयुक्त हैं। रेलगाड़ी की आवाज, मूसलाधार बारिश, तोप-टैंक की भयानक ध्वनि-जैसी ध्वनियों का प्रस्तुतीकरण रंगमंच पर संभव नहीं है, किन्तु रेडियो पर इसे आसानी से सुना जाता है। नागर जी ने कुछ विशिष्ट, रोमांचक ध्वनियों का सन्निवेश भी किया है जिसे अपेक्षाकृत क्लिष्ट कहा जा सकता है। यथा—चलती हुई ट्रेन, ट्रेन का उलटना, हजारों व्यक्तियों की चीख-पुकार, तोपों की भीषण गर्जना, युद्ध-ध्वनि, समुद्र-गर्जन, आँधी और तूफान, बिजली की कड़क, आकाश का फटना, आदि ध्वनियों का प्रसंगानुकूल प्रयोग हुआ है। वातावरण-सृजन के लिए प्रसंगानुसार शंख, तुरही, शहनाई, वीणावादन, वायलिन आदि वाद्य-ध्वनियों का प्रयोग हुआ है। ध्वनि प्रभाव द्वारा पात्रों के कार्य-व्यापार की भी व्याख्या की गयी है। पात्रों के आंतरिक मनोभावों के ध्वनि-चित्रण में नाटककार सफल है। हल्की खोई हँसी, हल्की-सी प्रशंसात्मक ममत्वभरी हँसी, सूखा-ठंडा स्वर, चिढ़कर दाँत पीसते हुए, हठपूर्वक जबान का नकारात्मक टिटकारा देकर, निःश्वास के साथ हँसकर, चिढ़कर, चौंकते हुए, काँपकर धीमी चिंतामग्न आवाज, जमुहाई लेते हुए जैसे सैकड़ों भावों-अनुभावों का प्रयोग नागर जी के नाटकों में हुआ है। पशु-पक्षियों की ध्वनियों का भी संयोजन किया गया है।

संगीत-प्रभाव रेडियो नाटक के लिए वही काम करता है जो रंगमंच पर आलोक-योजना

करती है । संगीत वातावरण एवं संवाद द्वारा संचरित भावों की पुष्टि करता है । उसका उद्देश्य मुख्यतः भावात्मक व्याख्या करना और संवादों के लिए समुचित वातावरण का निर्माण करना है । संगीत के लिए आवश्यक है कि वह अपने अस्तित्व को नाटक में विलीन कर दे । सुन्दर आमुख संगीत नाटक की भावात्मक विषयवस्तु का प्रतीक होता है, अर्थात् उसमें नाटक का स्वभाव प्रतिबिम्बित होता है । वह आगे आने वाली घटनाओं और स्थितियों के लिए पृष्ठभूमि निर्मित करता है । उदाहरण के लिए 'बेगम समरू' का प्रारम्भ सनसनी-भरा संगीत से होता है जो नवाब समरू की चहेती मुश्तरी की दीवाल में चुनवा देने की घटना की पृष्ठभूमि में उपयुक्त है । एक दृश्य के अन्त और दूसरे दृश्य के आरम्भ की सूचना के लिए अन्तराल संगीत का प्रयोग किया जाता है । इसकी अवधि कुछ सेकेंड ही होती है, ताकि कहानी का क्रम टूटने न पाये । नागर जी ने 'महिपाल', 'महाबोधि की छाया में' नाटक में भावोद्दीपन और प्रभाव-तीव्रता के लिए पृष्ठभूमि-संगीत, 'रत्ना के प्रभु', 'चन्दनवन' में नेपथ्य-संगीत, 'चक्करदार सीढ़ियाँ और अँधेरा' के अन्त में वायलिन और 'महिपाल' नाटक के अन्त में उपयुक्त पृष्ठसंगीत का प्रयोग किया है । उन्होंने संगीत को भावोद्दीपन के साथ ही भाव-परिवर्तन के साधन-रूप में भी ग्रहण किया है ।

नागर जी ने अपने रेडियो नाटकों में बोलचाल की सहज भाषा ग्रहण की है । उनकी भाषा में प्रत्यक्ष प्रेषणीयता की शक्ति है जो प्रत्येक स्तर के श्रोताओं के लिए बोधगम्य है । उनकी भाषा सामान्य जनजीवन के निकट रहती हुई भी शक्ति-सम्पन्न, सजीव और भावव्यंजक है तथा पात्रों के चारित्रिक विकास का साधन है । मार्मिक स्थलों पर भाषा की रचनात्मकता अद्भुत है । भाषा में मँजाव है, कसाव है और संवाद चुस्त एवं सधे हुए सशक्त हैं । भावों के उतार-चढ़ाव और उसकी प्रकृति के अनुसार भाषा की प्रकृति भी बदलती रहती है । पात्रानुकूल भाषा-प्रयोग में नागर जी सतर्क रहे हैं । उन्होंने पात्रों को उनके व्यक्तित्व, परिवेश और संस्कार के अनुरूप उन्हीं की भाषा दी है । महात्मा बुद्ध, महावीर स्वामी, आचार्य गन्धोत्कट, तुलसीदास, रत्नावली, नवाब समरू, बेगम समरू आदि ऐतिहासिक पात्र हैं । नारी पात्रों में आधुनिक मान्यताओं की समर्थक स्वच्छन्द विचारों वाली आदर्श भारतीय नारी (पत्नी), वेश्या, प्रेमिका, पुरुष के उत्पीड़न की शिकार आदि प्रमुख हैं ।

नागर जी ने चरित्र-चित्रण की अनेक विधियाँ अपनायी हैं । जब एक पात्र दूसरे पात्र के सम्पर्क में आता है, तब दोनों के संवाद एक-दूसरे के चरित्र पर प्रकाश डालते हैं । एक पात्र के सम्बन्ध में दूसरे पात्र के कथन को आधार बनाकर उसके चरित्र का परिज्ञान कराया गया है । पात्र स्वयं अपने विषय में व्यक्तव्य देते हैं । प्रतिकूल स्थितियों में पात्रों का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व उसके चरित्र का प्रकाशन करता है । पात्रों की घुटन, खीझ, आत्मग्लानि जैसे भावों के द्वारा भी चरित्र-निरूपण हुआ है ।

नागर जी रेडियो-संवाद-लेखन में सिद्धहस्त हैं । स्वाभाविकता, स्पष्टता, संक्षिप्तता, पात्रानुकूलता, नाटकीयता आदि उनके रेडियो संवाद के प्रमुख गुण हैं । रेडियो नाटक में संवादों के बिना पात्र की उपस्थिति एवं उसके कार्य-व्यापारों का बोध श्रोता को नहीं हो सकता । किन्तु, नागर जी ने 'गूँगी' नाटक में गूँगी को मुख्य पात्र बनाकर गूँगी की ध्वनियों और पार्श्व पात्र के संवाद की सहायता से गूँगी की वेदना को वाणी दी है ।

रेडियो नाटक में कथा, संवाद और दृश्य-विधान का मूलाधार ध्वनि है । डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार—"रेडियो कला ध्वन्यात्मक है, इसलिए एकांकी के समस्त कार्य-कलाप को इस

प्रकार व्यवस्थित करने की आवश्यकता है कि वाणी द्वारा ही उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाए और हल्की-सी घटना भी श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट करने के योग्य बन सके।" नागर जी ने ध्वनि-प्रभावों का स्वाभाविक, सहज और औचित्यपूर्ण संयोजन किया है। उनके नाटकों में ध्वनि-प्रभाव नाटक का बाह्य अलंकरण बनकर नहीं, बल्कि उनकी शक्ति-सौन्दर्य एवं आवश्यक अंग बनकर प्रस्तुत हुए हैं। नागर जी ध्वनि-प्रभाव को नाटक में ठूँसने के पक्ष में कतई नहीं हैं। उन्होंने ध्वनि के साथ ही शब्द को भी महत्त्व दिया है। प्रस्तुतियों में अभिनय की सहजता पर बल दिया है।

परिपार्श्व-निर्माण में ध्वनि-प्रभावों से बहुत सहायता मिलती है। 'सुहाग के नूपुर' में मेले का एक दृश्य है—"कहकहों का हुजूम, मेले की गूँज, विजय वाद्य, नृत्यगीत के साथ ही रथों की खड़खड़, घोड़ों की टापें, बैलों की घंटियाँ आदि विविध प्रभाव ध्वनियों के सम्यक् संयोजन द्वारा मेले का सजीव चित्र प्रत्यक्ष हो गया है। मेले की पृष्ठभूमि में पात्रों का वार्तालाप चलता है। इसी प्रकार 'महाबोधि की छाया में', 'महिपाल', 'उतार-चढ़ाव' आदि नाटकों में परिपार्श्व-निर्माण सुन्दर बन पड़ा है।

रेडियो नाट्य-कृति में वातावरण का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। वातावरण का भाव परिपार्श्व या पृष्ठभूमि से ही उद्दीप्त होता है। वस्तुतः वे ध्वनियाँ जो वातावरण के भाव-विशेष की सृष्टि करती हैं, नाटक के परिपार्श्व का ही एक अंग होती हैं। नागर जी ने वातावरण-सृजन के लिए ध्वनि-प्रभावों का सटीक और कुशल संयोजन किया है। अंग्रेजी, संस्कृत, उर्दू-फारसी के शब्दों के अतिरिक्त यत्र-तत्र आंचलिक शब्दों की राशि में से नागर जी भाव, पात्र, प्रसंग आदि के अनुसार भाषा रचने में कुशल हैं। रेडियो नाटक की भाषा के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए नागर जी ने लिखा है—"संवादों की भाषा आम लोगों की समझ के अनुरूप होनी चाहिए। नाटककार संस्कृत, अंग्रेजी या अरबी-फारसीनिष्ठ भाषा का प्रयोग भी कर सकते हैं। शर्त है कि शब्द प्रचलित हों, कठिन नहीं। भाषा ऐसी होनी चाहिए जिसे आम और खास दोनों ही तरह के लोग समान रूप से समझ सकें।"

निष्कर्षतः नागर जी के पास रेडियो नाट्य-विधा का विपुल अनुभव है। गोस्वामी तुलसीदास को 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' के संकट का अनुभव हुआ था। सुमित्रानंदन पंत का मन श्रवण तक पहुँचकर बातों को सुनने का प्रयत्न करता है। किन्तु रेडियो नाटक ने मन, श्रवण और आँखों के बीच की दूरी समाप्त कर कानों को ही देखने और सुनने की शक्ति से सम्पन्न कर कला के क्षेत्र में एक बहुत बड़ा प्रयोग कर डाला। हर्ष की बात है कि नागर जी ने इस महनीय प्रयोग में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है और इस रचनात्मक आयोजन को पूर्णता प्रदान करने में अपने कलाकार को पूरी ईमानदारी के साथ नियोजित किया। उन्होंने अपने साक्षात्कार में इस बात को बड़े विश्वास के साथ कहा भी है—"रेडियो नाटक में हमने किया क्या कि तुम्हारे कानों को ही आँख बना दिया। तुम्हारे सामने मैं तुम्हारे कानों से तुमको नाटक दिखला भी दूँ, सुनाऊँ तो है ही, लेकिन तुम्हारी कल्पना और बिम्बात्मक शक्ति को रंजित करके तुम्हारे अन्दर अधिकाधिक उभाड़ दूँ।" नागर जी के रेडियो नाटकों में शिल्प और चरित्र का अद्भुत संयोग हुआ है।

फोटो नाटक में प्लाट या कथानक कहानी के उस ढाँचे को कहते हैं जिसे हम दूरदर्शन की स्क्रीन या रजतपट पर देखते और सुनते हैं। नागर जी ने फोटो नाटककार की उपमा एक

घड़ीसाज से देते हुए लिखा है—"घड़ीसाज जिस प्रकार से उसके एक-एक पुर्जे को ढालता और बालकमानी आदि बनाकर उन्हें एक निश्चित ढाँचे में इस तरह से जोड़कर रखता है कि सब पुर्जे सुनियंत्रित ढंग से चाभी के सहारे चलकर समय बतलाने का अपना उद्देश्य पूरा कर सकें। फोटो कथा में भी ऐसे ही होता है। थीम या कथावस्तु फोटो को वैसे ही सही ढंग से चलाती है, जैसे चाभी घड़ी को।"[६] फोटो नाटक में पृष्ठभूमि प्रायः वैसे ही जल्दी-जल्दी बदलती है जैसे हमारे दैनिक जीवन में। एक कहानी जो किसी व्यक्ति के ६०-७० वर्षों की जीवनावधि में घटती है, उसे हम सवा दो घंटे या एक घंटे की अवधि में ही पूरा करके दिखला देते हैं। फोटो नाटककार अपने कौशल से ही यह नजरबन्दी का-सा खेल खेल सकता है। 'चढ़त न दूजो रंग' का कथ्य सूर के जीवन के चयनित अंशों को प्रकाशित करना है। कथानक छोटे-छोटे कुल चौदह दृश्यों में निर्मित है। इसमें लम्बी अवधि के अंतराल को विश्वसनीय ढंग से दर्शाने के लिए फेड इन, फेड आउट, कट, वाइप, डिजॉल्व, लैप, आदि संकेत का प्रयोग है। इस प्रयोग से जहाँ संकलन-त्रय से मुक्ति मिली है, वहीं ट्रिक फोटोग्राफी से ही संभव दृश्यों का समावेश भी हुआ है।

फोटो नाटक का प्लॉट छोटी-छोटी घटनाओं और परिस्थितियों के सहारे क्रमबद्ध रूप में कथारस को आगे बढ़ाते हुए ही क्लाइमेक्स की ओर बढ़ता है। यह क्लाइमेक्स पात्र के दुःख या हर्ष, प्रेम या घृणा, आशा अथवा निराशा के चरम बिन्दु तक दर्शक की मनोवृष्टि पहुँचा देता है। नागर जी के अनुसार—"यों किसी भी प्रकार का नाटक हो, परन्तु फोटो नाटक के लिए यह बात अनावश्यक है कि घटनाओं और परिस्थितियों के द्वारा कथा के नाटकीय तत्त्वों को उभारकर दर्शाने में रचनाकार को ऐसी ही घटनाएँ और स्थितियाँ चुननी चाहिए जो कथाक्रम और कौतूहल को बिना किसी प्रकार की लड़खड़ाहट के क्लाइमेक्स की ओर बढ़ायें।"[१०] इस नाटक में वल्लभाचार्य की प्रेरणा और राधा के परामर्श से सूर का अपने आनंदानुभव पद के रूप में भगवान् को अर्पित करना ही कथ्य का चरम है।

देखने की शक्ति फोटो नाटक के लेखक के लिए अत्यधिक आवश्यक होती है। नागर जी का कहना है—"जब तक लेखक स्वयं अपने नाटकीय तत्त्वों को गतिशील चित्रों में देखने का अभ्यास नहीं बढ़ायेगा, तब तक वह फोटो-कथालेखक कदापि नहीं हो सकता। दृष्टि-शक्ति सजग और पैनी रखने से ही हमारी अन्तर्दृष्टि का भी विकास होता है।"[११] 'चढ़त न दूजो रंग' फोटो नाट्य-कला की दृष्टि से सफल नाटक है। समग्रतः कहा जा सकता है कि नागर जी ने हिन्दी नाट्य-साहित्य को अपने कृतित्व (नाटक) से समृद्ध और सशक्त बनाया है। रेडियो नाटक के क्षेत्र में उनका उल्लेखनीय योगदान है। कथ्य और शिल्प, दोनों ही दृष्टियों से नागर जी का नाट्य-साहित्य महत्त्वपूर्ण है।

संदर्भ-संकेत

१. केशवचन्द्र वर्मा, शार्ट कट की संस्कृतिक (भेंटवार्ता) पृष्ठ १६। २. उतार-चढ़ाव, पृष्ठ ३०। ३. वही, पृष्ठ १५४। ४. केशवचन्द्र वर्मा, शार्ट कट की संस्कृति, पृष्ठ १६। ५. चढ़त न दूजो रंग, पृष्ठ ६। ६-७. वही, पृष्ठ १०। ८. वही, पृष्ठ ११। ९. वही, पृष्ठ ७। १०. वही, पृष्ठ ११। ११. वही, पृष्ठ १२।

नुक्कड़ नाटक : परम्परा और प्रयोग

●

श्री सनतकुमार

नुक्कड़ नाटक के वर्तमान स्वरूप पर चर्चा के पूर्व हमें इसकी परम्परा और प्रेरणा-स्रोतों पर विचार करना चाहिए। मध्यकाल में उत्तर-भारत में राम-लीला, और कृष्ण (रास) लीला, आल्हा, दंगल, बिरहा तथा नाच और नौटंकी, गुजरात में भवाई, महाराष्ट्र में तमाशा आदि लोककला के विभिन्न रूपों ने जन-मानस में अपना निश्चित स्थान बनाया है। लोककला के इन रूपों के अन्दर नाट्य तथा संगीत मिले-जुले रहते हैं। हमारे लिए महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इन लोकनाट्यों को खेलने वाले सामान्य जनता के ही कलाकार होते चले आये हैं। अपनी पीड़ा-भरी गरीबी और उससे उत्पन्न भयावह समस्याओं से जूझते हुए भी ये लोक-कलाकार, समय निकाल कर चौपालों, आँगनों, नदी-किनारों के मैदानों में अपने जैसी ही जनता के बीच अपनी कला का प्रदर्शन करते रहे हैं। यह लोक-कलाकारों का अपने ही लोक के साथ संवाद-जैसा है। इस कला के पीछे मनोरंजन का उद्देश्य तो रहता ही था, लेकिन इसके साथ ही चेतन और अचेतन स्तर पर आदर्श जीवन-मूल्य तथा सामाजिक समस्याओं की ओर संकेत भी प्राप्त होते हैं। असत्य तथा अधर्म पर सत्य तथा धर्म की विजय जैसी आदर्शवादी कल्पनाएँ यहाँ प्राप्त होती हैं। बिरहा, नाच, नौटंकी, तमाशा आदि नाट्य-रूपों में सामाजिक समस्याओं के संकेत प्राप्त होते हैं।

नुक्कड़-नाटक की प्रेरणा तथा परम्परा, इन्हीं लोकनाट्य रूपों से सम्बन्धित है। प्रश्न यह उठता है कि नुक्कड़ नाटक अपने स्वरूप में क्या है? इसके साथ के अन्य प्रश्न हैं कि नुक्कड़ नाटक ही क्यों? इसको कौन लोग खेलते हैं? और उनका उद्देश्य क्या है? हम आखिरी सवालों से बात शुरू करेंगे?

नुक्कड़ नाटक वर्तमान समाज का जागरूक वर्ग खेलता है। मजदूर से लगाकर वकील, डाक्टर, छात्र, शिक्षक, किसान और क्लार्क, बच्चे, युवक और बूढ़े सभी इन नुक्कड़-नाटकों को खेलते हुए देखे जा सकते हैं। बस एक बार कलाभिव्यक्ति, जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति, अन्याय के विरुद्ध बेचैनी की तीव्रता ने संकोच का परदा उठाया कि सुशिक्षित मध्यवर्ग और अल्पशिक्षित निम्न वर्ग नुक्कड़ पर हाजिर है। इन कलाकारों का उद्देश्य निश्चित ही केवल दर्शकों का मनोरंजन नहीं होता है। नुक्कड़-नाटक में भाग लेते हुए कलाकार तथा दर्शक सीधे-सीधे जन-समस्याओं से साक्षात्कार करते हैं। स्त्री-शोषण की समस्या, दहेज और बलात्कार की समस्या, खेत-मजूरों, गरीब किसानों, दलित समाज पर चल रहे अन्याय, अत्याचार, कारखाने के मजदूरों की छँटनी, तालाबन्दी के विरुद्ध लड़ाई, साम्प्रदायिकता और पृथकतावाद की समस्याएँ, वर्तमान समाज में न्याय की समस्या, बेकारी, भुखमरी, अकाल की समस्या, अनाज, पानी, बिजली तथा

बीमारी की समस्या, सत्ता-वर्ग के भ्रष्टाचार, पाखण्ड तथा दमन की समस्या, आदि-आदि अनेक समस्याओं को सहने-भोगने वाली जनता के बीच, जनता के बीच के ही कलाकार, नुक्कड़ नाटकों के द्वारा, इन समस्याओं का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं। और केवल यथार्थ-चित्रण भर ही नहीं होता है, नुक्कड़-नाट्क में मर्मस्पर्शी तथा विचारोत्तेजक व्यंग्य उपस्थित हैं और साथ ही सामाजिक संरचना के बदलाव का अनुरोध भी प्रकट अथवा अप्रकट रूप में रहता ही है। यह व्यंग्य और अनुरोध नाटक के अंत में सामूहिक गीतों के रूप में भी प्रस्तुत होता है और कभी नाटक के कलाकार (मुख्यतः उद्घोषक या कभी सामूहिक) के संबोधन से, जो सीधे जनता से होता है।

खेलने वाले कलाकार, दर्शक तथा नाटक के उद्देश्य (कथ्य) से ही यह ज्ञात हो जाता है कि नुक्कड़ नाटक का स्वरूप 'जनवादी' है। यह निश्चित ही एक जनवादी नाट्य-विधा है। स्वाँग, नाच, नौटंकी, आदि के समान ही, अपनी जनता से जुड़ा हुआ नुक्कड़ नाटक, अपने उद्देश्य के प्रति, परम्परागत नाट्य-रूपों की अपेक्षा अधिक सजग है। परम्परागत नाट्य-रूपों के अनेक तत्त्वों-विशेषताओं को आत्मसात् करते हुए भी यह उनसे अधिक विकसित और मुखर है। अधिकांश नुक्कड़-नाटक की भूमिका तथा चरित्र सामाजिक बदलाव का होता है। स्पष्ट कहें कि नुक्कड़-नाटक का मूल स्वर राजनैतिक और सामाजिक-आर्थिक बदलाव का है। यह दमन के विरुद्ध दमित वर्ग की हुंकार है। यह पीड़ा और नारे की कलात्मक अभिव्यक्ति है।

अगला प्रश्न 'नुक्कड़ नाटक ही क्यों' का है। हर युग में जनता अपने अभिव्यक्ति-रूप, अपने कला-रूप की सर्जना करती है, प्राप्त साधनों का प्रयोग करते हुए अभाव की दुनिया में अपने भावों का प्रकाशन करती है। वर्तमान परिस्थितियाँ ही नुक्कड़ नाटक के जन्म तथा प्रसार का कारण हैं। नाट्य-गृहों का अभाव तो है ही, गाँवों को छोड़िए, शहरों में भी नाट्य-गृहों का अभाव है। फिल्म और टी० वी० में हास्य, यौन, मांसलता, आदर्श, सभी कुछ है, लेकिन असली जन-समस्याएँ या तो वहाँ गैरहाजिर हैं या लायी भी जाती हैं तो बहुत उथले स्तर पर। यदि नाट्य-गृह किसी शहर में हैं भी, तो वे नुक्कड़ नाटक के कलाकारों तथा सामान्य जनता के लिए खासे महँगे हैं। अन्य नाटकों और 'नुक्कड़ नाटक' में एक स्पष्ट तथा महत्त्वपूर्ण अंतर यही दिखलाई देता है कि अन्य नाटकों को देखने जनता के कुछ लोग जाते हैं—थिएटरों में, लेकिन नुक्कड़-नाटक खुद चलकर जनता के हिस्सों-दर-हिस्सों तक जाते हैं। थिएटर के नाटकों की बैसाखियाँ थिएटर हैं। नुक्कड़ नाटक के अपने पाँव होते हैं और उसका मंच नुक्कड़ होता है जो जनता के हर हिस्से के लिए खुला होता है। इसलिए नुक्कड़ नाटक थिएटर के नाटकों की अपेक्षा अधिक गतिशील होते हैं, अधिक जनोन्मुख होते हैं।

अन्तिम प्रश्न है—नुक्कड़ नाटकों के रूप तथा जबान की रचना का। नुक्कड़-नाटक यथार्थ-वादी नाट्य-रूप लेकर आया है। सामाजिक वस्तु के कारण इसके पात्र वर्गीय चरित्र के होते हैं। प्रतीकात्मकता लोक-जीवन से जुड़ी होती है, कवि-कल्पना से नहीं। मंच तथा मंचीय सामग्री के अभाव ने नुक्कड़-नाटकों में संरचना-कौशल को जन्म दिया है तथा सांकेतिकता का विकास किया है। संरचना तथा सांकेतिकता नुक्कड़ नाटकों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। मशीन, वायुयान, घर, बाग, पाठशाला, आग, समुद्र, सभी नुक्कड़ पर कलाकार अपनी संरचनाओं द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं। गीत-संगीत, नृत्य नुक्कड़ नाटकों में यथावश्यक प्रयुक्त किये जा सकते हैं। सामूहिक-गान (कोरस) नुक्कट-नाटक का एक प्रसिद्ध उपकरण है जिसका उपयोग नाटक के अंत में लोक-संबोधन के लिए किया जाता है।

जहाँ तक जबान की बुनावट का सवाल है, नुक्कड़-नाटक जनता की जबान है। जनता में प्रचलित बोली अपने पूरे तेवर के साथ इन नाटकों में विद्यमान है। मंचीय नाटकों की आभिजात्यपूर्ण भाषा से भिन्न देशी कहावतों, मुहाविरों, बोली-गाली से नुक्कड़ नाटकों की जबान बनी है। इसमें देशी जबान का मिठासपूर्ण अपनापन तथा आक्रामक तेजी, दोनों हैं।

हिन्दी (या हिन्दुस्तानी) में, उत्तर भारत में अनेक नगरों-गाँवों में नुक्कड़-नाटक का विकास हो रहा है। बिहार, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, मध्यप्रदेश, आदि हिन्दी-भाषी प्रदेशों के साथ ही महाराष्ट्र में भी कुछ जगहों पर हिन्दुस्तानी नुक्कड़ नाटक खेले जा रहे हैं। चूँकि इसकी भाषा में अरबी-फारसी के प्रचलित शब्द हैं और यह संस्कृतनिष्ठता से बरी है, इसलिए इसे 'हिन्दुस्तानी' या 'सरल हिन्दी' कहा जा सकता है। मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश और बिहार के गाँवों में नुक्कड़ नाटकों का खेला जाना स्वागत-योग्य घटना है। प्रेमचन्द की कहानियों, ब्रेख्त के नाटकों तथा हिन्दी के मौलिक नाटक की रंगभूमि बन गया है। यह भारत के हर गाँव-शहर के नुक्कड़ जन-समस्या के दस्तावेज तथा जन-संघर्ष के मोर्चे बन रहे हैं। संघर्षशील कलात्मकता ने इन दस्तावेजों तथा मोर्चों में रंग भरा है।

आभिजात्य वर्ग का एक मिथ्या सोच यह है कि नुक्कल के नाटकों में कला नहीं होती है, लेकिन थिएटर तथा गिमिक्स के चमत्कार के बगैर लोगों को बाँधे रखना, कला नहीं है? नुक्कड़ पर मंचीय-नाटक भी सफलतापूर्वता खेले गये हैं। इससे यह तथ्य प्रकट होता है कि नुक्कड़-नाटक में कलागत प्रयोग की अनन्त संभावनाएँ हैं। यह नाट्य-विधा का विकासमान रूप है। यह एक जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन है जो कबीर के सामाजिक सुधार-आन्दोलन की याद दिलाता है। नुक्कड़-नाटकों के रूप में, हर गाँव-शहर का नुक्कड़ बोल रहा है—प्रेम और पीड़ा के बोल, मानवीय भाव और भंगिमा के साथ, प्रयोगधर्मा ताज़गी तथा तेवर के साथ नुक्कड़-नाटक दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध एक प्रतिरोधी कोरस के रूप में आया है—एक ऐसा कोरस जिसे दर्शक तथा कलाकार सब मिलकर गा रहे हैं। यही जन-हिस्सेदारी नुक्कड़ नाटक की सबसे बड़ी विशेषता है और इसीलिए मंचीय नाटकों में चलने वाला कलात्मक छद्म यहाँ नहीं चल सकता है। मंचीय नाटकों में वैयक्तिकता, जन-समस्याओं से दूरी, रहस्यात्मकता, प्रतीकात्मकता, यौन-कुंठा, आदि को प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन नुक्कड़-नाटकों में लोकभय से इन्हें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। थिएटर में लोग घेरे में होते हैं, जबकि नुक्कड़ पर लोग आज़ाद होते हैं। थिएटर में लोग उन्मुक्त होकर सोच नहीं पाते, जब कि नुक्कड़ पर लोग खुले दिल-दिमाग से सोचते-विचारते हैं।

इस प्रकार हमने पिछले विश्लेषण से यह देखा है कि नुक्कड़ नाटक कथ्य तथा रूप में अर्थात् संदेश तथा जबान में विशिष्ट होना चाहिए। यह विशेषता है—जनता से जुड़ाव-लगाव की। जनता की बोली में, जनता की बात, जन-भाव-भंगिमा में पेश करना सचमुच एक मुश्किल काम है, कठिन शर्त है। इस शर्त को पूर्ण करने वाला नुक्कड़-नाटक ही सार्थक नुक्कड़ नाटक होता है जो जनवादी सांस्कृतिक आन्दोलन को एक ऊँचाई तक ले जा सकता है, जो जनता को झकझोर कर जगा सकता है, उन्हें सक्रिय कर सकता है। नुक्कड़-नाटक, दलित-दमित जनता का सांस्कृतिक कलात्मक शस्त्र है जिसकी मार धातु तथा बारूद से तेज होनी चाहिए।

नौटंकी :
परम्परा, प्रयोग और सम्भावनाएँ

●

श्री विनोद रस्तोगी

परम्पराएँ लोकजीवन में ही पनपती हैं, इसलिए मनोरंजन की पारंपरिक विधाओं का आधार भी लोकजीवन ही होता है। जिन कलाओं में जन-जीवन की अनुभूतियाँ होती हैं, वही लोक-मानस को आंदोलित और उद्वेलित कर पाती हैं। लोक-नृत्य, लोक-कथाएँ और लोक-नाटक ऐसी विधाएँ हैं जो शताब्दियों से लोकरंजन करती आ रही हैं। इन लोकधर्मी कलाओं में शिल्प की प्रौढ़ता और अभिव्यक्ति का उत्कर्ष भले न हो, पर सरलता और सरसता के बल पर ही वे दर्शकों और श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देती हैं।

भारत में लोक-नाटकों का उदय धार्मिक गाथाओं से हुआ। राम के जीवन पर आधारित 'रामलीला' और कृष्ण के जीवन की झाँकी दिखानेवाली 'रासलीला' की नाट्य-परम्पराएँ इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण रही हैं। मध्ययुग के उत्तरार्द्ध के कथानकों को ऐतिहासिक आधार मिला और आगे चलकर अनेक शृंगारपूर्ण प्रेमाख्यान लोक-नाटकों के प्रिय विषय बन गए।

तात्त्विक दृष्टि से एकरूपता होते हुए भी स्थानीय प्रभावों के कारण भिन्न-भिन्न प्रदेशों में लोक-नाटक की विविध शैलियाँ विकसित हुईं। बंगाल में 'जात्रा', असम में 'कीर्तनिया', बिहार में 'बिदेसिया', गुजरात में 'भवाई', महाराष्ट्र में 'तमाशा', 'ललित' और 'गोधल', आंध्र में 'यक्षगान', उत्तर-प्रदेश में 'रासलीला' और 'नौटंकी', पंजाब में 'गिद्दा' और मध्यवर्ती भारत में 'माच' और 'ख्याल' की प्रसिद्ध लोक-नाट्य-शैलियाँ हैं। सभी में संगीत और नृत्य का प्रचुर समावेश है। इन लोकशैलियों में शिल्प की पूर्णता, अभिनय-कला का उत्कर्ष, मंच, की साज-सज्जा, कथानक का गठन, भाषा की प्रांजलता, काव्य की गहन अनुभूति और नाटकीय तत्त्वों का समावेश भले न हो, परन्तु सरस संगीत की धारा ही दर्शकों को मंत्र-मुग्ध कर देती है। इनकी सादगी ही इनका सबसे बड़ा गुण और सबसे बड़ा बल है।

नौटंकी उत्तर-भारत में बहुत लोकप्रिय है। इसे 'स्वाँग', 'सांगीत' और 'भगत' भी कहते हैं। सदियों से नौटंकी ग्रामीण जनता का मनोरंजन करती आ रही है। शृंगारपूर्ण कथानक, लोकप्रिय छंद, सरल भाषा और लोक-धुनों पर आधारित संगीत के कारण नौटंकी का नगाड़ा मनोरंजन का प्रतीक बन गया है। नगाड़े की आवाज सुनते ही लोग कोसों चलकर नौटंकी देखने आते हैं और रात-रात भर जागकर अभिनेताओं के अनगढ़ सहज अभिनय का आनंद लेते हैं।

नौटंकी का उदय कब और कैसे हुआ ? इस प्रश्न पर विद्वानों में काफी मतभेद है। प्रसाद जी ने नौटंको को 'नाटकों' का अपभ्रंश माना है। वे 'सट्टक' को नौटंकी की तरह ही

लौकिक तमाशा मानते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का भी यही मत है। नौटंकी की भाषा में उर्दू का बाहुल्य देखकर डॉ० बाबूराम सक्सेना नौटंकी का प्रारंभ उर्दू कविता और लोकगीतों से मानते हैं। कालिकाप्रसाद दीक्षित 'कुसुमाकर' भी 'हीर-राँझा' की कथा को सर्वप्रथम नौटंकी मानते हैं।

वस्तुतः नौटंकी आधुनिक नहीं है। उसका वर्तमान स्वरूप अनेक प्रयोगों और संशोधनों के बाद स्थिर हुआ है। नौटंकी के संबंध में एक लोककथा भी प्रचलित है। कहते हैं कि 'नौटंकी' नाम की एक सुन्दर राजकुमारी थी। अपनी भाभी के ताने सुन-सुनकर फूलसिंह नामक युवक उससे शादी करने के लिए निकल पड़ा। एक मालिन की सहायता से वह स्त्री-वेश में नौटंकी के महल में पहुँचा। दोनों घुल-मिल गए। नौटंकी हँसी-हँसी में बोली—"अगर हममें से एक पुरुष होता तो कितना अच्छा होता।"

फूलसिंह तत्काल अपने सही रूप में आ गया। नौटंकी पहले तो घबड़ाई, मगर फिर उससे शादी करने के लिए तैयार हो गई। नौटंकी का पिता फूलसिंह को जमाई बनाना स्वीकार न कर सका। उसने फूलसिंह को बंदी बनाकर उसे प्राणदंड दिया। नौटंकी ने पुरुष-वेश धारण करके अपने प्रेमी की रक्षा की और अंत में दोनों का विवाह हो गया। इस लोककथा के आधार पर पं० नथाराम शर्मा ने एक 'नौटंकी' लिखी है—'सांगीत नौटंकी राजकुमारी उर्फ अय्यारा औरत'।

कानपुर के श्रीकृष्ण पहलवान की नौटंकी 'नौटंकी शहजादी' में भी यही कथा है।

नौटंकी के जन्मदाताओं में मल्ल, रावत और रंगा के नाम लिए जाते हैं। मल्ल जाट, रावत राजपूत और रंगा जुलाहा था। ये लोग ढोलक बजाकर नौटंकी का अभिनय करते थे। अब ढोलक का स्थान नगाड़े ने ले लिया है, परन्तु रंगा का नाम आज भी नौटंकी के साथ जुड़ा हुआ है।

आधुनिक नौटंकी-लेखकों में हाथरस के पं० नथाराम शर्मा गौड़, कन्नौज के त्रिमोहन (तिरमोहन) और कानपुर के श्रीकृष्ण पहलवान के नाम लिए जा सकते हैं।

अन्य लोक-नाटकों की भाँति नौटंकी का शिल्प भी रूढ़िगत है। प्रारम्भ में मंगलाचरण का होना अनिवार्य है। इसी प्रकार सूत्रधार (रंगा) की अवतारणा भी अवश्यंभावी है। नौटंकी के शिल्प में नाटकीय तत्त्वों को खोजने का प्रयास व्यर्थ है। ढीलढाला कथानक होता है जिसका निर्वाह भी लेखक मनचाहे ढंग से करता है। संकलन-त्रय की कल्पना करना ही भारी भूल है। प्रवेश और प्रस्थान के भी कोई नियम नहीं। नौटंकी का शिल्पशास्त्र नाट्य-शिल्प न होकर लोक-शिल्प है जिसका अनगढ़पन ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

प्रारम्भ में नौटंकी का क्षेत्र धार्मिक एवं पौराणिक कथानकों तथा शृंगारी प्रेमस्थानों तक ही सीमित था। बाद में कुछ साहसिक कथानक भी लिये गये। फिर भक्त ध्रुव, भक्त प्रह्लाद, गोपीचन्द, भक्त पूरनमल, राजा भर्तृहरि, हरिश्चन्द्र, मोरध्वज, अमरसिंह राठौर, सम्राट् अशोक, टीपू सुलतान आदि धार्मिक, लौकिक और ऐतिहासिक गाथाओं; शीरीं-फरहाद, लैला-मजनूँ सोनी-महिवाल, लाला रुख, प्रेमकुमारी, जवानी का नशा आदि शृंगार-प्रधान प्रेमकथाओं तथा सुलताना डाकू, डाकू बरहम आदि साहसिक कहानियों के अतिरिक्त अनेक सामाजिक एवं राष्ट्रीय नौटंकियाँ भी लिखी जाने लगीं। अंधी दुल्हन, परिवर्तन, किसान-कन्या, गरीब किसान, बेटी का सौदा आदि श्रीकृष्ण पहलवान की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। अन्य लेखकों ने भी समय की पुकार सुनकर

अनेक प्रेरक नौटंकियाँ लिखी हैं। एक ही कथानक पर अनेक लेखकों ने कलम उठाई है। फलस्वरूप हमें कथानकों में मौलिकता और नवीनता के दर्शन नहीं होते। दर्शक बहुधा कथानकों से भली प्रकार परिचित होते हैं। वे कथा की अपेक्षा संगीत में अधिक रस लेते हैं।

नौटंकी की भाषा साहित्यिक भाषा से सर्वथा भिन्न है। नौटंकी-लेखक यह कभी नहीं भूलता कि उसकी रचना जनता के बीच प्रदर्शित होगी, इसलिए वह बोलचाल की भाषा का प्रयोग करता है। उसकी भाषा में स्थानीय रंग खूब रहता है। इसी प्रकार संवादों में भी सादगी होती है। कथन-वैचित्र्य के चक्कर में नौटंकी-लेखक नहीं पड़ता। वह सीधी-सीधी बात सीधे-सादे ढंग से कहता है। संवाद पद्यमय होते हैं, अतः वे श्रोताओं को अधिक प्रभावित करते हैं और श्रोता सरलता से भावों को ग्रहण कर लेते हैं। उन्हें संगीत और लोक-काव्य, दोनों का आनन्द मिलता है। नौटंकी के प्रिय छन्द बहरे-तबील, आल्हा, लावनी, दोहा, छप्पय, गजल, भजन, चौबोला आदि हैं। कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग होता है। यह प्रयोग या तो विदूषक के द्वारा होता है या फिर साधारण प्रश्नोत्तर के समय।

नौटंकी के पात्र हमारे जाने-पहचाने होते हैं। ऐतिहासिक, पौराणिक या आधुनिक पात्रों का ढाँचा एक-सा ही होता है। अमरसिंह, मजनूँ और सुलताना डाकू के अभिनय में भी एकरूपता होती है। महाराजा हरिश्चन्द्र भी अभिनय करते-करते बीड़ी का कश मार लेते हैं, सीता और शैव्या भी संवाद बोलकर नाचती हैं, कमर मटकाकर साधारण बेड़िनों की तरह। वीर अर्जुन भी दर्शकों को हँसाने के ध्येय से कभी-कभी विदूषक बन जाते हैं। पात्रों पर कोई अंकुश नहीं, कोई बंधन नहीं। उन्हें अभिनय की पूरी स्वतन्त्रता रहती है। पहले महिला पात्रों की भूमिकायें भी पुरुष कलाकार ही करते थे। धीरे-धीरे महिला कलाकार भी इस क्षेत्र में आयीं। गुलाब बाई, कृष्णा, कमलेश लता आदि के नाम हर नौटंकी-प्रेमी की ज़बान पर हैं।

नौटंकी का एक अनिवार्य पात्र है रंगा। हम उसे 'सूत्रधार' कहते हैं। वह मंगलाचरण के बाद मंच पर आकर कथा की पृष्ठभूमि बताता है और बीच-बीच में कथा के सूत्र जोड़ता हुआ कथा को आगे बढ़ाता है।

नौटंकी में यह आवश्यक नहीं कि एक पात्र एक ही भूमिका करे। राजा की भूमिका करने वाला पात्र समय पड़ने पर चमकदार कोट उतारकर हाथ में डंडा लेकर द्वारपाल बन जाता है। दर्शक इस बहुरूपियापन के अभ्यस्त होते हैं। उन्हें कोई उलझन नहीं होती।

हर नौटंकी में हास्य का बाहुल्य होता है। विदूषक अपनी चेष्टाओं और अटपटे संवादों से दर्शकों को हँसाता भी है और सामाजिक कुरीतियों अथवा अत्याचारों पर व्यंग्य भी करता है। कभी-कभी मुख्य कथा के साथ एक कौमिक भी जोड़ दिया जाता है। नौटंकी का हास्य बहुत भोंड़ा, अशिष्ट और कभी-कभी अश्लील भी होता है।

शब्दों के अनुसार ही संगीत-योजना की जाती है। लोक-धुनों का प्रयोग खुलकर किया जाता है। संगीत नौटंकी की जान है। नौटंकी का प्रमुख वाद्य नगाड़ा है। कुछ मंडलियाँ ढोलक और हरमोनियम का प्रयोग करती हैं। संगीत की शैली पर आँचलिक्ता का प्रभाव रहता है। स्थानीय-संगीत-पद्धतियाँ तत्काल जोड़ दी जाती हैं। नौटंकी के संगीतज्ञों और कलाकारों का लचीलापन उन्हें हर क्षेत्र में समान सफलता व लोकप्रियता प्रदान करता है।

नौटंकी के अभिनय के लिए किसी विशेष आडम्बर की आवश्यकता नहीं। किसी भी खुली जगह पर तख्त डाल दिये जाते हैं। प्रकाश के लिए चारों कोनों पर गैस के हंडे टाँग दिये

जाते हैं। एक ओर नगाड़ेवाला बैठता है। वहीं अवकाश के समय पात्र भी बैठते हैं और अपनी थकान मिटाने के लिए बीड़ी वगैरह पीते हैं; कभी-कभी कमर सीधी करने के लिए लेट भी जाते हैं। तखत के बीच में अभिनय होता है। चारों ओर दर्शक बैठते हैं। पात्र घूम-घूमकर संवाद बोलते हैं, ताकि हर दिशा के लोग सुन सकें। यही खुला मंच राजा का महल भी है और गरीब की झोंपड़ी भी; जमींदार की हवेली है, किसान का खेत भी। न पर्दों की जरूरत है, न सेटों की। दृश्य-परिवर्तन के लिए यवनिका भी आवश्यक नहीं। अभिनय करने वाले पात्र बैठ जाते हैं। नये पात्र उठकर संवाद बोलने लगते हैं। बस, नया दृश्य शुरू हो गया। दर्शक महल से झोंपड़ी में पहुँच गये।

इस प्रकार का सीधा और सरल मंच ही नौटंकी का परम्परागत मंच है। पर आधुनिकता से प्रभावित होकर और मेलों तथा प्रदर्शनियों में नौटंकी खेलते समय सुविधा को ध्यान में रखकर अब कुछ मंडलियाँ पर्दों का प्रयोग भी करने लगी हैं।

नौटंकी के पात्रों की रूप-सज्जा पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। पुरुष-पात्र चेहरे पर हलका पाउडर लगा लेते हैं। लड़कियाँ लाली और काजल का भी प्रयोग करती हैं। भूमिका के अनुरूप सज्जा की प्रणाली का सर्वथा अभाव है। अमरसिंह या सुलताना डाकू अथवा सती सीता या वेश्या की रूप-सज्जा में कोई विशेष अंतर नहीं होता। हाँ, वस्त्र अवश्य भड़कीले होते हैं। रूप-सज्जा यथार्थवादी न होकर सांकेतिक अधिक होती है। नौटंकी के दर्शक भी इस सांकेतिक प्रणाली से भली प्रकार परिचित होते हैं।

नौटंकी की अभिनय-शैली भी यथार्थ न होकर सांकेतिक अधिक है। हर पात्र का अभिनय रूढ़िगत होता है। मनोभावों को प्रकट करने के लिए चेहरे पर उतार-चढ़ाव की बारीकियों अथवा सूक्ष्म अभिव्यक्तियों की यहाँ तनिक भी गुंजाइश नहीं। नौटंकी न तो सिनेमा है और न नाटक। हजारों की संख्या में उपस्थित दर्शकों तक अपनी आवाज पहुँचाना ही अभिनेताओं का प्रमुख ध्येय होता है, इसलिए वे अपने संवाद ऊँचे स्वर में बोलते हैं। उनके लिए जोशीले या ओजपूर्ण और करुण या कोमल संवादों में कोई अंतर नहीं होता। उनका स्वर सदैव एक-सा रहता है। सूक्ष्म भाव-भंगिमाओं के स्थान पर वे हाथों की गति से काम चलाते हैं। इस प्रकार नौटंकी में वाचिक और आंगिक अभिनय की ही प्रधानता रहती है।

फिल्मों के प्रभाव ने नौटंकी के परम्परागत रूप को बहुत कुछ विकृत कर दिया। फिल्मी गानों और तर्जों का समावेश होने लगा। दर्शकों को बाँधने के लिए अश्लीलता की सीमा तक फूहड़पन, द्विअर्थी संवादों, उत्तेजक सांकेतिक भंगिमाओं आदि ने नौटंकी को बहुत सस्ता बना दिया। फलतः लोकप्रियता अर्जित करने की होड़ में स्तर का निरंतर ह्रास होता गया। अनेक मंडलियाँ टूट गयीं। कलाकारों के सामने रोजी-रोटी की समस्या खड़ी हो गयी।

लगभग २५-२६ वर्ष पूर्व लोककलाओं को प्रश्रय देने का और उनके गुण गाने का फैशन-सा चल पड़ा था। यह लहर पश्चिम का अनुकरण मात्र थी, अतः उसके कोई गंभीर परिणाम नहीं निकले। १९५९ में भारत सरकार के संगीत और नाटक अनुभाग ने अखिल भारतीय लोक-नाटक-प्रतियोगिता आयोजित की। पुरस्कार घोषित किये गये। परम्परागत शैली में लिखी गयी नौटंकी 'भागीरथ के बेटे' को प्रथम पुरस्कार मिला। पर उसके बाद ? लोकनाट्य और उनके कलाकार फिर भी उपेक्षित रहे।

ब्रेख्त के टोटल थिएटर ने भारतीय नाटककारों को भी अपने-अपने लोक-नाट्यों का पुनर्मूल्यांकन करके उनकी संप्रेषण-क्षमता का उपयोग करने के लिए प्रेरित किया। यात्रा, भवाई, तमाशा और यक्षगान के शिल्प का प्रयोग नाटककारों ने सफलतापूर्वक किया। और तभी, उपेक्षित नौटंकी के दिन भी बहुरे। नौटंकी-शैली में नाटक लिखे गये और परम्परागत शिल्प से हट-कर नये प्रयोग किये गये। 'बकरी', 'आला अफसर', 'नई लहर' और 'एक और हरिश्चन्द्र' प्रमुख रचनाएँ हैं। सिद्धेश्वर अवस्थी ने 'कथा नंदन की' का नौटंकी-शैली में पुनर्लेखन किया।

इस दिशा में आकाशवाणी केन्द्रों का योगदान भी महत्त्वपूर्ण है। नौटंकी में अनेक नये प्रयोग भी किये गये हैं।

इन नये प्रयोगों से आधुनिक मंच के कलाकार तो जुड़े ही हैं, समाज के हर वर्ग के व्यक्ति भी दर्शक के रूप में जुड़े हैं। जो लोग नौटंकी के नाम से ही मुँह बिचकाते थे, उन्हें भी लोक-नाट्य के रस का ज्ञान हुआ है। फलतः नौटंकी के प्रति, आभिजात्य वर्ग के मन में जो दुराग्रह था, वह दूर हुआ है। यही इन प्रयोगों की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

लोक-नाट्य की क्षमता को लोगों ने पहचाना है। अब यह भी अनुभव किया जाने लगा है कि हमारा राष्ट्रीय रंगमंच लोक-नाट्यों के तत्त्वों पर ही आधारित हो सकता है। अपनी जमीन से कटकर पाश्चात्य रंगभूमि की नींव पर हम अपना राष्ट्रीय रंगमंच खड़ा नहीं कर सकते। इस दिशा में प्रयास भी किये जा रहे हैं। गत वर्ष संगीत-नाटक अकादमी ने लोक-नाट्यों के सार्थक प्रयोग हेतु युवा निर्देशकों को प्रोत्साहित करने के लिए लोक-नाट्योत्सव का आयोजन किया था। पहले क्षेत्रीय समारोह हुए, फिर हर क्षेत्र की सर्वोत्तम प्रस्तुति, केन्द्रीय समारोह में दिल्ली आमंत्रित की गयी। उत्तरी क्षेत्र में उर्मिलकुमार थपलियाल ने "हरीचन्दर की लड़ाई" और अलोपी वर्मा ने 'घासीराम कोतवाल' नौटंकी शैली में प्रस्तुत किये थे।

इन नये प्रयोगों को लेकर कुछ लोग नाक-भौं भी सिकोड़ रहे हैं। उनका कहना है कि हमें नौटंकी के परम्परागत रूप को विकृत करने का कोई अधिकार नहीं। वे लोग यह भूल जाते हैं कि आज के प्रयोग ही कल की परम्परा होते हैं। कोई भी कला जड़ होकर जीवित नहीं रह सकती। लोककलाओं का लचीलापन ही उनकी शक्ति होती है।

आवश्यकता इस बात की है कि नये प्रयोग जारी रहें। कलाकारों को नौटंकी-शिल्प और गायन-पद्धति का प्रशिक्षण दिया जाये और केवल फैशन के लिए नहीं, वरन् सच्चे मन से हम नौटंकी जैसे सशक्त लोक-नाट्य की शैली को अपनायें। नौटंकी-लेखन की कार्यशालायें आयोजित की जायें। तभी हम इस लोक-नाट्य की संभावनाओं को आधुनिक मंच पर उजागार कर सकते हैं।

●

बुंदेलखण्ड की लोकनाट्य-परम्परा

●

डॉ० नर्मदाप्रसाद गुप्त

बुंदेलखण्ड की लोकनाट्य-परम्परा बुंदेली लोकभाषा के जन्म से पूर्व की है। बुंदेली का उद्‌भव आठवीं-नवीं शती में हुआ था, परन्तु उसके पूर्व बुंदेलखण्ड में दूसरी बोलियों का प्रचलन था। होशंगाबाद की आदमगढ़ गुहा, सागर के आबचन्द एवं नरयावली तथा छतरपुर के देवरा-किशनगढ़ एवं पन्ना के बराछ-पंडवन, लाल पुतरिया, मझपहरा-टपकनिया, हाथीदौल, पुतरियाऊ घाटी, कल्याण-बिलाड़ी में लिखित गुहाचित्रों से स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में अटवी-आखेटक और कृषक संस्कृति बहुत पहले से विद्यमान थी। इन चित्रों में अंकित समूहों, नृत्यों और यात्रा-दृश्यों के अग्र भाग में प्रदर्शित नृत्यों से लोकसंवेदना और लोककला की सहज अभिव्यक्ति की बानगी मिलती है। इस युग में खास बात यह थी कि लोकनाट्य का जो भी रूप (जैसे लोकसंवाद) प्रचलित था, वह धर्म की जकड़न से मुक्त होने के कारण परवर्ती लोकनाट्यों की अपेक्षा अधिक स्वच्छंद था। दूसरे वे किसी जाति या दल की निजी संपत्ति न होने की वजह से सामूहिक या सामाजिक चेतना से अधिक जुड़े थे।

उत्तरवैदिक काल में आश्रमी संस्कृति का प्रारम्भ अगस्त्य, अत्रि आदि ऋषियों द्वारा इस वन्य क्षेत्र में अपने आश्रम स्थापित करने से हुआ, परन्तु उसका प्रभाव उतना व्यापक न था। इतना अवश्य है कि रामायण-काल में राम की चित्रकूट और वहाँ से पंचवटी तक की यात्रा से लोकचेतना में परिवर्तन की स्थिति बनी थी। महाभारत-काल में यादवों की संस्कृति ने इस प्रदेश को हर तरह से समृद्ध कर लोकरुचि को परिष्कृत करने में सहायता दी थी। महाजनपदों के युग में राजतंत्र था, पर जनपद के लोगों को राजा को पदच्युत करने का अधिकार भी था। ऐसी स्थिति में लोकसंस्कृति का एक विशिष्ट रूप पनपा और उससे प्रभावित लोकनाट्य के रूपों में एक तरफ द्वन्द्वमूलक प्रवृत्ति का विकास हुआ, तो दूसरी तरफ संकुचन की भूमिका बनी।

मौर्य-काल में बुंदेलखण्ड का कुछ भाग मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत था जिससे यहाँ बौद्ध धर्म का प्रसार हुआ। इसी समय प्राकृत का विकास हुआ और लौकिक प्राकृत ने लोककलाओं को उतना ही प्रोत्साहन दिया जितना कि बौद्ध धर्म में निहित लोकतत्त्व ने। शुंग राजाओं ने भागवद्‌धर्म और नागवंश ने शैवोपासना को महत्त्व दिया। नाग-काल लोकसंस्कृति के परिष्करण और ऐक्य तथा वाकाटक-युग संस्कृति और कला के लिए विख्यात था। यद्यपि वाकाटक शैव थे, तथापि वे अन्य धर्मों का भी आदर करते थे। फलस्वरूप लोककलाओं के साथ लोकनाट्य भी आरोह-अवरोह की स्थितियों से गुजरता रहा। बौद्ध-प्रभाव से उसमें गतिशीलता आई, पर बाद में वह धर्मोन्मुख होने से लीक पर चलना सीखने लगा। उसके वस्तुपक्ष में अनुभूति का नया क्षेत्र खुला जिसके कारण उसमें नये प्रयोग होने लगे। हालाँकि निम्न वर्ग का कलाकार ज्यादा प्रभावित नहीं हुआ।

गुप्त-काल से लेकर हर्षवर्धन (६०६-४७ ई०) तक संस्कृति और कला का उत्कर्ष रहा और संस्कृत नाटकों का मंचन इस क्षेत्र में भी होता रहा। स्वाभाविक है कि लोकनाट्य इस दौड़ में पीछे हो गया। बुंदेलखण्ड में सामंतों का बोलबाला था जिससे प्रजा का शोषण अधिक तेजी से हुआ। ऐसी परिस्थिति में लोककलाओं के विकास की ओर लोगों का ध्यान कम गया। उसके बाद नौवीं शती तक का समय बुंदेलखण्ड के इतिहास में अंधकार-युग कहा जाना चाहिए। क्योंकि यहाँ प्रतिहारों, राष्ट्रकूटों और पालों के आक्रमण होते रहे और किसी का भी शासन सुस्थिर नहीं रहा। ६वीं शती के उत्तरार्द्ध में चंदेलों ने अपने पैर मजबूती से जमा लिये और इसी वजह से बुंदेली लोकभाषा का उद्भव और विकास संभव हो सका।

बुंदेली लोकनाट्य का उद्भव-काल (१०००-१४०० ई०)

चंदेलों के पूर्व यहाँ प्रतिहारों का आधिपत्य तो रहा, पर छोटे-छोटे भूभागों पर विभिन्न जनजातियाँ शक्तिशाली थीं जिनसे चंदेलों को लोहा लेना पड़ा। इस प्रदेश की प्राकृतिक बनावट कुछ ऐसी थी कि विजित भूभागों के राजा विजेता के लौटने पर सिर उठाने लगते थे। इसीलिए चंदेलों ने आटविक शासकों को कहीं अधीन किया, कहीं करद बनाया और कहीं मित्र। उनकी यह सुनीति जहाँ शासन के लिए उपयोगी साबित हुई, वहाँ सांस्कृतिक एकता के लिए फलवती। इस व्यवस्था ने दो तरह की संस्कृतियों की संधिपरक स्थिति बना दी। एक तो शासकों द्वारा स्थापित परिनिष्ठित संस्कृति पूरे प्रदेश में तेजी से फैली; और दूसरी, जनजातियों की लोकसंस्कृति को भी व्यापक प्रसार मिला। मतलब यह है कि ८वीं-६वीं शती में लोकचेतना के आंदोलन ने इतना जोर पकड़ा कि संस्कृत और प्राकृत भाषाएँ एक खास वर्ग तक सीमित रह गईं और लोक-भाषा बुंदेली का विकास हुआ। प्रमाण के लिए तत्कालीन शिलालेखों में 'चौंतरा' और 'बारी' जैसे लोकशब्दों को लिया जा सकता है। और १२वीं शती के जगनिक-कृत 'आल्हखण्ड' में बुंदेली महाकाव्य की रचना जैसी उत्कर्षमय स्थिति से भी अनुमित किया जा सकता है। खजुराहो के मन्दिरों में उत्कीर्ण लोकोत्सवों और लोकनृत्यों के दृश्यों, गाँव और नगरों में प्राप्त चकियों और सती-स्तम्भों से लोककलात्मक मूर्तिशिल्प के प्रभाव का पता चलता है। चंदेल-नरेश वाक्पति (८४५-६० ई०) तो क्रीडागिरि में किरात स्त्रियों से लोकगीत और लोकसंगीत सुनकर आनंदित होता था। सम्राट् कीर्तिवर्मन (१०४०-११०० ई०) के समय कृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक अभिनीत किया गया था और चंदेलकालीन रंगशाला के अवशेष महोबा (जिला हमीरपुर, उत्तर प्रदेश) में आज तक विद्यमान हैं। जनता के मनोविनोद के लिए रंगशालाओं या मन्दिरों के महामंडपों का उपयोग किया जाता था। ऐसे उदाहरणों से स्पष्ट है कि लोकनृत्य और लोकनृत्य के साथ लोकाभिनय भी लोककला-प्रदर्शन का विशिष्ट अंग था।

लोकाभिनय का स्तर क्या था और कौन-से लोकनाट्य मंचित होते थे, इसका कोई प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, लेकिन इतना निश्चित है कि वही लोकनाट्य प्रचलन में थे जो लोकनृत्य के परिवर्द्धित रूप हों या फिर लोकानुकृति से सहजतः प्रस्फुटित हुए हों। इस दृष्टि से अनुकृतिपरक लोकनाट्य स्वाँग इसी समय विकसित हुआ था। लोकधर्म और लोकविश्वास को अनुसरित करने वाले अभिनय भी होते थे, क्योंकि चंदेल-कालीन समाज में कृषि और धर्म संबंधी विविध रीतियाँ प्रचलित थीं और अनार्य जातियों में शाक्त विशेषतया तांत्रिक प्रभाव के कारण भाव और भूत-प्रेत में दृढ़ विश्वास था। देवी का 'भाव'-अभिनय, उत्सव-यात्रा में नृत्यादि के साथ अभिनय, नकल आदि और मनौती में मूक अभिनय तो होता ही था, मन्दिरों में नृत्यपरक

अभिनय भी प्रचलित थे। चंदेल-नरेश परमर्दिदेव (११६५-१२०३ ई०) के समय लाखा पातुर इतनी विख्यात थी कि दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान ने उसकी माँग की थी। जनश्रुति है कि वह खजुराहो के उत्सवों में नृत्य करने में सर्वाधिक कुशल मानी गयी थी। नृत्य और अभिनय की प्रतियोगिताएँ आयोजित की जाती थीं, पर यह कहना कठिन है कि लोकनाट्य भी इसमें सम्मिलित थे। परमर्दिदेव के मंत्री नाटककार वत्सराज के 'षटरूपकम्' से प्रकट है कि वसंतोत्सव में उसके रूपक मंचित किये गए थे जिनमें ऐसे भी थे जो लोकनाट्य कहे जा सकते हैं और जिनसे यह भी सिद्ध है कि भँड़ैती जैसी लोकनाट्य-कला उस समय विद्यमान थी। संक्षेप में, लोकनाट्य (बुंदेली) का उद्‌भव १०वीं शती में हो चुका था और आदिकाल में वह विधा निरंतर विकास करती रही।

मध्ययुग का उत्कर्ष-काल (१४०१–१८४० ई०)

मध्ययुग में बुन्देलखण्ड में रियासतें ही थीं, कुछ मुगलों के अधीन और कुछ स्वतंत्र। सामंतवाद और दरबारीपन दोनों में था, फलतः राई लोकनृत्य का प्रचलन अधिक लोकप्रिय हुआ और भोगलिप्सु सामंतों तथा रसिक जनता ने उसे बहुत प्रश्रय दिया। मनोविनोद और चुहल-बाजी के लिए विदूषक जैसे पात्र उससे जुड़ गए। इस प्रकार वह नृत्यपरक लोकनाट्य में परिणत हो गया। विदेशी संस्कृति की प्रतिक्रिया बौद्धिक मस्तिष्क से लोकचेतना में आई और स्वाँग लोकनाट्य में व्यंग्यप्रधान होकर अभिव्यक्त हुई। इस कारण आदिकालीन स्वाँग अब काफी चुटीला हो गया और लोकचेतना को झकझोरने के लिए यह अनिवार्य भी था।

मध्ययुग की देन नौटंकी लोकनाट्य थी जो तत्कालीन विलासितापरक वातावरण और पर्सियन शैली के नाटकों से जन्मी थी। दूसरे जनपदों में उसे भगत, स्वाँग और सांगीत कहा जाता है, पर बुन्देली प्रदेश में भगतें देवी के भजन हैं, जबकि स्वाँग नौटंकी या सांगीत से बिल्कुल भिन्न है। यहाँ नौटंकी संभवतः हाथरस प्रदेश से आई और बुन्देली रंग से रंजित होकर प्रचलित हुई। उसमें भाषा का खड़ापन और उर्दूआना अंदाज वैसा ही रहा, केवल स्वर बुन्देली का हो गया था।

'भँड़ैती' भी इस युग में सर्वप्रिय लोकनाट्य थी। वैसे आदि काल में उसकी मौजूदगी के संकेत मिलते हैं, पर उसे उतना विकास नहीं मिल सका, क्योंकि उस समय का सांस्कृतिक परिवेश उसके लिए उतना उपयुक्त नहीं था जितना मध्ययुग का। मध्ययुग की दरबारी संस्कृति में वह पल्लवित-पुष्पित हुआ। आचार्य केशव की 'रामचन्द्रिका' में भँड़ैती के द्वारा भाँड़ों के मान पाने का उल्लेख इस तथ्य का साक्षी है।

लोकचेतना का पुनरुत्थान (१८४१-१९१० ई०)

१७वीं शती के बाद सौ-सवा सौ वर्ष तक लोकनाट्य परम्परित स्थैर्य से जकड़ा रहा, क्योंकि लोक शृंगारपरक कविता की रंगीनी और रसिकता में उलझा रहा।

उन्नीसवीं सदी के चौथे चरण के बाद स्वाँग के विषय नये सन्दर्भों से जुड़कर व्यंजनामय बने और रामलीला में राक्षसों के संहार तथा रासलीला के कंस-वध जैसे प्रसंगों को और अधिक बल दिया गया। नृत्यपरक लोकनाट्यों में धार्मिक कथाओं के स्थान पर प्रेमकथाएँ मंचित की जाने लगीं जिससे समाज में प्रेम के नये अंकुर फूटें। सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्ति के लिए जातिपरक लोकनाट्यों में जातीय भेदभाव, द्वेष आदि को स्थान दिया जाने लगा। मतलब

यह है कि पुनरुत्थान की वैचारिकता के लिए बुन्देली लोकनाट्य काफी लचीले होते गए और उन्होंने नवजागरण के दायित्व का निर्वाह किसी-न-किसी रूप में अवश्य किया।

आधुनिक काल (१९११–८६ ई०)

ईसाई मिशनरियों और अंग्रेज विद्वानों के लोकसाहित्य-संबंधी महत्त्वपूर्ण कार्य से प्रेरित होकर बंगाल, बिहार, गुजरात आदि प्रदेशों में सर्वेक्षण और संग्रह का कार्य २०वीं शती के दूसरे दशक से प्रारम्भ हुआ था, परन्तु हिन्दी में पं० रामनरेश त्रिपाठी की 'कविता-कौमुदी' भाग ५ (ग्रामगीत) के प्रकाशन (१९२९ ई०) से आधुनिक काल का प्रवेश माना जाता है। बुन्देली में १९११ ई० से उसका समारम्भ कहना इसलिए उचित है कि पुनरुत्थान के युग में फागकाव्य की नयी धारा के प्रवर्तक ईसुरी से प्रेरणा पाकर अनेक कवियों ने लोककाव्य का सृजन शुरू कर दिया था और बीसवीं शती के दूसरे दशक में लोकसाहित्य की हर विधा अँगड़ाई लेने लगी थी। फाग की रीतिपरक प्रवृत्ति के विरोध में नयी संवेदना और नये विषय ग्रहण किये गए, सैरों में प्रबंध रचे गए और अन्य विधाएँ भी सृजनशीलता के नये अध्याय से सँवारी जाने लगीं। लोक-नाट्यों की रचना भी हुई। इस कारण आधुनिक काल का निर्धारण १९११ ई० से उचित है।

इस युग की पृष्ठभूमि में जनपदीय पत्रिकाओं का प्रकाशन, लोकसाहित्य के संग्रहों और समीक्षाओं की संपूर्ति और शासकीय प्रोत्साहन के प्रमुख प्रेरक स्रोत रहे हैं। टीकमगढ़ (ओरछा-राज्य) से स्व० बनारसीदास चतुर्वेदी के सम्पादन में 'मधुकर' पत्रिका निकली जिसके चार-पाँच वर्ष तक के प्रकाशन ने बुन्देली लोकचेतना को काफी प्रभावित किया था। श्री कृष्णानन्द गुप्त के सम्पादन में 'लोकवार्ता' के चार अंक ही प्रकाशित हुए जो नमूने बनकर रह गए। ये दोनों पत्रिकाएँ राज्याश्रित थीं, पर बीसवीं शती के पाँचवें दशक में उन्होंने विद्वानों को प्रेरणा दी थी। एक लम्बे अंतराल के बाद इस लेखक के सम्पादन में 'मामुलिया' का प्रकाशन जनता और विद्वानों द्वारा समादृत होकर लोकचेतना के इतिहास में एक नये मोड़ का प्रतीक कहा गया है। बुन्देली लोक-साहित्य के इने-गिने संग्रहों और समीक्षा-ग्रन्थों से आधुनिक अध्येताओं को नयी सामग्री प्राप्त हुई है, लेकिन आकाशवाणी और शासकीय पुरस्कारों को भी कुछ प्रोत्साहन देने का श्रेय है।

जहाँ तक लोकनाट्यों का संबंध है, उनकी आधुनिकता के दो पक्ष बुन्देली प्रदेश में मिलते हैं—१. सृजन की परम्परा और २. मंचन के प्रयोग। सृजन-परम्परा का क्रमबद्ध अनुशीलन प्रस्तुत करना तो कठिन है, पर उसकी बानगी दी जा सकती है। टीकमगढ़-महारानी बृषभान-कुँवरि का 'संभ्रम मानलीला' (१९१४ई०) से स्पष्ट है कि दूसरे दशक में ही लोकनाट्यों का सृजन प्रारम्भ हो गया था। रामरसिक कवयित्रियों ने जहाँ विभिन्न प्रकार के लोकगीतों की रचना की थी, वहाँ लीलापरक लोकनाट्यों की बानगी पेश की थी। बिजावर महारानी का 'श्री युगल विरहलीला रहस' रासपद्धित का लीला-लोकनाट्य है। ऐसे लोकनाट्य सिर्फ पद्यबद्ध होते हैं, इसलिए उन्हें लोकगीतिनाट्य कहना समीचीन है।

लोकनाट्यों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है, लेकिन यहाँ बुन्देली के सात प्रमुख रूपों की क्रमबद्धता उनके विकास के आधार पर निश्चित की गयी है। स्वाँग सबसे प्राचीन है जो बुन्देली के जन्म से जुड़ा है। राई लोकनृत्य के रूप में मध्ययुग के शुरू का है और लोकनाट्य के रूप में भी शेष नाट्यरूपों से पहले प्रचलित हुआ है। भक्ति-आंदोलन से प्रेरित रासलीला रामलीला के बाद की है। इतना अवश्य है कि रासलीला के अनुकरण पर

रामलीला की नयी शैली प्रारम्भ हुई। काँड़रा लोक-नृत्य सगुण भक्तिपरक लीलाओं के समानान्तर उनकी प्रतिक्रिया में जन्मा, पर लोकनाट्य के रूप में बाद में विकसित हुआ। भँड़ैती स्वाँग का ही अंकुर है जो 'भाण' के रूप में चन्देल-कालीन रूपककार वत्सराज के 'कर्पूर-चरित' में दिखाई पड़ता है। मध्ययुग के सामंती परिवेश में महफिली हास-परिहास से भाँड़ों का मसखरापन और नकल प्रचलित हुए। १८वीं-१९वीं शती की दिल्ली और अवध की महफिलों में भाँड़ों का बहुत जोर रहा जिससे पूरा उत्तर भारत प्रभावित हुआ। नौटंकी २०वीं शती के प्रारम्भ में यहाँ प्रचलित हुई और किसी नये नाट्यरूप की उद्भावना नहीं हुई।

स्वाँग-परम्परा

स्वाँग सांगीत, भगत और नौटंकी से भिन्न लोकनाट्य है। बुन्देली स्वाँग का उल्लेख 'छिताई कथा' (१५१६-२६ ई०) में नट-नाटक के रूप में आता है, पर तुलसी के रामचरितमानस, गीतावली और रामललानहछू में तो बिल्कुल स्पष्ट है। सिद्ध संत कवि कण्हपा (९वीं शती) ने डोम जाति द्वारा 'सांग' करना लिखा है। इससे प्रकट है कि स्वाँग ९वीं शती में विद्यमान था। आदिकाल में स्वाँग किस रूप में था, इसकी प्रामाणिक जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी, किन्तु तुलसी के साक्ष्य से उनके दो रूप स्पष्ट हैं—१. 'चढ़े खरनि विदूषक स्वाँग साजि' (गीतावली) से तात्पर्य है—रूप धारण करना। २. 'हिलमिल करत सवाँग सभा रसकेलि हो' (रामललानहछू)। सोहर लोकछंद की इस पंक्ति का अर्थ है—एकत्रित होकर सब स्वाँग लोकनाट्य के अभिनय द्वारा सभा को रसमग्न करते हैं।

मध्ययुग में प्रचलित स्वाँग अनेक प्रकार से कई वर्गों में रखे जा सकते हैं। विषयवस्तु की दृष्टि वे सामाजिक, पौराणिक या धार्मिक, सांस्कृतिक और काल्पनिक होते हैं, किन्तु आधुनिक युग में उनमें राजनीतिक और समस्यामूलक वस्तु अधिक महत्त्व की समझी जाने लगी है। रसपरक दृष्टि से उन्हें शृंगारिक, भक्तिपरक, हास्यपरक और व्यंग्य-विनोदपरक वर्गों में रखा जा सकता है, जबकि जातीय वर्गों की दृष्टि से धोबी, कोरी आदि जातियों के नाम पर विभाजित होते हैं। वैसे बुन्देली स्वाँग की मुख्य प्रवृत्ति व्यंग्य-प्रधान है और उनमें व्यंग्य के सभी रूप सन्निहित हैं, इसलिए उन्हें हास्यपरक, उपहासपरक (सैटाइरिकल), विरोधमूलक व्यंग्यप्रधान (आयरनीकल), व्यक्तिपरक व्यंग्यप्रधान (कैरिकेचरल), कटूक्तिपरक (सरकास्टिक) और विनोद-परक में बाँटा जाता है।

बुन्देली स्वाँगों में पुरुष की अपेक्षा स्त्री की भागीदारी अधिक है। विवाह के अवसर पर अभिनीत ब्याव या बाबा के सभी स्वाँग स्त्रियों तक ही सीमित हैं। वे इतनी स्वच्छंद हो जाती हैं कि गालियाँ और अश्लील दृश्यों या संवादों में संकोच नहीं करतीं, इसीलिए बच्चे और पुरुष दर्शक तक नहीं हो सकते। इन स्वाँगों में पुरुष को खुली चुनौती मिलती है, इस वजह से वे सूरदास-विरचित पदों में गोपियों द्वारा 'मधुकर' (ब्याज से कृष्ण) को संबोधित व्यंजनाओं से अधिक जोरदार हैं। इनके अलावा कजरियाँ छैंकबे कौ स्वाँग, जातियों (भंगी, कोरी, धोबी, कुर्मी, चमार, काछी, बारी आदि) के सभी स्वाँग और व्यावसायिक या पेशेवर स्वाँग बिना नारी पात्रों के मंचित नहीं होते। स्पष्ट है कि स्वाँगों में नारी पात्र का स्थानापन्न पुरुष बहुत कम या विशेष परिस्थिति में ही होता है। पारम्परिक स्वाँगों में आज भी मूँछवाले पुरुष घूँघट डालकर अभिनय नहीं करते। इतना अवश्य है कि सार्वजनिक मंचों पर पेशेवर नारियाँ तो धड़ल्ले से उतरती हैं, जबकि अन्य अब संकोच करने लगी हैं।

बुन्देलखण्ड में ऐतिहासिक स्वाँगों को भी आदिकाल से महत्त्व मिला है। 'कजरियाँ छैंकबे कौ स्वाँग' में बारहवीं शती का एक प्रसंग है जिसमें चन्देलों और चौहानों के बीच कजरियों के युद्ध में जोगी बने आल्हा-ऊदल चौहान सेना को खदेड़ कर बहन चन्द्रावली (चन्देल-नरेश परमर्दिदेव की पुत्री) की कजरियाँ खुटवाते हैं। महोबा, राठ और अनेक स्थानों में आज भी यह स्वाँग बुंदेली लोकगीतों के साथ कहीं औपचारिक और कहीं रुचिपूर्वक अभिनीत होता है। ऐसे स्वाँग उस युग की लोकचेतना के प्रतीक सिद्ध होते हैं और ऐतिहासिक चेतना को लोकचेतना में ढालने वाली अद्भुत क्षमता रखते हैं। इतिहास की सार्थकता लोक की अनुभूति बनने में ही है। तीसरे, स्वाँग में इतना लचीलापन है कि वह परम्परागत होता हुआ भी आधुनिक सोच को बखूबी समेट लेता है। बुंदेली स्वाँगों ने अपने विकास के हर चरण में नये विषय और नयी चेतना अपनायी है। आधुनिक संदर्भों से जुड़ाव ही उनकी संजीवनी शक्ति है। चौथी विशेषता यह है कि बुंदेली स्वाँग अभिनयप्रधान हैं, यद्यपि गीत और नृत्य उनके बीच-बीच गुँथे हुए हैं, तथापि वे अभिनय के अंग बनकर ही आए हैं। मतलब यह है कि बुंदेली स्वाँग अन्य जनपदों के स्वाँगों से भिन्न अपनी विशेष पहचान रखते हैं। वे ब्रज के 'भगत' की तरह संगीतप्रधान, राजस्थान के 'भवाई' और गुजरात के 'भवाई वेश' की तरह नृत्यप्रधान तथा हरियाणा के 'सांग' की तरह गीतिप्रधान नहीं हैं, वरन् हिमाचल के 'करियाला' और कश्मीर के 'भांडपाथर' की तरह अभिनयप्रधान हैं। 'करियाला' में व्यंग्यों का वह वैभव एवं वैविध्य नहीं है जो बुंदेली स्वाँगों में है और 'भांडपाथर' के व्यंग्य अन्त में आदर्शपरक हो जाने पर अपनी यथार्थपरकता खो देते हैं। तात्पर्य यह है कि बुंदेली स्वाँग अपनी अभिनयमूलकता और यथार्थपरक व्यंग्यात्मकता के आधार पर विशुद्ध स्वाँग की प्रतिष्ठा रखते हैं।

राई-परम्परा

राई मूलतः लोकनृत्य है जो वसंतोत्सव से जुड़ा रहा है और आज भी वसंतपंचमी से लेकर वैसाख पूर्णिमा तक राई की धूम रहती है। फाग और रबी की फसल का प्रमुख नृत्य होने के कारण उसकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं है। चन्देल-नरेश मदनवर्मन् (११२९-६५ ई०) के समय मनाये जाने वाले वसन्तोत्सव का वर्णन जिन मण्डन के 'कुमारपाल प्रबन्ध' में मिलता है। रूपककार वत्सराज ने भी चन्देल-नरेश परमर्दिदेव और त्रैलोक्यवर्मन् के राज्यकाल में वसन्तोत्सव का चित्रण किया है। उनके प्रहसन 'हास्यचूड़ामणि' का अभिनय तो वसन्त ऋतु में हुआ था। स्पष्ट है कि यह लोकनृत्य १२वीं शती में प्रचलित था, नहीं तो जायसी-कृत 'पद्मावत' (१६वीं शती) और केशव-कृत 'रामचन्द्रिका' में बेड़िनी (लोकनर्तकी) का वर्णन कैसे आता? अब सवाल उठता है कि इस नृत्य का लोकनाट्य के रूप में रूपांतरण कब और कैसे हुआ?

आदिकाल या चन्देल-काल में तो यह लोकनृत्य ही था, परन्तु जैसे ही बीरवर्मन् (१२४५-८२ ई०) की मृत्यु हुई, चन्देल-राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए और छोटी-छोटी जागीरों में यह नृत्य मनोरंजन का प्रमुख साधन बन गया। बुन्देलखण्ड में यह स्थिति लगभग दो सौ वर्ष तक रही। स्वाभाविक है कि सामन्तों और जागीरदारों के मनोविनोद में विशुद्ध कलात्मकता की उतनी जरूरत नहीं थी जितनी मसखरी और संवाद की। इस कारण राई लोकनृत्य में लोकनर्तकियों की संख्या बढ़ी और विदूषक जैसे एक-दो पुरुष पात्र भी। फल यह हुआ कि राई में अभिनय शामिल हो गया और लोकनृत्य राई नृत्यपरक लोकनाट्य के रूप में प्रचलित हुआ। इस प्रकार १५वीं शती से अब तक लोकनृत्य के साथ-साथ राई लोकनाट्य भी निरन्तर गतिशील रहा है।

न तो इस प्रदेश में कोई साम्राज्य स्थापित हुआ और न राई का तार टूटा। राई में नर्तकी का घूंघट डालना और हाथ में रूमाल लेकर संकेतात्मक अभिनय करना मध्ययुग की ही देन है।

राजस्थानी लोकनाट्य 'गवरी' (गौरी) की नर्तकियों को 'राई' कहा जाता है, यहाँ तक कि 'गवरी' का नाम 'राई' भी प्रचलित है। इससे प्रकट है कि 'गवरी' भी पहले लोकनृत्य रहा और कालान्तर में लोकनाट्य के रूप में विकसित हुआ। राई लोकनाट्य की अभिनेत्री और नर्तकी 'बेड़िन' बेड़िया जाति की होती है। वस्तुतः बेड़िया जाति नृत्य की पेशेवर जाति थी और 'बेड़िनी' शब्द विट्>विड>विडनी से बना है। विट विदूषक की श्रेणी का एक नाटकीय पात्र होता था, उसी ने आगे चलकर विड और विडनी का स्वरूप ग्रहण किया। अतएव उस जाति में अभिनय के बीज पहले से मौजूद थे।

यह लोकनृत्य जहाँ जनता में प्रिय है, वहाँ राजा के सामंतों, जागीरदारों, ठाकुरों आदि मध्ययुग के उच्चवर्ग में भी बहुत अधिक प्रचलन में रहा है। यही स्थिति लोकनाट्य की भी है। १८वीं-१९वीं शती में जब बुन्देलखण्ड के अखाड़ों का ह्रास हुआ और छोटी रियासतों के राजा या जागीरदार कला की बारीकियों से अपरिचित हो गए, तब 'राई' लोकनाट्य इन अखाड़ों की शान बन गया। उसका सर्वाधिक उत्कर्ष १९वीं शती में रहा। उच्च वर्ग के विनोद और विलासिता का साधन बनने से ही वह व्यावसायिक हुआ है और इसीलिए उसका मंचन चाहे जनता के बीच होना हो, चाहे जमींदार की हवेली में, बेड़िन को पहले साई (बयाना) दी जाती है।

मध्ययुग में राई का मंच या तो बिलकुल सादा खुला हुआ होता था, या फिर हवेली के भीतर सजा-सँवरा। सादे मंच में किसी भी बड़े मैदान के बीच स्वच्छ टुकड़े को रस्सी से घेर दिया जाता है और उस घेरे के भीतर एक तरफ गायक और वादक दल रहते हैं जिनके पीछे नगड़िया सेंकने के लिए अलाव या कौंड़े में आग सुलगती रहती है, तो बाकी तीन तरफ लोक-नाट्य के अभिनय के लिए खाली रहता है। रोशनी के लिए मशालें जलती हैं और एक-दो मशालें बेड़िनी के हाव-भाव स्पष्टतः निरखे जाने के लिए मशालची के हाथ में रहती हैं जो नर्तकियों के साथ-साथ गतिशील रहता है।

लोकनाट्य की शुरुआत गायक दल के मंगलाचरण से होती है जिसमें किसी ग्रामदेवता, देवी या इष्ट देवता की स्तुति होती है। मृदंग या ढोलक, नगड़िया, झांझ, मजीरा, झींका किंगरी लोकवाद्यों के साथ राई गीत गाया जाता है। फाग, कहरवा (राई), झूला की राई (छतर-पुर, पन्ना, दतिया क्षेत्र में), लयाल (टीकमगढ़-ललितपुर क्षेत्र में), स्वाँग (सागर, दमोह, जबलपुर क्षेत्र में) और टोक (झाँसी-जालौन क्षेत्र में) राई गीत के ही विविध नाम हैं, केवल फाग भिन्न हैं। फाग को छोड़कर शेष गीतों में कुछ थोड़ी रूपगत भिन्नता है, पर सब की टेक कहरवा (राई) ही होती है। आदिम स्थिति में यह एक ही पंक्ति का था, पर धीरे-धीरे उसकी पंक्तियों की संख्या बढ़ती गई, ताकि वह नृत्य और नाट्य के लिए पर्याप्त वस्तु दे सके। इन गीतों की प्रधान विशेषता उनकी चुटीली व्यंजना है जो अंदर तक घाव करती है। एक-एक पंक्ति में कई-कई अर्थ देने की सार्थकता उनकी मुख्य प्रवृत्ति है।

सराई (चूड़ीदार पैजामा) पर लहँगा या घाँघरा, अँगिया या चोली और ओढ़नी या साड़ी पहने और आकर्षक श्रृंगार से सजी बेड़िनी गीत के बोल पर थिरकती आती है, जबकि मृदंगिया या ढोलकिया और विदूषक धोती (दो कछयाऊ) या चूड़ीदार पैजामा, कुर्ता एवं जाकिट और सिर पर मुड़ासा पहनकर सादे रूप में रहते हैं। बेड़िनी का मुख घूंघट से ढँका रहता है, ताकि दर्शक शारीरिक सौन्दर्य से हटकर कला की बारीकियाँ परखे। लेकिन दर्शक की जिज्ञासा

तृप्त करने के लिए उसका घूंघट उघर जाता है और तब मुखाभिव्यक्तियाँ थोड़े में ही बहुत कह डालती हैं। हाथ में लहराता रूमाल भावाभिव्यक्ति में सहायक होता है। नृत्य रुकने पर या उसके बीच विदूषक या मसखरा अपने विनोदी संवाद या मौन अभिनय से भाव की व्यंजना कर एक नया मोड़ देता है। कभी एक-दो पात्रों को सम्मिलित कर स्वाँग-जैसे व्यंग्यों का प्रस्तुतीकरण अपनी निजी महत्त्व रखता है और अगले नृत्य की भूमिका में सहायक बनता है।

बेड़िनी के नृत्य में जहाँ नर्तकी गीत के अनुरूप आंगिक अभिनय करती है और नृत्य के बाद सहज संवाद की स्थिति लाती है, वहाँ स्वाँग जैसे लोकनाट्यों में भी प्रमुख पात्र के रूप में हिस्सा लेती है। मृदंगिया या ढोलकिया भी बेड़िनी के आस-पास रहकर बैठकी, दुढ़कचका आदि में अभिनय करता है और बाद के छोटे-से दृश्यखण्ड में सम्मिलित होता है। राई में वादन और नर्तन की होड़ और एक-दूसरे को मात देने के प्रयत्न में जो विविध गतियाँ प्रदर्शित की जाती हैं, वे अभिनय का आनन्द देती हैं। सागर-दमोह-जबलपुर के क्षेत्र में नृत्य के बाद के अभिनय को स्वाँग कहते हैं और उसे नृत्य का ही अंग मानते हैं, परन्तु वह राई को नृत्यपरक लोकनाट्य में बदलने का माध्यम सिद्ध हुआ है। आधुनिक काल में संवादात्मक हिस्सा और अधिक गतिशील हो गया है।

रहस-परम्परा

बुंदेली लोक रासलीला को 'रहस' नाम से अभिहित करता है। रास और रासक का प्रचलन पुराना है तथा कृष्ण से संबंधित नाटक भी बहुत प्राचीन काल में अभिनीत हुए थे, उनका इतिहास दुहराना यहाँ उचित नहीं है। बुंदेली प्रदेश में कृष्णभक्ति का विकास एरण के गुप्तयुगीन स्तम्भों के नीचे आधारफलकों पर उत्कीर्ण कृष्णलीला-विषयक दृश्यों के रचनाकाल (३००-६०० ई०) से रेखांकित किया जा सकता है और यह निश्चित है कि कृष्णभक्ति का सम्प्रदाययुक्त स्वरूप यहाँ १५वीं शती के पूर्व विद्यमान था। श्रीमद्वल्लभाचार्य के वृन्दावन में आने के ८०-६० वर्ष पूर्व ग्वालियर के कवियों 'विष्णुदास' और 'थेघनाथ' द्वारा कृष्णकाव्य की रचना का समारम्भ हो चुका था और 'सनेहीलीला' द्वारा लीलाकाव्यों का। कृष्णकाव्य की यह धारा इस भूभाग में १६वीं शती के अन्त तक निरंतर प्रवहमान रही और उसमें 'रासलीला' को महत्त्व भी खूब मिला। इससे प्रकट है कि रहस-परम्परा के लिए वहाँ पर उपयुक्त वातावरण एवं प्रेरक परिपेक्ष्य सदैव मौजूद रहे।

गोपगिरि (ग्वालियर) गोप-संस्कृति का केन्द्र रहा है और गोपों के कृष्ण उसके उपास्य। विष्णुदास ने 'महाभारत कथा' और थेघनाथ ने 'भागवतगीता भाषा' में कृष्णभक्ति की महिमा के स्पष्ट संकेत दिए हैं, किन्तु 'रासलीला' का वर्णन ओरछा के कृष्णभक्त कवि हरिराम व्यास (१५३३-१६०३ ई०) में मिलता है। उन्होंने 'रासपंचाध्यायी' में रासलीला का पूर्ण चित्र अंकित किया है और उनकी मानलीला में नाट्योचित संवाद भी हैं जिससे सिद्ध है कि लीलानाट्य अभिनय के लिए रचे गए थे। उसके बाद १६वीं शती के अन्त तक लगभग ३० लीलाग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं जिनमें राजा देवीसिंह-कृत 'रहसलीला' (१६७६ ई०), प्रेमदास गहोई (१७७०-६७ ई०) की 'भगवत बिहार लीला' और नवलसिंह प्रधान-विरचित 'रहसलावनी' (१८६६ ई०) रास या रहस के ही लीलानाट्य हैं। इनके अनुशीलन से प्रकट है कि 'रहस' इस युग (१६वीं से १६वीं तक) में बहुत लोकप्रिय थे।

सांगीत—एक लोकनाट्य-परम्परा में रामनारायण अग्रवाल ने जिस लीलानाटक-परम्परा

का ब्रज में प्रचलन १६वीं शती के उत्तरार्द्ध में माना है, वह बुंदेलखण्ड में १८वीं शती के पूर्वार्द्ध में प्रारम्भ हो चुकी थी। उन्होंने वाजिदअली शाह के लीलानाटक 'राधा कन्हैया का किस्सा' से जिस 'रहस' की परम्परा का उदय माना है, वह संगीतनृत्यपरक नौटंकी ही था। इसी समय बुंदेलखण्ड की अनेक रियासतों (झाँसी, चरखारी आदि) में रंगशालाएँ स्थापित हुई थीं, पर यहाँ की 'रहस' की परम्परा तीन रूपों में मिलती है—१. ब्रजबोली की रास-परम्परा, २. बुंदेली की 'रहस'-परम्परा, ३. लीलानाट्य-परम्परा।

ब्रजबोली की रासलीला यहाँ बहुत पहले से प्रचलित रही है। ब्रज में जो रासलीला-मंच १६वीं शती के प्रारम्भ में संगठित किया गया, वह ओरछा में आया स्वामी हरिराम व्यास से जुड़कर। फिर 'रास' के लिए ब्रज की मंडलियाँ यहाँ आने लगीं जिनका अनुकरण यहाँ के कलाकारों ने किया। बाद में उनकी प्रकाशित पोथियाँ भी मंच का आधार बनीं। आज भी इस परम्परा के मंच पर ब्रजी में ही गीत-संवाद होते हैं, केवल बुंदेली स्वर या टोन का प्रभाव छाया रहता है अथवा गद्य बुंदेली सहजतः प्रवेश कर लेती है। रियासतों में रासलीला का निर्देशन और अभ्यास कराने वाले ब्रज से बुलाये जाते थे और ब्रज में लिखित लीलाओं का पाठ ही कलाकारों से कराते थे। छतरपुर-नरेश विश्वनाथ सिंह (१८६७-१६३२ ई०) के समय में ब्रज के कलंदर सिंह रासलीला के स्वरूपों को अभिनय-गायन की शिक्षा के लिए नियुक्त हुए थे। यह परम्परा बीसवीं शती के प्रथम चरण तक चलती रही।

बुंदेली की 'रहस' परम्परा भी रास-परम्परा के समान्तर चलती रही। यह निश्चित है कि वह ब्रज की रासलीला से प्रेरित होकर १७वीं शती में उत्थित हुई और दो रूपों में पल्लवित हुई--एक कतकारियों की रहस-लीला, जो हर कार्तिक में कतकारियाँ स्वयं खेलती हैं और दूसरी लीलानाट्य के रूप में, जो कार्तिक में या दूसरे अवसरों पर मंडलियों द्वारा सम्पन्न होता है। दोनों को 'रहस' ही कहा जाता है।

कतकारियों का 'रहस' बुंदेलखण्ड की व्रत-परम्परा का अंग बन गया है। कार्तिक बदी एक से पूर्णिमा तक स्नान और व्रत करने वाली कतकारीं गोपी-भाव से जितने क्रिया-व्यापार करती हैं, वे सब 'रहस' की सही मानसिकता बना देते हैं। इस कारण शुक्ल पक्ष के पन्द्रह दिन (कहीं-कहीं चार-छह या आठ दिन) 'रहस' का सही 'समैया' (समय) होता है। अधिकतर दधिलीला, चीरहरन, माखनचोरी, बंसीचोरी, गेंदलीला, दानलीला रहस आदि अभिनीत की जाती हैं। मंच खुला हुआ सरोवर-तट, मन्दिर-प्रांगण, नदी-तट पर विशिष्ट स्थान और जनपथ होता है। मंच सज्जाविहीन किन्तु स्वच्छ अपनी प्राकृतिक स्थिति में रहता है और कतकारीं वस्त्रों में थोड़े से परिवर्तन के साथ पुरुष एवं स्त्री पात्रों का अभिनय करती हैं। वाद्यों का प्रयोग नहीं होता। संवाद अधिकतर पद्य में होते हैं, गद्य की एकाध पंक्ति ही बीच-बीच में गुँथी रहती है। पात्रों को छोड़ शेष कतकारीं और अतकारीं (अन्य) दर्शक रहती हैं। सभी उपकरण प्राकृतिक होते हैं, जैसे 'चीरहरन' में सरोवर या नदी का तट, तट के किनारे का वृक्ष और कतकारियों द्वारा लाये वस्त्र। बुंदेलखण्ड में कतकारीं छैंकबे (रोकने) को प्रसंग (दानलीला) बहुत महत्त्वपूर्ण है। कहीं-कहीं उसकी तिथि अष्टमी या कोई अन्य नियत होती है। जनपथ में गातीं हुई जाती कतकारियों को कुछ ग्वाल-बाल बने पुरुष पात्र रेखा खींच कर या रस्सी से छेंकते हैं और गोपी-राधा के रूप में कतकारियों से उनके प्रश्नोत्तर-शैली में संवाद होते हैं। प्रश्नों का उत्तर गोपियाँ या ग्वाल-बाल कभी-कभी वहीं तुरन्त बनाकर देते हैं। इस प्रतियोगिता की घड़ी में उत्तर देना

प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाता है। अतएव इस चुनौती-भरी लीला देखने के लिए दर्शकों की भीड़ लग जाती है। संवादों की थोड़ी-सी बानगी द्रष्टव्य है—

ग्वाल— धन्न-धन्न है घरी आज की भलें मिलीं ब्रजबाला।
चंदमुखी तुम ठाँड़ी रइयो टेरत हैं नंदलाला।।

गोपी— काये छैंकी गैल हमारी का है अपनो काम?
कौन देस के हौ तुम राजा का है अपनो नाम?

कृष्ण— ब्रज गोकुल के हम रहवैया किसन हमारो नाम।
दान दई को लेत सबई सें एई हमारो काम।।

गोपी— बिन्द्राबन की कुंज गलिन में छेड़त नार पराई।
बने फिरत हौ ब्रज के राजा करत रये हरवाई।।

कृष्ण— हर हाँके सें अन्न होत है हर की घर-घर पूजा।
तीन लोक चौदा भुवन में हर समान नइँ दूजा।।

लीलानाट्य के रूप में मंडलियों द्वारा अभिनीत 'रहस' अधिकतर कार्तिक, उत्सव और मेला में होते हैं। मंच या तो मंदिर का विस्तृत प्रांगण, गाँव-नगर की चौपाल और रासचौंतरा होता है, या फिर विशिष्ट रूप में तैयार किया गया सज्जित तख्तों का मंच। बुन्देलखण्ड की रियासतों में अधिकतर रासचौंतरा निर्मित किये गए थे जिनकी एक तरफ राधाकृष्णादि के लिए पक्के सिंहासन थे और पूरे चबूतरे में पक्का फर्श था। हर जगह निश्चित तिथि पर रासलीला होती थी। कृष्ण-राधा बनने वाले पात्र 'सरूप' कहे जाते हैं और वे उस अवधि में पूज्य माने जाते हैं। रियासतों में उनके लिए भोजन, वस्त्र और विदाई की सुविधाएँ थीं। वे बग्घी पर डंका-निशान के साथ ले जाये जाते थे। इसी तरह अन्य मंडलियों के सरूप भी सदा सम्मान पाते रहे हैं। बुन्देली प्रदेश विस्तृत होने के कारण अनेक मंडलियों के लिए विख्यात रहा है, यहाँ तक कि छतरपुर के आस-पास के ग्रामों ब्रजपुरा, सौंरा, सरसेड़ आदि तक की मंडलियाँ भ्रमण करती रहती हैं। इनमें कुछ व्यावसायिक हैं जो निश्चित धनराशि लेती हैं। कभी-कभी टिकिट से भी लीला करती हैं। इनके मंचों में एक या दो परदों की व्यवस्था होती है।

रंगभूमि में मंच की एक तरफ मृदंग एवं पखावज के बदले अब ढोलक या तबला, वीणा के बदले हारमोनियम और सितार, मजीरे आदि वाद्यों के साथ भजनादि होता है। फिर समाजी या सूत्रधार लीला की प्रस्तावना करता है। पहले राधाकृष्ण की आरती और प्रार्थना होती है, फिर मंगलाचरश के उपरान्त लीला प्रारम्भ पर सखी (गोपी) कृष्ण से रास या लीला के समैया (समय) की सूचना देकर उसमें सम्मिलित होने का निवेदन करती है और कृष्ण राधा जी से अनुरोध करते हैं। सभी संवाद पद्यबद्ध होते हैं, गद्य का उपयोग कम से कम होता है। कथा गतिशील करने के लिए समाजी पद्य में ही वर्णन करने का उपक्रम करते हैं। मनसुखा विनोदी विदूषक के रूप में गद्य का प्रयोग करने की छूट रखता है। बीच-बीच में गोपियों के साथ अकेले कृष्ण मंडलाकार या राधा-कृष्ण का नृत्य अनिवार्य-सा है। लीला-अभिनय में हाव-भाव प्रधान हैं जिनके प्रदर्शन में सभी पात्र प्रगल्भ होते हैं। अंत में सरूपों की आरती के बाद मांगलिक कामना-स्वरूप पद या गीत के साथ पटाक्षेप होता है।

किसी विशिष्ट लीला के बीच कथा-विस्तार के लिए कभी-कभी कुछ छोटे-छोटे रुचिकर प्रसंग संयोजित कर दिये जाते हैं। गोदोहन का एक प्रसंग प्रस्तुत है—

गोपी—हमारे मनमोहन प्यारे, चलौ लगाउन गैया।
चलौ-चलौ हे कुँवर कन्हाई, कबसैं तुमें बुलाउन आई,
देखौ तरसत घरै लवाई, दिना दसक को ब्यानी गैया।
तने ऐन हुमकत बा ठाँड़ी, दूजो को है हाँत धरैया ॥ हमारे० ॥
कृष्ण—तुमरे घरै न जैबी ग्वालिन, तुम हौ चंट चमकनूँ जालिन,
झूँटो रच-रच देव उरानौ, घर खिसयाबे मैया ॥ हमारे० ॥
गोपी—ऊसई तुम हो कारे-कारे, मूड़ें-कांधे कम्मर डारे,
तनक-मनक हौ तुम बिचकैया, कछुक बिचकनूँ गैया ॥ हमारे० ॥

कृष्ण-विषयक 'रहस' के समान रामरसिक भक्तों ने राम-विषयक 'रहस' की रचनाएँ की हैं। ये 'रहस' बुन्देली प्रदेश में 'महूली' भक्ति-भावना के अंकुर हैं और इनका अभिनय राजमहल के अंतःपुर या क्रीड़ा-उद्यानों में किया जाता था। १८वीं शती में रामरसिक भक्ति के उत्कर्ष-काल में इन 'रहसों' का मंचन कृष्ण-विषयक 'रहस' के अनुसरण पर शुरू हुआ जो बीसवीं शती के तीसरे दशक तक चलता रहा। इन रहसों की तकनीक रासलीलाओं की तरह ही है, अंतर इतना है कि ये राजसी सज्जा और शिष्टाचार से बँधे हैं, इसलिए इनमें सहजता का अभाव-सा है। दूसरे, लोक में राम-सीता की परिकल्पना मर्यादा की धुरी पर घूमती रही है, इस वजह से उनका मंच सीमित ही रहा, लोक में व्यापक और प्रिय नहीं हो सका।

रामलीला-परम्परा

बुन्देलखण्ड में रामभक्ति का विकास ईसा की तीसरी-चौथी शती में हो चुका था और उसका प्रमुख केन्द्र था चित्रकूट। चित्रकूट के आस-पास बसे राउत कलाप्रिय थे और लोकनाट्यों के अभिनय में रुचि लेते थे। कालपी में उत्तरभारत का बहुख्यात रंगमंच था और कालपी के सूर्यमंदिर में भवभूति के प्रसिद्ध नाटक 'उत्तर रामचरित' का मंचन हुआ था। इन अनेक उल्लेखों से स्पष्ट है कि इस प्रदेश में लोकनाट्यों के प्रति काफी लगाव था। स्वयं तुलसी चित्रकूट-प्रसंग में स्वाँग का उल्लेख करते हैं जिससे जाहिर है कि वे लोकनाट्यों के प्रति सचेत अवश्य थे।

रामचरित को स्वयं तुलसी ने लीला कहा है और रामचरित का लीला-रूप भले ही रासलीला से भिन्न रहा हो, उसके समानान्तर चलता रहा है। वह अभिनय-प्रधान था, इसलिए यहाँ के लोकनाट्य स्वाँग से मेल खाने के कारण उसी से निःसृत हुआ था, जबकि रासलीला नृत्यप्रधान है और वह रास का ही विकास-रूप था। यह बात अलग है कि 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता के कारण रामलीला का पूर्व नाट्यरूप उससे जुड़कर एक नवीन स्वरूप पा गया। इस प्रदेश में जहाँ कथा की बुनावट अधिकतर 'मानस' के आधार पर है, वहाँ संवादों में 'मानस', 'रामचंद्रिका', 'राधेश्याम रामायण' आदि ग्रंथों के अंशों के अलावा क्षेत्रीय कवियों के चुने हुए छंद हैं।

रासलीला की तरह रामलीला का मंच खुला चबूतरा, मंदिर का प्रांगण और गाँव की चौपाल होता है, लेकिन पर्सियन मंच के प्रभाव से अब उसमें विविध परदेदार सज्जा एवं चमत्कार सम्मिलित हो गये हैं। कथा का गायन समाजी किया करते थे और अधिकतर उसी परम्परा का निर्वाह हो रहा है, फिर भी कहीं-कहीं उन्हें छोड़ दिया गया है। पात्रों की वेशभूषा और सज्जा उनके चरित के अनुरूप होती है। रावण, मेघनाद, हनुमान्, जामवंत, सुग्रीव आदि पात्रों में मुखौटों

का प्रयोग होता है और राम की तरफ के वानर लाल तथा राक्षस काली पोशाक धारण करते हैं। मतलब यह है कि कुछ सज्जा प्रतीकात्मक है और कुछ व्यक्तित्व के अनुकूल। संवाद ज्यादातर पद्य-बद्ध और लयात्मक रहते हैं, पर गद्य का प्रयोग कम नहीं है। संगीत से जुड़ाव होने पर भी अभिनय का तत्त्व प्रमुख स्थान पाता है। पर्सियन नाट्य-शैली से प्रभावित होने पर गीतों और नृत्यों का समावेश भी होता गया, लेकिन वर्तमान में नाटकीयता पर अधिक जोर देने से कहीं-कहीं रामलीला परिनिष्ठित नाटक के रूप में बदल गई है।

अब रामलीला का रंगरूप तीन तरह का हो गया है—(१) ग्रामीण रामलीला, जो आज भी लोकनाट्य की जमीन को अच्छी तरह पकड़े हुए है और जिसमें आंचलिक रंग निखरा हुआ है। उसके पात्र जितने लोकसहज हैं, उतने ही उनके संवाद। उनके राम और उनका परिवेश जितना मानस के राम से बँधा है, उतना ही लोक के राम की तरह स्वच्छन्द है। गाँव का कवि भी उसमें भागीदार है और मसखरा भी। गीतों में बुन्देली गारियाँ तक गायी जाती हैं, राम-विवाह के दिन विवाह का पूरा लोकोत्सव मनाने की परम्परा-सी बन गई है। धनुष-यज्ञ की लीला में पेटू राजा की कल्पना स्थानीयता का सुफल है और उसकी यथार्थपरक उक्तियों में लोक-जीवन की वास्तविकता झलकती है। ऐसे प्रसंगों की उद्‌भावना भी हुई है जो लोकजीवन के दृश्यखण्डों को खड़ाकर यथार्थ का दर्शन कराते हैं। वस्तुतः इस लोकनाट्य में लोक-कलाकारों ने आदर्श की स्थिरता के बीच यथार्थ की रसमयी धारा बहाकर 'मानस' की कथा को लोक के ढाँचे में ढालकर उसे नयी गति दी है। उनके इस प्रयत्न में रामलीला फिर कुछ स्वाँगों से जुड़ गई है। पेटू राजा और कुन्जरा-कुन्जरियन जैसे स्वाँग बीच-बीच में गुम्फित कर दिये गए हैं। इससे स्पष्ट है कि रामचरित पर आधारित स्वाँगों से रामलीला की अभिनेयता और 'रास' से प्रेरित उसकी संगीत-नृत्यपरकता विकसित हुई है तथा दोनों के समन्वय से उसका एक विशिष्ट लीला-नाट्य-रूप बना है। (२) नागर रामलीला, जो नगर की नाट्य-चेतना से सम्बद्ध रही है और जिसमें नागर लोकरुचि के अनुसार परिवर्तन हुए हैं। कहीं-कहीं पर्सियन नाट्य-शैली का प्रभाव है, तो कहीं फिल्म की संगीत-शैली का। बड़े नगरों में सचेतन कलाकारों के द्वारा काफी कतर-ब्योंत की गयी है और उसके कलात्मक या नाटकीय स्वरूप को ही प्रदर्शन के लिए स्थिर किया गया है अथवा लोकचेतना के नवीन प्रत्यावर्तन से संप्रेरित होकर रामलीला को लोकनाट्य के रूप में पुनर्प्रतिष्ठित करने की कोशिश में नये प्रयोग हो रहे हैं। (३) कस्बाई रामलीला, जिसमें उपर्युक्त दोनों नाट्यरूपों का समन्वय मिलता है। उसमें चमत्कारी दृश्य-योजना से लोक को बाँधने का प्रयत्न रहता है, जैसे तार द्वारा हनुमान जी का आकाश में उड़ना या मृत मेघनाथ के हाथ का सती सुलोचना के पास गिरकर पत्र लिखना। कुछ ऐसे खोजपूर्ण प्रसंग परम्परित कथा के साथ जोड़ना, जो दर्शकों में उत्सुकता पैदा करें; कुछ आंचलिक स्वाँगों को बीच में गूँथना, जो मनो-विनोद से प्रफुल्लित करें; और फिल्मी धुनों पर भक्तिपरक या प्रसंगोचित गीतों का गायन करवाना, जो युवकों को आकर्षित करें। इस तरह ये लीला-नाट्य के नये पहलू हैं। साज-सज्जा, पात्रों का शृंगार, परदों की विविधता, रंगीन प्रकाश आदि अभिनय की लापरवाही ढँकने के लिए प्रभावी माध्यम बन गये हैं।

ग्रामीण और कस्बाई रामलीलाओं में गंगा पार उतरना, केवट-लीला, भरत-मिलाप आदि कुछ प्रसंग मंच से बाहर नदी या सरोवर तट, किसी विशिष्ट मैदान या स्थल, जैसे प्राकृतिक परिवेश में खेले जाते हैं जिससे लोकहृदय स्वाभाविकता के रंग से रंजित हो जाता है। दूसरी विशेषता यह है कि नारी पात्रों का अभिनय सुन्दर किशोर इतनी सफलतापूर्वक करते हैं कि उनके

पाठ से उन्हें पुरुष कहना कठिन है। तीसरे, रामलीला में रामचरित के अनुरूप मर्यादोचित गम्भीरता आज पोषित है। चौथे, ग्रामीण रामलीला में पात्रों की वेशभूषा सहज उपलब्ध और शृंगार स्थानीय पदार्थों, जैसे रोली, मुर्दाशंख, खड़िया, गेरू, चंदन आदि से सुशोभित स्वाभाविक प्रतीत होता है, पर कस्बों और नगरों में प्रसाधन के उपकरण काफी बढ़ गये हैं और स्वाभाविकता की खोज में कृत्रिमता आगे आ गई है। इसी तरह भभके, मशालों की जगह गैस बत्तियाँ और फिर बिजली के विविध उपकरणों का विकास-क्रम है। इस तरह कहीं विकास की स्थिति है, तो कहीं गिरावट की। चिन्ता का विषय यह है कि सांस्कृतिक चेतना का प्रतीक सहज स्वाभाविक लोकनाट्य अब बनावटी बुनावट के फंदों में फँसता जा रहा है और लोकनाट्य में नवीन प्रयोगों की पक्षधरता के हाथ में न वह लोकनाट्य रह गया है और न नाटक ही। व्यावसायिक मंडलियों ने तो प्रतियोगी भाव के कारण कुछ ऐसे अस्वाभाविक चमत्कारपूर्ण दृश्य, प्रसंग और नाटकीय मोड़ अपनाये हैं कि लोकनाट्य का असली स्वरूप आहत हुआ है। इसके बावजूद आज रामलीला के सही रूप को परखने और उसे प्रस्थापित करने की जागरूकता से आशा की किरण फूटती दिखाई पड़ रही है।

भँड़ैती-परम्परा

बुन्देली प्रदेश में भाँड़ों के लोकनाट्य को भँड़ैती या कहीं-कहीं नकल कहते हैं। उसका प्रचलन प्राचीन है, क्योंकि उसकी लोकधर्मी परम्परा ही नाट्यशास्त्र में वर्णित 'भाण' उपरूपक के रूप में स्थान पा सकी। वस्तुतः 'भाण' लोकनाट्य भँड़ैती का ही शास्त्रीय रूप था और 'भाण' का यह परिनिष्ठित रूप ही आगे चलकर भँड़ैती-परम्परा में और भी विकसित हुआ है। आदिकाल में 'स्वाँग' उत्कर्ष पर रहा, पर चन्देल-नरेश कीर्तिवर्मनदेव-कालीन (१०६०-११०० ई०) श्रीकृष्ण मिश्र का नाटक प्रबोध चन्द्रोदय और परमर्दिदेव-कालीन (११६५-१२०३ ई०) वत्सराज-कृत कर्पूरचरित भाण से स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि भँड़ैती का अस्तित्व था। दिल्ली सल्तनत के समय दरबारों में भाँड़ों का महत्त्व बढ़ गया था, इसी वजह से मध्ययुगीन बुन्देलखण्ड में भी भँड़ैती का विकास हुआ, क्योंकि मुगल बादशाहों के दरबारी रिवाज बुन्देले राजाओं ने भी अपनाए थे। तुलसीकृत 'दोहावली' की पंक्ति 'चोर चतुर बटपार नट, प्रभुप्रिय भँडुआ भंड' में भंड या भाँड़ को स्वामी का प्रिय बताया गया है। केशवकृत 'रामचन्द्रिका' में 'कहूँ भाँड़ भाँड़्यो करैं मान पावैं। कहूँ लोलिनी बेड़िनी गीत गावैं।' से पता चलता है कि भँड़ैती (भाँड़्यो) का १७वीं शती के प्रारम्भ में अधिक सम्मान था। हर राज्य या रियासत में प्रसिद्ध भाँड़ों को अनेक सुविधाएँ देकर प्रश्रय दिया जाता था। बाद में तो वे राजसी मनोविनोद के अनिवार्य अंग बन गए थे। होली, दशहरा, वर्षगाँठ, विवाह आदि विशिष्ट अवसरों पर जब दरबार लगते थे, तब महफिल में भँड़ैती का प्रदर्शन अनिवार्य-सा था। यहाँ तक कि सामंतों, रईसों के घरों में भी कलाकारों के साथ भाँड़ों को भी उचित स्थान मिलता था। रियासतों के समाप्त होने पर इस लोकनाट्य का ह्रास होता गया और अब कभी दो-चार साल में एक-दो प्रदर्शन होते हैं। प्रसिद्ध कलाकार या तो किसी संगीत, कीर्तन-मंडली में शामिल हो गए हैं या दूसरे व्यवसाय करने लगे हैं।

भँड़ैती का मंच कोई भी खुला मैदान, चबूतरा या कुछ ऊँची सतह की जगह होता है। कभी-कभी बृहत् कक्ष या सभा-भवन में भी उसे मंचित किया जाता है। उसके लिए किसी सज्जा या सामग्री की आवश्यकता नहीं है। उसके पात्र—भाँड़ भी कोई शृंगार नहीं करते। भाँड़ अपनी शिष्टता, वाक्पटुता, हाजिरजवाबी और चुटीले हास्य के लिए इतनी प्रसिद्धि रखते हैं

कि उनके अभिनय पर सामान्यतः कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगता । संगीत की लयकारी और नृत्य की गतियों तक में ऐसी प्रवीणता कि उनमें कुछ-न-कुछ ऐसी विशेषता फूटती जो हास्य की अनुभूति कराती । विदूषक और विट का समन्वित अवतरण, जिसमें कवि, नर्तक और संगीतज्ञ का हुनर हो ।

मंच पर दो या अधिक भाँड़ों के आते ही लोकनाट्य शुरू हो जाता है । एक भाँड़ आते ही कुछ कहने लगता है और उसकी बात पकड़कर दूसरा उसे आगे बढ़ाता है । इसी तरह कथा आगे बढ़ती रहती है । यद्यपि कथानक का सूत्र बहुत क्षीण और सूक्ष्म होता है, पर कथावस्तु बहुत गहरी और तीखी होती है । हास्य-विनोद के भीतर चुटीला व्यंग्य छिपा रहता है और उस प्रखर व्यंग्य-धारा में समाज, धर्म, राजनीति, शृंगार, वीरता आदि के पाखण्ड, विसंगतियाँ आदि द्वीपों की शक्लों में उभरकर आदमी के मन में जम जाते हैं । कथा केवल विवरणों और संवादों के रूप में चलती है, पर पूर्णतया सद्यःप्रसूत, कल्पित और स्वच्छन्द होती है । संवादात्मकता अभिनय की रीढ़ बनकर आती है और भाँड़ मात्र वार्तालाप का सहारा लेता है । कभी वह एकालाप (मोनोलॉग) की तरह स्वयं सबके संवाद कहता है और कभी दो या तीन भाँड़ एक-दूसरे से कथोपकथनों के द्वारा लोकनुरंजन करते हैं । कभी कथा में सरसता के लिए गीत या पद का गायन, विविध छन्दों का पाठ और लास्यांगों का उपयोग किया जाता है, तो कभी प्रश्नोत्तर शैली में अनोखी मौलिकता गूँथी होती है ।

पात्र या पात्रों का अभिनय हाव-भाव के प्रदर्शन में होता है । यह सही है कि नाटक-जैसे कार्य-व्यापार भँड़ैती में कम होते हैं, पर आंगिक और वाचिक अभिनय में उसकी समानता मुश्किल है । कभी-कभी जब भाँड़ों की इच्छा होती है या अन्तराल में अभिनय के लिए अवकाश समझ में आता है, तब भँड़ैती के बीच स्वाँग की बुनावट कर दी जाती है । इस कारण नाट्य-शैली की दुर्लभ बानगी से दर्शक अभिभूत हो जाते हैं । बहरहाल, भँड़ैती की प्रस्तुति में जितना भी अभिनय जरूरी है, वह बिना किसी रिहर्सल के लाजवाब होता है । सब कुछ अकृत्रिम और मौलिक । दतिया के नत्थू और झाँसी के बब्बू भाँड़ों की चर्चा अभी तक होती है । अगर एक भाँड़ के लड़के का विवाह दूसरे भाँड की लड़की से होता है, तो रात भर का अखाड़ा जमता है । मध्ययुग के अखाड़ों में भँड़ैती का प्रमुख स्थान रहा है । उस समय बुन्देलखण्ड में बहुत अधिक भाँड़ थे और दरबारी तथा लोक-स्तर पर भँड़ैती करने में कुशल थे । दोनों रूपों में एक दिशा थी प्रशस्ति, बधाई आदि की और दूसरी थी विनोदमूलक प्रसंग या घटना के विवरण के माध्यम से किसी विषमता, विसंगति और भेदभाव के खिलाफ सूक्ष्म, किन्तु गहरे व्यंग्य की । भाँड़ों की कला इतनी मँजी हुई थी कि चोट चाहे व्यक्ति पर हो चाहे वर्ग या जाति पर, सब विनोद के मरहम से शीतल हो जाती थी, भले ही भीतर ही भीतर लम्बे समय तक कसकती रहे । मतलब यह है कि भँड़ैती की धूर्तता, अशिष्टता और अश्लीलता के नीचे एक प्रभावी चेतना का अहसास उसे युग की सामाजिकता से जोड़ने के लिए पर्याप्त क्षमता रखता है, आधुनिक काल के सैटाइर की तरह । लेकिन आज भँड़ैती के अर्थ का अपकर्ष हो गया है और उसका प्रचलन समाप्त-सा है, फिर भी चार-पाँच वर्ष पूर्व देखा, झाँसी के भाँड़ों का प्रदर्शन लोक-हृदय को इतना प्रभावित करने वाला साबित हुआ कि आज की सामाजिक संरचना के लिए वह अनिवार्य-सा लगता है ।

काँड़रा-परम्परा

काँड़रा राई की तरह मूलतः नृत्य ही है, लेकिन भक्तिकाल के दौरान १६वीं शती के उत्तरार्द्ध और १७वीं शती के पूर्वार्द्ध में जब रासलीला को उत्कर्ष मिला, तब उसकी प्रतिक्रिया में

निर्गुण ब्रह्म के भक्तों ने कांड़रा नृत्य का विकास किया। उसमें निर्गुनिया भजन गाता हुआ नर्तक नृत्य करता है और अपने गीत के अनुरूप हावों-भावों का प्रदर्शन भी करता है। कांड़रा के इस रूप में संवादात्मकता का प्रवेश तब हुआ जब निर्गुण-सगुण मतों के बीच विवाद-जैसी स्थिति बनी। साथ ही एक ही कलाकार द्वारा लम्बे समय तक गाने और नृत्य करने से उत्पन्न थकान और ऊब के कारण भी उसमें किसी प्रसंग, घटना, विनोद और कथा को गूँथना जरूरी समझा गया। फलस्वरूप उसमें पहले गीतिबद्ध संवाद, फिर गीतिबद्ध कथा या स्वाँग आए और वह नृत्यपरक लोकनाट्य में परिवर्तित हो गया। वस्तुतः १७वीं शती के उत्तरार्द्ध में ही रासलीला-जैसी संवादशैली बन गई, किन्तु कथारहित होने के कारण लोकप्रिय न हो सकी। १८वीं शती में जैसे ही भोगविलासपरक संस्कृति का रुतबा बढ़ा और लोक उससे चमत्कृत हुआ, वैसे ही उसमें प्रेमपरक कथागीत या विनोद और शृंगार-परक स्वाँग गुम्फित हो गए।

कांड़रा का मंच खुला मैदान, चबूतरा, मंदिर का प्रांगण, चौपाल आदि होते थे, किन्तु अब सज्जित और पर्देदार मंच का उपयोग हो रहा है। मंच के पृष्ठ के करीब वादक मृदंग, कसावरी, मंजीरा और झींका पर संगति करते खड़े रहते हैं, जबकि नर्तक सारंगी-वादन करता किसी निर्गुनिये गीत से मंगलाचरण प्रारम्भ करता है। वादक वेशभूषा पर ध्यान नहीं देते, लेकिन नर्तक जो कांड़रा नाम से प्रसिद्ध रहता है, सराई पर रंग-विरंगा जामा (बुन्देली में झामा) पहनता है और सिर पर कलँगीदार पगड़ी बाँधता है। जामा पर रंगीन या सफ़ेद कुर्ती। कुल मिलाकर उसकी सज्जा रासलीला के कृष्ण की तरह होती है और ऐसा प्रतीत होता है कि कान्ह से कान्हड़ा या कान्हरा और फिर कांड़रा हुआ है। कांड़रा अपने नृत्य में अधिकतर फिरकी की मुद्रा में वैसा ही घूमता है, जैसे कृष्ण एक खास नृत्यमुद्रा में चक्राकार परिधि बनाते हैं। नृत्य की शर्तों के अनुरूप जामा तरंगायित होता रहता है और नर्तक अपनी विविध भावमुद्राओं से गीत के कथ्य को अभिनेय बनाता गत्यात्मक चित्र उपस्थित करता है, उसमें जामा की लहरदार थिरकन एक अनोखा योग देती है। कभी-कभी दो-चार गीतों का जब एक सिलसिला चलता है, तब नृत्य-कला के हुनर प्रदर्शित होते हैं, खास तौर से दो या तीन दलों की प्रतियोगिता में। जो दल विजयी होता है, दूसरे की कलँगी छीन लेता है। यह परम्परा मध्ययुग की फड़बाजी की देन है। धोबी जाति के कुछ बुजुर्गों का कथन है कि कलँगी तो धोबियों को दी गयी थी। अगर कोई दूसरी जाति का लगता है, तो धोबी कलाकार उसे परास्त कर कलँगीविहीन कर देता है।

निर्गुनिया गीतों के बाद प्रेमपरक गीतनाट्य शुरू होता है जिसमें कथा के अनुसार स्त्री-पुरुष पात्र अभिनय करते हैं। कभी स्त्री नहीं तो पुरुष ही स्त्री का पाठ करते हैं। उनके शृंगार के लिए मुर्दाशंखादि सहज उपलब्ध सामग्री का उपयोग किया जाता है। एक साक्ष्य के अनुसार ढोला-मारू, सारंगा-सदाबिरछ जैसे आख्यान रात-रात भर चला करते थे जिनमें गीतों के माध्यम से ही कथा कही जाती थी। हर पात्र नृत्य करते हुए कथा को आगे बढ़ाता था। इस कारण अभिनय अधिकतर आंगिक और वाचिक होता था और संवादों में भी हावों-भावों के प्रदर्शन से अभिव्यक्ति प्रभावी बनती थी। मतलब यह है कि नृत्य, संगीत और अभिनय की त्रिवेणी का बहाव कथापरक गीत की गति से बँधा हुआ संयमित रहता है। यदि स्वाँग को बीच में संयोजित किया जाता है, तो अभिनय अधिक मुखर हो जाता है, लेकिन वह विष्कंभक-जैसा बुना हुआ भी कथा अथवा गीतधारा के बीच मुख्य वस्तु से विलग रहता है। फिर भी श्रोताओं की थकान को तोड़ने के लिए एक सशक्त माध्यम ठहरता है। अभी जमींदारी खत्म होने के पहले हर गाँव में कांड़रा हुआ करता था, लेकिन उसके बाद विवाहोत्सव में ही कभी-कभी उसका प्रदर्शन यदा-कदा

दिखाई पड़ता है। बुन्देली लोकमंच का यह लाड़ला नृत्यनाट्य सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हो सकता है, शर्त यह है कि पुराने कलाकारों को सम्यक् प्रोत्साहन मिले।

नौटंकी-परम्परा

बुन्देलखण्ड में नौटंकी या संगीत की धारा हाथरस से आई और इस संचरण का मुख्य कारण था—लोककाव्य आल्हा। आल्हा की कथावस्तु के आधार पर वासम जी के शिष्य मुरलीधर राय ने चार खण्डों में 'आल्हखण्ड' लिखकर हाथरस में मंचित किया था। उनके बाद गोविन्दराम (गोविन्द 'चमन') ने जो प्रसिद्ध सांगीतकार नथाराम के गुरु थे, आल्हा-सम्बन्धी छह सांगीत रचे—(१) ऊदल का ब्याह (दो भागों में), (२) मलखान का ब्याह, (३) धाँधू का ब्याह, (४) ऊदल-हरण, (५) सुरजावती का झूला और (६) लाखन का ब्याह या कामरू की लड़ाई। मतलब यह है कि हाथरसी सांग-परम्परा के प्रारम्भ में आल्हा लोककाव्य की प्रेरणा प्रमुख थी और यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हाथरस के प्रारम्भिक सांगकारों ने अपनी कथावस्तु कहाँ से ग्रहण की। इसका सीधा उत्तर यही है कि हाथरस के सांगकार आल्हा गायकी से प्रभावित थे और आल्हा-गायन के लिए वे बुन्देलखण्ड के ऋणी रहे। राठ (जिला हमीरपुर, उ० प्र०) के समीप बसेला ग्रामवासी श्री मलखान भट्ट (आयु ६० वर्ष) ने एक भेंट में बताया कि उनके पूर्वज 'सांगीत आल्हा' गाते थे जो कि नथाराम गौड़, हाथरस का था। इससे पता चलता है कि बीसवीं शती के पहले या दूसरे दशक में हाथरस की सांग-परम्परा बुन्देलखण्ड में प्रचलित हुई।

इस प्रदेश में नौटंकी के प्रचलन का दूसरा आधार है—लावनी या ख्याल गायकी। लावनी के तुर्रा और कलंगी के अखाड़ों का जन्म बुन्देलखण्ड में हुआ था। इसका प्रचार-प्रसार पूरे बुन्देली प्रदेश में था और प्राचीन कथाओं पर आधारित लम्बे ख्याल यहाँ प्रचलित रहे, किन्तु ख्यालों से प्रस्फुटित लोकनाट्य का कोई प्रामाणिक साक्ष्य अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। इतना आवश्यक है कि ख्यालों के दंगल बहुत पुराने हैं और उनकी परम्परा आज तक जीवित है। उनमें वाचिक अभिनय का प्रदर्शन आज तक लोक के आकर्षण का केन्द्र है। डॉ० महेन्द्र भानावत का कथन है कि राजस्थान में ख्याल-परम्परा आगरा और मालवा से पहुँची तथा श्री रामनारायण अग्रवाल का मत है कि राजस्थान की तुर्रा-कलँगी-परम्परा ब्रजक्षेत्र की ही देन है। जबकि दोनों विद्वान् यह तथ्य स्वीकारते हैं कि इस परम्परा का उद्भव चन्देरी में हुआ था और राजदरबार में राजा के समक्ष दंगल हुआ था। चन्देरी बुन्देलखण्ड की समृद्ध रियासत और गायकी का गढ़ रही है। वहीं के बैजू बावरा ने ध्रुवपद गायकी से देसी संगीत के आंदोलन की अगुवाई की थी। अतएव तुर्रा-कलँगी की परम्परा बुन्देलखण्ड की देन है और बुन्देलखण्ड के चन्देरी से ही ग्वालियर तथा ग्वालियर से धौलपुर, भरतपुर, आगरा एवं ब्रजक्षेत्र में गई थी। हाथरस भी इसी भूमिका का ऋणी है।

उपर्युक्त दोनों तथ्यों से सिद्ध है कि बुन्देलखण्ड और हाथरस के रिश्ते काफी घनिष्ठ रहे हैं, इसलिए सांगीत की हाथरस-परम्परा बुन्देली प्रदेश में २०वीं शती के शुरू में आकर विकास पा गई और आज तक नथाराम गौड़ के सांगीत अधिकतर मंचित होते हैं। वैसे कानपुर की नौटंकी एक नयी शैली में १९१० ई० से प्रचलित हुई थी और श्रीकृष्ण पहलवान ने उसे नया स्वरूप दिया था। पारसी रंगमंच के प्रभाव से उसमें सहायक या प्रासंगिक कथा, पर्दे, गद्यमय कथोपकथन और रंगीन दृश्यात्मकता समाविष्ट हुए। बुन्देलखण्ड में झाँसी के महाराज गंगाधर

राव ने १८५७ ई० के पूर्व एक रंगशाला निर्मित करवाई थी जिसने यहाँ की नाट्यचेतना को पुनर्जीवित किया था। यही कारण है कि झाँसी सांगीत और नौटंकी का मुख्य केन्द्र बना। श्रीकृष्ण पहलवान के साक्षात्कारों से मालूम होता है कि सनेही और रसिकेन्द्र जी जैसे साहित्यकार और गणेशशंकर जैसे राजनीतिक नौटंकी में रुचि रखते थे। रसिकेन्द्र जी तो कालपी (बुंदेली प्रदेश) के थे जिन्होंने नौटंकी के प्रारम्भ में कोरस (समूहगीत) की संयोजना का सुझाव दिया था। कानपुर नौटंकी में दूसरा परिवर्तन किया त्रिमोहनलाल ने, जिससे १९३३-३४ ई० में नारी पात्रों का अभिनय मध्यम स्तर की गायक वेश्याएँ करने लगीं और पुरुषों को राहत मिली। लेकिन उससे नौटंकी का स्तर गिरता गया, क्योंकि तड़क-भड़क के साथ हल्के और अश्लील गीत ही गाये जाने लगे। बाद में तो फिल्मी धुनों और कामोत्तेजक अभिनय की नौबत आ गई। इस जनपद में १९२७ ई० के लगभग चरखारी में रायल ड्रामैटिक सोसायटी की स्थापना हुई थी जिसका श्रेय चरखरी-नरेश अरिमर्दन सिंह और प्रसिद्ध नाटककार आगा हस्र को है। यह कम्पनी पूरी तरह पारसी रंगमंच को समर्पित थी। अतएव उसका प्रभाव बाद की नौटंकी पर हुआ। इस प्रकार हाथरस और कानपुर शैलियाँ यहाँ के विभिन्न क्षेत्रों पर छायी रहीं।

बुंदेली क्षेत्र में नौटंकी की विधा के तहत कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुए, केवल गीत, नृत्य, भाषा और नारी पात्र में यहाँ की लोकरुचि के अनुसार अथवा परिस्थितिवश कुछ नवीनताओं का समावेश किया गया। पहली बात यह थी कि लोक को आकृष्ट करने के लिए विभिन्न मंडलियों ने नौटंकी के बीच लोकछंद और लोकगीत सजा दिए जिससे लोकसंगीत भी प्रविष्टि पा गया। दतिया में 'गोरी मउआ बीनन जा, मउआ मदन रस भरे रस चू-चू जाय' जैसी पंक्तियाँ गूँजती रहीं। दूसरे ठुमरी, लेद, दादरा, टप्पा आदि की गायकी भी महत्त्व पा गयी। तीसरे नौटंकी के बीच रावला, स्वाँग आदि बुन दिये गए और चौथे, कथोपकथनों में केवल बुन्देली स्वर या रंग ही नहीं चढ़ा, वरन् स्थानीय भाषा को स्थान दिया गया। पुराने कथोपकथनों में बदलाव आया और कुछ बुद्धिसम्पन्न निर्देशकों या लापरवाह कलाकारों ने स्थानीय रुचि समझकर नये संवाद जानबूझकर या विस्मृतिवश गढ़ लिये। पाँचवें, वेश्याओं के स्थान पर कम वेतन या शुल्क स्वीकारने वाली बेड़िनी नारी पात्र बन गईं, जिससे आंचलिक रंग अधिक गहरा हो गया। अभी कुछ बेड़िनी कलाकारों से साक्षात्कार करने पर यह स्पष्ट हुआ कि वे कभी-कभी बुन्देली गद्य में कथोपकथन करती हैं और उनका मत है कि 'जैसी जगह वैसी भाषा'। गाँवों में तो बुन्देली ही चलती है और नगरों में लोकगीत, लोकनृत्य और स्वाँग पसंद करते हैं।

अभी कुछ वर्षों पूर्व कुछ साहित्यकारों ने नौटंकी-रचना में अच्छे प्रयत्न किए हैं जिनमें विजयबहादुर श्रीवास्तव, भैयालाल व्यास और स्वामीप्रसाद श्रीवास्तव उल्लेखनीय हैं। बुन्देली में नौटंकी लिखने की परम्परा नयी है, पर लेखकों को नौटंकी की लोकप्रवृत्ति के अनुरूप प्रचलित लोकभाषा को ही अपनाना आवश्यक है, क्योंकि गढ़ी हुई या अनूदित भाषा बनावटी होगी और लोकसंवेदना से बिछुड़ी रहेगी।

लोकनाट्य अपनी वस्तु और शैली में निश्चित दाय लिये हुए भी गतिशील रहे हैं, अतएव उनके विकास को स्थिर पारम्परिक प्रतिमानों से तौलना उचित नहीं है। दूसरे, ये लोकनाट्य अपने समय की लोकचेतना से सदैव जुड़े रहे हैं, इसलिए उनका मूल्यांकन उसी कालावधि के लोकमूल्यों से सम्भव है, चाहे वे लोकमूल्य लोकनाट्य-संबंधी हों या लोकजीवन के। तीसरे, लोकनाट्य को या तो पश्चिमी चश्मे से आदिम अथवा पारम्परिक (परम्पराशील नहीं)

समझा जा रहा है या नागर (नगर के) दर्शकों के बीच मनबहलाव के साधन अथवा कुशल रंगकारों, निर्देशकों और रंगकर्मियों द्वारा नयापन लाने का हथियार, जबकि वे अपनी स्थानीय, जातीय एवं सामयिक चेतना के सहज प्रस्फुटन हैं।

बुन्देली क्षेत्र का विशिष्ट लोकनाट्य स्वाँग है जो सबसे प्राचीन होता हुआ भी नित नवीन रहा है। वह रहस, रामलीला, राई, काँड़रा, भँड़ैती और नौटंकी सभी में जुड़ता हुआ अपना योगदान करता रहा है। उसकी वस्तु और शैली में अजीब लोच है जिससे वह हर जाति, हर सांस्कृतिक समवाय (पैटर्न), हर वर्ग और हर संप्रदाय के करीब बना रहा। उसमें यथार्थ और आदर्श का समन्वय है, स्थानीयता के साथ सार्वभौमिकता है तथा समकालीन होने के साथ सार्वकालिक व्याप्ति है।

लोकनाट्यों की परम्परा के अनुशीलन से साफ जाहिर है कि लोकनाट्य किसी खास सीमा में बँधने पर भी संचरणशील रहा है। उसने किसी भी अन्य जनपद में जाने के लिए कोई संकोच नहीं किया। इस वजह से सुदूर जनपदों और बुन्देली जनपद के लोकनाट्यों में अनेक समानताएँ मिलती हैं। उसकी जातीय चेतना में भी कुछ ऐसे विशिष्ट बिन्दु हैं जो सभी जनपदों के लोकनाट्यों में जुड़ाव रखते हैं और विविधता में एकता के तथ्य को प्रमाणित करते हैं। बुन्देली क्षेत्र इतना विशाल है कि उसके एक तरह के लोकनाट्य में भी विविधता आ गई है, किन्तु स्वरूपगत भिन्नताओं के बावजूद वह समग्रतः एक इकाई है। इसी प्रकार देश के सभी लोकनाट्यों में भीतरी या आत्मगत एकता स्वयंसिद्ध है।

●

नाटकों में द्वन्द्व

•

डॉ० पुष्पलता वर्मा

'द्वन्द्व' अंग्रेजी शब्द 'कॉन्फ्लिक्ट' का हिन्दी रूपान्तर है। इसका सामान्य अर्थ है संघर्ष अथवा टकराव। 'द्वन्द्व' शब्द अत्यन्त व्यापक है। दर्शन के अन्तर्गत उल्लिखित द्वैतवाद, सांख्यमत शैव दर्शन आदि में भी द्वन्द्व की अभिव्यक्ति हुई है। पश्चिमी चिन्तकों में मार्क्स, हीगल, कांट आदि विचारकों ने भौतिक सन्दर्भ में द्वन्द्व का उल्लेख किया है। मार्क्स के चिन्तन की अभिव्यक्ति द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के रूप में हुई है।

द्वन्द्व सामान्यतया दो विरोधी विचारों के मध्य संघटित होता है। किन्तु हीगल के अनुसार सद् और सद् अथवा असद् और असद् के माध्यम से भी उजागर होता है। इस प्रकार का द्वन्द्व स्पर्धात्मक वैचारिकता के द्वारा सम्भव है।

महान दार्शनिक प्लेटो ने द्वन्द्ववाद का एक विलक्षण अर्थ किया है। प्लेटो दार्शनिक दृष्टि से प्रत्ययवादी या समन्वयवादी था। समस्त प्राकृतिक और कृत्रिम वस्तुओं में अन्तःवर्तमान सामान्यों की उसने स्थापना की है। सामान्य का, जिसे अंग्रेजी में 'कॉन्सेप्ट' कहते हैं और जिसे यूनानी भाषा में 'आयडीस' कहते हैं, शास्त्रीय विवेचन ही प्लेटो के मत में डायलेक्टिक है। सामान्यों की अन्तःसम्बद्धता का विवेचन ही परम ज्ञान है और यही डायलेक्टिक है।

मनुष्य असनी मौलिक विशेषताओं के कारण अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ प्राणी है। इन्हीं विशेषताओं के बल पर मनुष्य आदिकाल से प्राप्य को पाने तथा अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए परिस्थितियों से संघर्ष कर रहा है। प्रकृति ने मनुष्य को संवेदनशक्ति, इच्छाशक्ति, विचारशक्ति, कल्पनाशक्ति, कर्मशक्ति और रचनाशक्ति की मूल्यवान् देन दी है। परन्तु मनुष्य का जीवन बड़ा टेढ़ा, उलझा हुआ, आपत्तियों से घिरा हुआ, विषम परिस्थितियों से भरा हुआ है।

अनेक मनोविज्ञानवेत्ताओं ने इस विषय पर सप्रमाण प्रकाश डाला है कि मनुष्य को जीने के लिए परिस्थिति से किस प्रकार का व्यवहार करना पड़ता है। इस व्यवहार में संघर्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखकर ही मनोविज्ञानवेत्ता जे० पी० गिलफोर्ड ने कहा है—"संघर्ष से कोई मुक्त नहीं है।"

उद्देश्ययुक्त क्रिया मनुष्य को संघर्ष में प्रवृत्त करती है। भूखा मनुष्य अनुभव करता है कि यदि उसे जीवित रहना है तो भूख को मिटाना अत्यावश्यक है। वह यह भी अनुभव करता है कि भूख मिटाने के लिए कुछ खाने की आवश्यकता है। इस आवश्यकता से भूखे मनुष्य में कुछ पाने की इच्छा उत्पन्न होती है। इस इच्छा को लेकर मनुष्य सोचने-विचारने तथा कल्पना करने लगता है। इसके पश्चात् वह एक निर्णय कर लेता है और प्राप्य को पाने के लिए कार्य आरम्भ कर देता है। यदि इस कार्य में प्रकृति अथवा जीव या जीव-समूह के द्वारा बाधा के रूप में

प्रतिकूल परिस्थिति का निर्माण किया गया, तो असन्तोष के कारण भूखा मनुष्य प्राप्य को पाने के हेतु प्रतिबन्ध-रूपी परिस्थिति से संघर्ष करता है।

नाटक के सन्दर्भ में विचार करते हुए द्वन्द्व की स्थिति को डॉ० रामकुमार वर्मा ने नियमत: स्वीकृति दी है। उनके मतानुसार "नाटक का प्राण उसके संघर्ष में पोषित होता है। यह संघर्ष जितना अधिक नाटककार की विवेचन-शक्ति में होगा, उतना ही जिज्ञासामय उसका नाटक होगा। अतः नाटककार ऐसी स्थितियों की खोज में रहता है जिसमें उसे विरोध की तेजस्वी शक्तियाँ मिलती हैं।"

संस्कृत नाटकों में वस्तु एवं पात्र विशेष रूढ़ियों में अथवा नियमों से आबद्ध थे। इस कारण उनमें संघर्ष के लिए विशेष स्थान नहीं था। उनमें संघर्ष की स्थिति नाटक के एक विशेष स्थल तक ही रहती थी। संस्कृत आचार्यों ने नाट्य-विवेचन के अन्तर्गत संघर्ष पर प्रथम रूप में विचार नहीं किया है। किन्तु पाश्चात्य नाटककारों के प्रभावस्वरूप आधुनिक हिन्दी नाटककार इसे कथावस्तु का अनिवार्य अंग मानते हैं।

संघर्ष के विषय में एक सामान्य शंका यह हो सकती है कि नाटक में आद्यन्त संघर्ष का निर्वाह अपेक्षित है अथवा किसी निश्चित सीमा तक उसकी स्थिति संगत है। इस विषय में डॉ० रामकुमार वर्मा की धारणा है कि आधुनिक नाटक में संघर्ष की सार्वत्रिक स्थिति काम्य है तथा संघर्ष की चरम परिणति चरम सीमा में होनी चाहिए। भारतीय नाटकों में संघर्ष की स्थिति का विश्लेषण करते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि उनमें संघर्ष की स्थिति एक निश्चित सीमा तक रहती थी, इसके उपरान्त घटनाएँ सिमटकर सुखद अन्त में परिणति पाती थीं। इसीलिए इसमें चरम सीमा के लिए अवकाश नहीं था। इसके विपरीत आधुनिक नाटक केवल सुखान्त नहीं होते। फलतः उनमें संघर्ष की स्थिति सहज सम्भाव्य है—

द्वन्द्व सामान्यतया दो रूपों में उपलब्ध होता है—

(१) अन्तर्द्वन्द्व के रूप में।

(२) बहिर्द्वन्द्व के रूप में।

नाटक के लिए अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व दोनों अनिवार्य हैं।

मनुष्य के हृदय में उठने वाले विचारों के टकराव को अन्तर्द्वन्द्व कहते हैं। अन्तःकरण के भीतर जब कई भावनाएँ या विचार समन्वय का रूप ग्रहण नहीं कर पाते तो मानसिक स्थिति निश्चयात्मक नहीं होती। अनिश्चय की इस स्थिति में विचार तथा भावनाओं में संघर्ष नवीन नहीं, पारस्परिक एवं प्राकृतिक है। संकल्प-विकल्प की इस स्थिति पर विवेक तथा संयम से ही विजय प्राप्त की जा सकती है। नाटक में यदि इस संघर्ष या द्वन्द्व का चित्रण प्राकृतिक रूप में किया गया, तब तो ठीक; अन्यथा नाटक निकृष्ट कोटि में रख लिया जाता है। उत्तम कोटि के नाटककार निरन्तर सत् और असत्, धर्म और अधर्म, हित और अहित, भौतिकता और आध्यात्मिकता, पुण्य और पाप, अनुरक्ति और विरक्ति, भोग और त्याग, कर्तव्य और अकर्तव्य का संघर्ष अपने नाटक में उपस्थित करके आदर्श का प्रतिपादन करते हैं। इन विचारों तथा भावनाओं का द्वन्द्व किसी भी नाटक में पात्रों के अन्तःकरण के भीतर किया जाता है। इस प्रकार के वर्णन में पात्रों के चरित्र में विविधता के दर्शन होते हैं। उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट कोटि के चरित्र का आधार यही अन्तर्द्वन्द्व है। विभिन्न प्रकार के विचारों तथा प्रवृत्तियों वाले मनुष्यों में मतैक्य न होने के कारण द्वन्द्व बढ़ता है। निःसन्देह यह द्वन्द्व मनुष्य के जीवन के साथ अनादि काल से सम्बद्ध है। समस्याओं के समाधान तथा उलझनों के निराकरण के लिए नाटककार

अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करता है। यह अन्तर्द्वन्द्व ही सामाजिक के मर्म को छूता हुआ उसे भावी निर्माण के लिए सचेत करता है।

अन्तर्द्वन्द्व एक मानसिक स्थिति से दूसरी स्थिति के विकास का द्योतक हो सकता है। आत्मा और परिस्थिति के द्वन्द्व से आत्मा और परमात्मा के द्वन्द्व को महत्त्वपूर्ण माना गया है।

नाट्यकला की दृष्टि से अन्तर्द्वन्द्व का महत्त्व कहीं अधिक है। यही आन्तरिक संघर्ष या अन्तर्द्वन्द्व दुःखान्त नाटकों में तो और भी स्पष्ट, कलात्मक और मोहक होकर हमारे समक्ष उपस्थित होता है। इब्सन ने तो मानव चरित्र की उत्कृष्ट कल्पना ही नाटक की सबसे उत्तम कृति मानी है और मानव चरित्र की कल्पना बिना आन्तरिक संघर्ष के हो भी नहीं सकती। इसके द्वारा भावनाओं का गुप्त संसार हमारे सामने मूर्त हो जाता है। जैसे-जैसे कथावस्तु तीव्र गति से चरमसीमा की ओर बढ़ती जाती है, वैसे ही पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व दिन के प्रकाश की भाँति प्रत्यक्ष होता जाता है। कथावस्तु और अन्तर्द्वन्द्व के चरम सीमा पर पहुँच जाने के पश्चात् शीघ्र ही नाटक का अन्त हो जाता है। अन्तर्द्वन्द्व की समाप्ति के पश्चात् लेखक जैसे एक शब्द भी जोड़ना अनावश्यक समझता है। पाठक या दर्शक भी अन्तर्द्वन्द्व के समाप्त होते ही अनुभव करने लगता है कि नाटक की समस्त घटनाएँ एक बिजली की भाँति उसके हृदयाकाश पर तड़प कर विलीन हो गईं।

बहिर्द्वन्द्व--बाह्य संघर्ष दो अथवा अनेक पक्षों में छिड़ता है। इनमें से कोई दमनशील अथवा आक्रामक होता है, तो दूसरा रक्षणशील होता है। दमनशील पक्ष बुरे अथवा अच्छे हेतु को मन में लेकर अन्य पक्ष का दमन करता है। रक्षणशील पक्ष अपनी बुराई तथा अच्छाई की रक्षा के हेतु संघर्ष करता है। कभी-कभी रक्षणशील पक्ष दमनशील तथा आक्रामक बन जाता है और नाटक के अन्त तक वह उसी रूप में रहता है। कभी-कभी दो पक्षों में किसी की हार या जीत नहीं होती है, जैसे अश्क के 'अलग-अलग रास्ते' में और न रूढ़िवादी पक्ष की हार या जीत हुई है, न क्रांतिकारी पक्ष की। इसी प्रकार मोहन राकेश के 'आधे अधूरे' में भी हार-जीत नहीं होती है।

परस्पर विरुद्ध इच्छाओं, भावनाओं तथा विचारधाराओं के कारण व्यक्ति-व्यक्ति का संघर्ष छिड़ता है। उपेन्द्रनाथ अश्क के 'अलग-अलग रास्ते' में रानी और पूरन का क्रांतिकारी संघर्ष उन व्यक्तियों से है जो समाज द्वारा निर्मित विधा तक रूढ़ियों को सुरक्षित रखना चाहते हैं।

नाटकों में द्वन्द्व अधिकांशत: नायक और प्रतिनायक में होता है। प्रतिनायक की मानसिक बनावट कुछ अद्भुत हुआ करती है। प्रतिनायक किसी परिस्थितिजन्य अभाव की आपूर्ति के लिए नायक से अथवा अपने प्रतिद्वन्द्वी से टकराता है। यह टक्कर विविध प्रकार के अभावों को लेकर होती है। जैसे मान लीजिए कि किसी व्यक्ति के मन में किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति रुझान है और संयोगवश जिसके प्रति वह आकर्षित है, वह किसी अन्य पात्र को प्राप्त हो जाती है, तो ऐसी परिस्थिति में उस प्रेमी पात्र का उत्तेजित हो उठना स्वाभाविक है। कोई भी उत्तेजना भावावेश के कारण संघटित होती है और वह व्यक्ति उत्तेजना के क्षणों में अपनी अस्त-व्यस्त मानसिकता में अपने प्रेमास्पद को उपलब्ध करने का निर्णय ले लेता है और उस निर्णय के फलस्वरूप वह सक्रिय हो उठता है। उसकी सक्रियता प्रतिद्वन्द्विता की भावना की अभिव्यक्ति कही जाएगी। यह प्रतिद्वन्द्विता प्रेम अथवा सेक्स के सन्दर्भ में ही नहीं, राज्य, धन, रूप, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्द्धा, महत्त्वाकांक्षा में भी सम्भव है।

रामकुमार वर्मा के 'नाना फड़नवीस' नाटक में बाह्य संघर्ष को स्थान मिला। चतुर राज-नीतिज्ञ नाना हत्यारे राघोबा को कैद में रखता है। नरनारायण राव के पुत्र सवाई माधवराव को सिंहासन पर बिठाता है। इस प्रकार संघर्ष से पूर्व नाना पानीपत की हार को जीत में बदल देने का प्रयास करता है। माधव राव नाना की विलक्षण बुद्धि की सहायता से कई विजयें सम्पादित करता है।

नाटकीय सन्दर्भ की दृष्टि से प्रतिनायकों का होना अनिवार्य है। यदि जीवन में संघर्ष के बिना ही सफलता मिल जाय तो उसमें नाटक की शक्ति का क्या पता चलेगा ? नायक के गुणों के विकास की स्वाभाविकता के लिए प्रतिनायकों की कल्पना की जाती है। पाश्चात्य नाटकों में नायक और प्रतिनायक के माध्यम से संघर्ष की सृष्टि करके आरम्भ से अन्त तक अनिश्चित स्थिति पैदा की जाती है। इस संघर्ष में कौतूहल और विशेष रूप से तनाव की स्थिति का होना अत्यावश्यक है। संघर्ष नाटक की उत्पत्ति करता है, किन्तु कौतूहल और विशेष रूप से तनाव नाटकीयता के वास्तविक लक्षण हैं। वस्तुतः ये दोनों संघर्ष से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। द्वन्द्व कौतूहल और तनाव के कारण ही नाटकीय होता है।

बिना विरोध के संघर्ष असम्भव है। इसीलिए नाटक में धीरललित, धीरशान्त एवम् धीरो-दात्त चरित्रों के साथ धीरोदात्त, खल और आसुरी पात्रों का संयोग किया जाता है। बिना विरोध के जैसे जीवन गतिशील नहीं होता, ऐसे ही नाटक भी बिना संघर्ष के आगे नहीं बढ़ता।

संघर्ष से आशय दो समान शक्तिशाली पक्षों की टकराहट, विरोध या प्रतिक्रिया है। संघर्ष अथवा द्वन्द्व किन्हीं दो भावों, स्थितियों, व्यक्तियों, समूहों, शक्तियों, मान्यताओं एवं इच्छाओं की है। संघर्ष की अनेक स्थितियाँ हो सकती हैं। एक स्थिति में दो विरोधी तत्व नित्य-अनित्य, दैहिक-दैविक, लौकिक-पारलौकिक आदि वस्तुतः प्रत्येक क्षण, प्रत्येक परिस्थिति, जो जीवन की अपनी है, के विरोध का प्रदर्शन नाटकीय संघर्ष का उद्‌भावक है। इस कारण उसमें उसी तरह उदात्त तथा नीच का समन्वय रहता है जिस तरह जीवन में। महान् व्यक्ति के अन्दर भी एक पशु होता है जो उसी महानता की हँसी उड़ाता है। विरोध की भावना त्रासदी के मूल में है। एक ओर कल्पना और हास्य है दूसरी ओर करुणा और भय।

चरित्र की सृष्टि करते समय नाटककार की मूल समस्या चरित्र के मूल द्वन्द्व या संघर्ष की तलाश होती है। द्वन्द्व के द्वारा प्रतिनायक और नायक के चरित्र का विकास शारीरिक, मानसिक और सामाजिक धरातलों पर होता है। विरोध अच्छे और बुरे आदमी के बीच नहीं होता है, ऐसे दो व्यक्तियों के बीच होता है जो अपने को ठीक समझते हैं। सच्चा नाटककार पक्ष-धरता नहीं करता, वह निष्पक्ष भाव से पात्रों को अपने आपको सच्चाई से अभिव्यक्त होने देता है। साधारणतः जहाँ एक व्यक्ति अच्छा ही अच्छा और दूसरा बुरा ही बुरा दिखाया जाय, वहाँ संघर्ष प्रतिद्वन्द्विता की भावना को उजागर करता है।

भाव एवं रस का उत्कर्ष संघर्ष पर आधृत है, फलतः संघर्ष की नाटकगत उपयोगिता के सम्बन्ध में शंका की आवश्यकता नहीं है। संघर्ष की उद्‌भावना के लिए विरोधी स्थितियों पर बल दिया गया है। नाटक का प्राण संघर्ष में पोषित होता है। संघर्ष जितना अधिक नाटककार की विवेचन-शक्ति में होगा, उतना ही जिज्ञासामय उसका नाटक होगा। चरित्र-विकास के लिए अन्तर्द्वन्द्व को आवश्यक माना जा सकता है। अन्तर्द्वन्द्व के द्वारा पात्रों के मनोगत रहस्यों का उद्‌घाटन सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

नाट्य-साहित्य में मिथकों के प्रयोग की परम्परा

डॉ० अनिलकुमार तिवारी

प्रत्येक जाति की अपनी एक निजी परम्परा होती है जिससे उसके इतिहास, दर्शन, संस्कृति और कला आदि का गहरा सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि कोई रचनाकार केवल अपने वर्तमान समय की ही बात नहीं कहता, वरन् वह अतीत को भी साथ लेकर चलता है। उसकी रचना में जहाँ वर्तमान के साथ-साथ एक ओर अतीत मुखरित होता है, वहीं दूसरी ओर भविष्य की चिन्ता भी सामने होती है। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए रचनाकार बार-बार पीछे मुड़कर मिथकों की ओर देखता है, क्योंकि उनमें कोई न कोई आदर्श या आद्यप्ररूप (आर्केटाइप) निरन्तर विद्यमान रहता है। इन आद्यप्ररूपों पर अपने हस्ताक्षर अंकित करके कवि अपने अतीत, वर्तमान और आगामी समय को सरलता से मुखरित कर देता है। इसीलिए साहित्य में मिथकों के प्रयोग की एक सुदीर्घ परम्परा मिलती है। साहित्य की विविध विधाओं में कविता मिथक के सर्वाधिक समीप है। कविता के बाद नाटक के साथ भी मिथक का मूल और प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। दोनों की संरचना अथवा उनके रूपाकार में बहुत समानता होती है। आधुनिक युग में तो नाटककारों ने सामाजिक विसंगतियों को उजागर करने के लिए ज्यों का त्यों मिथकीय ढाँचा अपनाना आरम्भ कर दिया है और इस दृष्टि से नाटक के क्षेत्र में मिथकों का खूब कलात्मक शोषण हो रहा है।

प्राचीन काल से ही मिथकीय प्रसंग नाटकों के मुख्य आधार रहे हैं। मिथकीय नाटकों में सामाजिक अन्तर्वस्तु मिथक के स्वरूप में मिलती है। नाटकीयता मिथक का एक अनिवार्य लक्षण है, इसीलिए मिथकाश्रयी नाटकों में अधिक जीवन्तता मिलती है। भारतीय तथा ग्रीक परम्परा में नाटकों के मूलोद्गम में कोई न कोई मिथकीय कथा अन्तर्निहित है। वैदिक काल में विभिन्न पर्वों के अवसर पर होने वाले अनुष्ठानों के समय से ही भारतीय नाटकों की एक समृद्ध परम्परा चली आयी है। परवर्ती लौकिक संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत भास, कालिदास, भवभूति, श्रीहर्ष और विशाखदत्त आदि के नाटक प्रायः मिथकों पर ही आधारित हैं। भास-कृत 'उरुभंग', 'मध्यम व्यायोग' और 'प्रतिमा' आदि नाटकों में महाभारत और रामायण से सम्बद्ध मिथक-कथाओं का उपयोग किया गया है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' शीर्षक नाटक क्रमशः उर्वशी-पुरुरवा तथा शकुन्तला-दुष्यन्त के पौराणिक अख्यानों पर आधृत हैं। भवभूति-विरचित 'मालती-माधव' में मिथक-कथा के स्थान पर एक ऐसी लोककथा का आधार ग्रहण किया गया है जिसमें बलि आदि के कर्मकाण्डीय मिथक-तत्त्वों की प्रमुख भूमिका है। उन्हीं की दूसरी कृति 'उत्तररामचरितम्' याज्ञिक या आनुष्ठानिक मिथकों के प्रयोग का एक श्रेष्ठ उदाहरण

है। इसी प्रकार श्रीहर्ष-कृत 'रत्नावली' और 'नागानन्द' तथा विशाखदत्त-कृत 'मुद्राराक्षस' आदि नाटक भी मिथकीय प्रसंगों से युक्त हैं।

भारत की ही तरह यूनान और मिस्र आदि देशों में भी नाटक की उत्पत्ति के साथ कोई न कोई धार्मिक अनुष्ठान जुड़ा हुआ है। कहना न होगा कि मिथक के साथ अनुष्ठान की गहरी पारस्परिकता है। यूनान में नाटक के उद्भव की कहानी डायोनिसस नामक देवता के पर्व से सम्बद्ध है। एस्काइलस की प्रथम नाट्य-कृति 'सप्लाएंट्स' डायोनिसस से ही सम्बन्धित है। प्रोमीथियस, एगेमेगनन आदि नायकों से सम्बद्ध एस्काइलस के अन्य नाटकों को भी मिथकीय संस्पर्श प्राप्त है। सोफोक्लीज के 'ईडिपस' और 'इलेक्ट्रा' आदि नाटकों में मिथकीय कथानकों का ही प्रयोग हुआ है। बाद में इन्हीं दो नाटकों के मिथकीय प्रयोग को फ्रायड, जुंग और उनके अनुयायियों ने मनोग्रन्थियों के विश्लेषण का आधार बनाया। यूरीपिडीज के नाटक भी नाट्य-मिथकों के अच्छे उदाहरण हैं। आधुनिक युग में मेटरलिंक और पुनरुत्थान युग में मार्लो तथा शेक्सपीयर आदि नाटककारों ने मिथक का भरपूर उपयोग किया।

हिन्दी नाट्य-साहित्य में भी मिथकों के प्रयोग की एक लम्बी परम्परा मिलती है। यहाँ भी नाटककारों पर मिथकीय सम्मोहन की गहरी छाप देखी जा सकती है। हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में जो थोड़े-बहुत नाटक रचे गये, वे प्रायः मिथकों पर आधारित तो थे, लेकिन उनमें मौलिकता नाम की कोई चीज न थी। अधिकांशतः ये नाटक संस्कृत नाटकों के पद्यानुवाद थे। जसवन्त सिंह-कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक', राम-कृत 'हनुमान नाटक', नेवाज-कृत 'शकुन्तला नाटक', सोमनाथ-कृत 'माधवविनोद नाटक', देव-कृत 'देवमाया प्रपंच नाटक' और व्रजवासीदास-कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' आदि इसी कोटि की नाट्य-रचनाएँ हैं।

यद्यपि मौलिक रूप से हिन्दी नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से माना जाता है, पर उनके उदय से ठीक पहले उनके पिता गोकुलचन्द्र गिरिधरदास-लिखित 'नहुष', गणेश कवि-लिखित 'प्रद्युम्न-विजय' और शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-लिखित 'जानकीमंगल' आदि जो नाट्य-कृतियाँ प्रकाशित हुईं, उनके भी आधार मिथक ही थे। इसके बाद भारतेन्दु जी ने भी पहले तो अधिकांशतः अपनी पूर्व-परम्परा का अनुसरण करते हुए अनेक संस्कृत और अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद ही किया, लेकिन अपने अल्प रचना-काल की परवर्ती अवधि में उन्होंने जिन मौलिक नाटकों की रचना की, उनका आधार मिथकों से ही ग्रहण किया। इस दृष्टि से 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'सती प्रलाप' और 'श्री चन्द्रावली नाटिका' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' तो अस्थिर जनमानस के समक्ष एक तरह की आदर्शवादी प्रस्तुति थी, परन्तु इसके बाद प्रकाशित भारतेन्दु जी का 'अन्धेर नगरी' नामक नाटक पूर्णतः आधुनिकता-बोध से सम्पन्न था। इसमें आया चौपट राजा एक तरह का आधुनिक मिथक ही था। स्मरण रहे कि मिथक केवल आदिम युग या आदिम मानस से ही सम्बद्ध नहीं हैं, आधुनिक युग के भी अपने मिथक बन रहे हैं।

भारतेन्दु-युग में लिखित मिथकाश्रयी नाटकों की संख्या तो पर्याप्त है, लेकिन इनमें कथात्मक इतिवृत्तात्मकता अधिक है और आधुनिक संवेदना का प्रायः अभाव है। इस युग में राम और कृष्ण मिथक पर आधारित नाटकों की रचना दूसरे मिथकों पर आधारित नाटकों की अपेक्षा अधिक हुई है। कृष्ण-मिथक से सम्बन्धित प्रमुख भारतेन्दुयुगीन हैं—अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता', हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास', खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'कल्पवृक्ष' तथा सूर्य-नारायण सिंह कृत 'श्यामानुराग नाटिका'। राम-मिथक से सम्बन्धित प्रमुख नाटकों में देवकी-

नन्दन खत्री लिखित 'सीताहरण' और 'रामलीला', शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-लिखित 'राम-चरितावली', ज्वालाप्रसाद मिश्र-लिखित 'सीता बनवास' और द्विजदास-लिखित 'रामचरित्र नाटक' का उल्लेख किया जा सकता है। दूसरे मिथकों पर आधारित भारतेन्दु-युग के उल्लेखनीय नाटक हैं—गजराज सिंह कृत 'द्रौपदी हरण', श्री निवासदास-कृत 'प्रहलाद चरित्र', बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' और शालिग्राम लाल-कृत 'अभिमन्यु' आदि।

द्विवेदी-युग में भी यद्यपि मिथकों पर आधारित अनेक नाटक लिखे गये, लेकिन उनकी भी स्थिति अधिकांश भारतेन्दु-युगीन नाटकों की ही तरह इतिवृत्तात्मक उपलब्धि तक सीमित है। इस युग में भी राम और कृष्ण सम्बन्धी मिथकों के आधार पर लिखे गये नाटकों की संख्या अधिक है। राम-मिथक से सम्बन्धित नाटकों में रामनारायण मिश्र-लिखित 'जनक बाड़ा,' गंगाप्रसाद-लिखित 'रामाभिषेक', गिरधरलाल-लिखित 'राम-बनयात्रा' तथा रामगुलाम लाल-लिखित 'धनुषयज्ञ लीला' आदि का द्विवेदी-युगीन नाटकों में प्रमुख स्थान है। इसी प्रकार इस युग के कृष्ण-मिथक से सम्बन्धित नाटकों में राधाचरण गोस्वामी-कृत 'श्रीदामा', शिवनन्दन सहाय-कृत 'सुदामा', बनवारी लाल-कृत 'कृष्णकथा' एवं 'कंसबध' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे मिथकों पर आधृत द्विवेदी-युग के प्रमुख नाटकों में महावीर सिंह-रचित 'नल-दमयन्ती,' गौरचरण गोस्वामी-रचित 'अभिमन्यु-वध', बाँकेबिहारी लाल-रचित 'सावित्री नाटक', बालकृष्ण भट्ट-रचित 'वेणुसंहार', लक्ष्मीप्रसाद-रचित 'उर्वशी', जयशंकर प्रसाद रचित 'करुणालय', माधव शुक्ल-रचित 'महाभारत पूर्वार्द्ध' और माखनलाल चतुर्वेदी-रचित 'कृष्णार्जुन-युद्ध' आदि का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

छायावादी-युग में जयशंकर प्रसाद ने नाटकों को नया जीवन और नयी दिशा प्रदान की। उनकी सृजनात्मक कल्पना पर राष्ट्रीय संस्कृति का इतना गहरा दबाव था कि उनके कुछ नाटकों में इतिहास एक मिथक के रूप में ढल कर सामने आया। वैसे भी मिथकीय चेतना कभी भी ऐतिहासिक प्रसंग की उपेक्षा नहीं करती। इसीलिए माइकेल जेरेफा ने कहा है कि मिथक इतिहास का विरोधी नहीं, वरन् इतिहास का प्रतिपक्ष (काउन्टर पार्ट) है। प्रसाद जी के नाटक 'स्कन्दगुप्त' में देवसेना के सन्दर्भ में प्रेम के एक आधुनिक मिथक का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त इस युग में भी इतिवृत्तपरक मिथकीय नाटकों की पूर्ववर्ती परम्परा क़ायम रही। अम्बिकादत्त त्रिपाठी-कृत 'सीय स्वयंवर नाटक', रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी', रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'सुभद्रा', परिपूर्णानन्द वर्मा-कृत 'वीर अभिमन्यु नाटक', गोकुलचन्द वर्मा-कृत 'जयद्रथ-वध' और किशोरीदास वाजपेयी-कृत 'सुदामा' आदि इसी कोटि के प्रमुख नाटक हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र-कृत 'अपराजित' और 'चक्रव्यूह' तथा सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्तव्य' और 'कर्ण' की गणना भी प्रसिद्ध मिथकाश्रयी नाटकों में की जाती है।

जगदीशचन्द्र माथुर ने यद्यपि बहुत कम नाटकों की रचना की है, लेकिन उन्हीं के नाटकों से आधुनिक जीवन की धड़कनों के साथ मिथक-प्रधान नाटकों के गहरे सरोकार की परम्परा प्रारम्भ हुई। उनके प्रसिद्ध मिथकीय नाटक 'कोणार्क' और 'पहला राजा' में हम अपने समय की समस्याएँ साफ़-साफ़ देख सकते हैं। इसके बाद पौराणिक सन्दर्भों या चरित्रों के माध्यम से वर्तमान समय की मानवीय पीड़ा, तनाव, घुटन और सामाजिक दंश को अभिव्यक्ति देने का उल्लेखनीय कार्य मोहन राकेश ने किया। इस दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' उनके महत्त्वपूर्ण नाटक हैं। कालिदास और नन्द का जो मानवगत द्वन्द्वबोध और मनः-स्थिति का आन्तरिक दबाव है, वही सब कुछ आज के मनुष्य पर भी घटित हो रहा है।

अब वर्तमान समय का नाटककार मिथक का आधार तो लेता है, लेकिन मिथक की धार्मिकता से उसका कोई सरोकार नहीं है। उसके मिथकीय पात्र और प्रसंग केवल अपने समय के बदलते सामाजिक-राजनैतिक परिवेश को सफलतापूर्वक अभिव्यक्ति करने के माध्यम भर हैं। इस प्रकार वर्तमान जीवन-सन्दर्भों से जुड़कर मिथक अपनी नयी प्रासंगिकता अर्जित कर रहे हैं और इनके आधुनिक यथार्थवादी स्वरूप का विकास हो रहा है। इस आधुनिक मान्यता के प्रतिनिधि नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल हैं जिनके लिए 'आधुनिकता एक अन्वेषण भी है जो हमें मिथक (मिथ) से यथार्थता (रियलटी) की यात्रा का बहिर्बोध भी समझाता है।' लाल के इस विचार की झलक हमें विभिन्न मिथकों पर आधारित उनके 'कलंकी', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'सूर्यमुख', 'नरसिंह कथा', 'यक्ष प्रश्न', 'उत्तर युद्ध' और 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' आदि सभी नाटकों में यथार्थ रूप में घटित होते हुए देखने को मिल जायेगी।

मिथक और यथार्थ एक-दूसरे के पूरक हैं। आधुनिक नाटकों में किया गया यथार्थ का मिथकीय रूपान्तरण अपने भीतर व्यापक सन्दर्भों को समेटता है। इस प्रकार समकालीन मिथकाधृत नाटकों में मिथक कभी यथार्थ हो जाता है और यथार्थ कभी मिथक—दोनों एकमेक हो जाते हैं। आधुनिकता की इस प्रक्रिया को महत्त्व देने वाले ऐसे रंग-नाटकों में धर्मवीर भारती का 'अन्धायुग' (काव्य-नाटक), शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य', गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', दयाप्रकाश सिन्हा का 'कथा एक कंस की', सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रौपदी' और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'बकरी' आदि कुछ प्रमुख सुपरिचित नाम हैं। सक्सेना का 'बकरी' भी ठीक एक वैसा ही आधुनिक मिथक है जैसा भारतेन्दु के नाटक 'अन्धेर नगरी' के चौपट राजा का मिथक। कुछ अन्य प्रमुख समकालीन मिथकाश्रयी नाटकों के रूप में भीष्म साहनी के 'माधवी', शंकर शेष के 'कोमल गंधार', नन्दकिशोर आचार्य के 'देहान्तर', और ज्ञानेन्द्र पति के 'एकचक्रा नगरी' (काव्य-नाटक) का भी उल्लेख किया जा सकता है।

इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य वाङ्मय में, और विशेष रूप से हिन्दी नाट्य-साहित्य में मिथकों के प्रयोग की परम्परा पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होता है कि यह परम्परा सुदीर्घ एवं अटूट है तथा प्राचीन काल से बीसवीं शती पूर्वार्द्ध तक अनुष्ठान, कर्मकाण्ड, इतिवृत्त के रूप में प्रयुक्त होने वाला मिथक समकालीन नाटकों में आज की जिन्दगी की विसंगतियों, विडम्बनाओं और टकराहटों को रूपायित करने का एक प्रमुख माध्यम बनकर सामने आ रहा है। हाल के दो-तीन दशकों के नाटकों में मिथकीय चरित्रों एवं प्रसंगों का एक नये सन्दर्भ में जो यथार्थपरक रूपान्तरण हुआ है, वह निस्सन्देह एक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है और भविष्य से लिए एक शुभ संकेत भी।

हिन्दी नाटककारों की दृष्टि में नाट्य-विधा

●

श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

नाटक में काव्य, कला और संगीत तीनों का ही समावेश है। क्लासिकल और पारम्परिक नाटकों के पार्श्व में आधुनिक नाटकों का आविर्भाव हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान के प्रभाव से ऐसा होना अवश्यम्भावी था। विज्ञान ने जीवन-दृष्टि में ही बदलाव उपस्थित नहीं किया, अपितु जीवन-पद्धति में भी परिवर्तन ला दिया। सोचने-विचारने के ढंग से लेकर रहन-सहन की रीति-नीति में भी अन्तर दिखाई देने लगा। अलौकिक घटनाएँ लौकिक धरातल की ओर उन्मुख हुईं। दैवी प्रेरणा मानवी प्रभाव के दायरे को स्पर्श करने लगी। अब मानव नियति के दायरे से निकल कर अपने क्रिया-कलापों का नियामक स्वयं अपने को समझने लगा। वह अपना भाग्य-विधाता स्वयं बन बैठा। इसकी छाया और छाप भारतेन्दु-युग के नाटकों से लेकर वर्तमान युग के नाटकों पर गहराती चली आई है। इसका क्रमिक विकास रोचक तथा ज्ञानवर्धक है।

नाटक पौराणिक हो या सामाजिक, राजनीतिक हो या ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक हो या रोमांचक अथवा अन्य कोई, सभी पर विज्ञान का न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा है। हमारे बीच ऐसे भी नाटककार हुए हैं जिनके लेखन की मुख्य विधा नाटक लिखना नहीं रहा है, किन्तु नाटक को साहित्य की एक मुख्य विधा मानकर जिन्होंने अपनी लेखनी चलाई है। इस दिशा में उन नाटककारों का अधिक योगदान है जो आदर्शोन्मुख यथार्थ के अधिक निकट रहे हैं। वास्तव में साहित्य जीवन का दर्पण ही नहीं, दीपक भी है। मानव-जीवन को ही उसका प्राण और परिधि मानकर साहित्यकार उसमें सर्जनात्मक शक्ति का संचार करता है। उसका बाह्यान्तर जीवन की जीवंत ऊर्जा से ही अनुप्राणित होकर कालजयी बन पाता है। समाज को सांस्कृतिक उत्कर्ष की दृष्टि एवं दिशा देकर अपनी लेखनी को सफल तथा सार्थक बनाता है। हमारे नाटककार भी इसके अपवाद नहीं हैं। युगीन प्रभाव से अनुप्रेरित होकर भी वे लोक-मानस को आन्दोलित कर भावी जीवन के लिए दिशा-निर्देश करते रहते हैं। लोकचेतना को उद्बुद्ध कर उन्होंने ऐतिहासिक प्राणधारा से जोड़ने का प्रयास किया है। उसे मनोविज्ञान-सम्मत बनाने का भी उपक्रम किया है। कभी-कभी विरोधाभासों और असंगतियों के बीच भरसक संगति और सामंजस्य बिठाने का यत्न किया है। परन्तु जहाँ वे ऐसा नहीं कर सके हैं, वहाँ कल्याण का आश्रय लेने में उन्हें हिचक नहीं हुई है। फिर भी अतिरंजन के प्रति वे प्रायः सजग एवं सावधान रहे हैं। नाटकों में नैतिकता का स्वर मुखर है और विकृति तथा विरूपता की अपेक्षा सदाचार तथा सुरुचि-सम्पन्नता को उजागर करने का यत्न किया गया है। लोकरुचि का परिष्कार करने की ओर नाटककारों का ध्यान केन्द्रित रहा है। इसके लिए उन्होंने भाषा-स्तर को लोकग्राह्य बनाये रखना उचित माना है। किन्तु इसका निर्वाह समान रूप से सर्वत्र कर पाना सम्भव नहीं हो सका है। नाटकों में नाटककारों का शास्त्रीय आग्रह किसी न किसी रूप या मात्रा में जाने-अनजाने

प्रतिध्वनित है। गौरवशाली अतीत की जीवंत परम्परा से किसी सम्वेदनशील प्राणी का सर्वथा असंयुक्त रह पाना न तो सम्भव है, न ही स्वाभाविक। हमारी साहित्यिक तथा सांस्कृतिक परंपरा इतनी सजीव एवं समृद्ध रही है कि उसकी विरासत पर हम सहज ही गर्व कर सकते हैं। फिर उससे विमुख अथवा विरत रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। महाभारत-कालीन पतनोन्मुख समाज ने भी हमें 'महाभारत' जैसा बहुआयामी उत्कृष्ट साहित्य दिया है।

संस्कृत साहित्य में नाटक की गणना काव्य-विधा के अन्तर्गत की गयी है, किन्तु हमारे प्रमुख नाटककारों ने उसे नृत्य, संगीत, संवाद और अभिनय से युक्त ठहराया है। नाटक के शास्त्रीय भेदोपभेदों की व्याख्या रंगमंच और वस्तु-विन्यास के अनुरूप ही करने या यत्न किया है। फल-स्वरूप उनमें ऐसी नाट्य-विधाओं का भी समावेश हो गया है जो वैज्ञानिक युग की उपज हैं। इनके अतिरिक्त लोक-प्रचलित नाट्य-परम्पराओं का प्रवेश भी निषिद्ध नहीं रह गया है। विदेशी तथा विजातीय रंगमंचों ने भी नाटककारों को न्यूनाधिक प्रभावित किया है। वैज्ञानिक आविष्कारों ने तो हमारी दृष्टि और दिशा में ही भारी परिवर्तन ला दिया है। पौराणिक नाटकों का स्थान जहाँ ऐतिहासिक नाटकों ने ले लिया है, वहाँ मंचीय नाटकों के स्थान टेलीविजन तथा नुक्कड़ वाले नाटक लेने लगे हैं। इसी प्रकार सामाजिक नाटकों का मूल स्वर आदर्शवादी न होकर यथार्थपरक रहने लगा है। धीरे-धीरे सुधारवादी दृष्टि का स्थान क्रान्तिकारी कदम लेने लगे हैं। मनोवैज्ञानिक नाटकों का विस्तार प्रवृत्तिगत परिधि तक ही सीमित है। राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ राजनीतिक नाटकों का भी निर्माण बढ़ा है। समस्या-नाटक युगीन प्रेरणा से अनुप्राणित हैं। उनकी समस्याएँ संस्कार और विचार के बीच द्वन्द्व की उपज हैं। हास्य और व्यंग्य नाटक समकालीन विरोधाभास की देन हैं। नाटक और एकांकी समानधर्मा होकर भी आकार-प्रकार भेद से पृथक् नाटक-विधा के रूप में गिने जाने लगे हैं। शास्त्रीय भाषण या प्रहसन स्वरूपगत साम्य रखते हुए भी विषयगत दृष्टि से एकांकी से भिन्न है। उनका शिल्प भी समान नहीं है। रेडियो रूपक ने इसे और अधिक स्पष्ट कर दिया है।

भरतमुनि ने सर्वप्रथम संस्कृत के 'नाट्यशास्त्र' में नाट्य-विधा का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। उसे अपनी महत्ता के कारण पाँचवें वेद की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। उसमें नाटक के विभिन्न अंग-उपांगों की चर्चा की गई और अभिनय के विविध पक्षों पर प्रचुर प्रकाश डाला गया। यहाँ तक कि विधि-निषेधों का वर्णन तक अछूता न रह गया। नाट्य-कला के परवर्ती आचार्यों ने भी उसके आधार पर अपने मत को विकसित किया। धनंजय ने अपने 'दशरूपक' में नाटक के तीन प्रमुख तत्त्वों का निरूपण किया। नन्दिकेश्वर ने 'अभिनय-दर्पण' में अभिनय को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया। इससे रंगमंच की गरिमा बढ़ी।

भारतेन्दु ने अभिनय-कला को ही नट-क्रिया का मूलाधार स्वीकार किया है। चौधरी बदरी नारायण 'प्रेमघन' ने भी इसी आधार पर रूपक को मान्यता प्रदान की है।[२] बालकृष्ण भट्ट भी नाटक को दृश्य काव्य के एक भेद के रूप में स्वीकार करते हैं।[३] प्रसाद जी काव्य के श्रव्य और दृश्य भेदों को स्वीकार करते हुए मूर्त दृश्य और अमूर्त मानस-संसार की चर्चा करते हैं।[४]

भगवतीचरण वर्मा ने नाट्य को अभिनय का द्योतक बतालाया है। उन्होंने बौद्धिक कला के अन्तर्गत कविता के अतिरिक्त नृत्य, संगीत और अभिनय को स्थान दिया है। उनके अनुसार नृत्य और संगीत को तो ललित कलाओं की सीमा में स्वीकार कर लिया गया है, किन्तु अभिनय को वह मान्यता नहीं प्राप्त हुई है। हमारे आचार्यों ने यद्यपि नाट्य की उत्पत्ति नृत्य,

संगीत और साहित्य से मानी है, तथापि नाटक अभिनयप्रधान है।[५] आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने भी सभी साहित्यिक विधाओं में नाटक की श्रेष्ठता स्वीकार की है।[६] डॉ० रामकुमार वर्मा उसे दृश्य काव्य का एक ऐसा माध्यम बतलाते हैं जिसमें नृत्य, संगीत और अभिनय हृदय की ललित सृष्टि को एक आकर्षक रूप प्रदान करते हैं।[७] सेठ गोविन्द दास के मतानुसार ललित कलाओं में जिस प्रकार काव्यकला का सर्वोच्च स्थान है, उसी प्रकार काव्यकला में दृश्य काव्य का — नाटक में जो दृश्य दिखाये जाते हैं, उनमें शिल्प, मूर्ति और चित्रकला का आनन्द मिलता है एवं नृत्य, गायन और कथोपकथन से संगीत और काव्य को।[८] हरिकृष्ण प्रेमी नाट्यकला के शास्त्रीय स्वरूप को स्वीकार करते हुए उसमें साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्र, मूर्ति तथा वास्तु-कला का सामंजस्य माना है।[९] सर्वदानन्द जी ने हास्य की दृष्टि से कुशल अभिनय के महत्त्व को स्वीकार किया है।[१०] ब्योहार राजेन्द्र सिंह ने दृश्य, संगीत तथा अभिनय की महत्ता को स्वीकार किया है।[११] इस प्रकार इन नाटककारों ने नाटक के शास्त्रीय सिद्धान्तों का समर्थन किया है।

नाट्योत्पत्ति के विषय में आचार्यों तथा नाटककारों में मतैक्य नहीं है। भरत मुनि से लेकर भगवतीचरण वर्मा तक में मतभेद है। भरतमुनि ने यदि पौराणिक दृष्टि से काम लिया है तो भगवती बाबू ने कहानी को नाटक का आधार माना है और उसकी स्थापना अभिनय में। इनसे भिन्न प्रसाद जी का मत है जो उसके प्राचीनतम रूप को नटों द्वारा कंठस्थ किये जाने का संकेत करता है। साहित्यिक इतिहास के अनुक्रम में वे सर्वप्रथम नीतिकाव्य को और अन्त में महाकाव्य को स्थान देते हैं। उन्होंने नाटकों के गद्यात्मक होने की संभावना की ओर भी इंगित किया है। इनके अनुसार वैदिक यज्ञों में अभिनय का आयोजन भी संभव है।[१२] परन्तु इन सबसे पृथक् आचार्य सीताराम चतुर्वेदी का अनुमान है जिन्होंने किंचित् अधिक विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार संगीत, कथा और अभिनय के संयोग से मनोविनोद और उपदेश के उद्देश्य-विशेष से पर्वों और उत्सवों पर प्रयोग करने से नाट्य की उत्पत्ति हुई।[१३] मेरी अपनी धारणा है कि पारिवारिक परिवेश में सर्वप्रथम बच्चों ने अपने बड़ों की नकल आरंभ की होगी। वहीं से नाटक का बीजारोपण हुआ होगा। इनके मूल में यूनानी मंच की प्रेरणा और प्रभाव क्लिष्ट कल्पना मात्र है। अधिक से अधिक रंगमंच के निर्माण को यूनानी रंगमंच ने नया मोड़ दिया होगा। जो हो, अभी तक इसका निर्विवाद समाधान प्रस्तुत नहीं किया जा सका है। फिर भी इतना स्पष्ट है कि नाटकों में दैवी कृत्यों की परिणति क्रमशः मानवी क्रिया-कलापों में हुई है।

"नाट्यशास्त्र" में नाटक की परिभाषा ब्रह्मा द्वारा प्रस्तुत करायी है। उन्होंने उसे पंचम वेद बतलाते हुए त्रैलोक्य के भावों की अनुकृति ठहराया है[१४] जिसका उद्देश्य मनोरंजन के व्याज से दर्शकों का चरित्र-निर्माण कराना रहा है। हिन्दी नाटककारों ने भी इससे प्रेरणा एवं प्रभाव ग्रहण किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रूपक मात्र को नाटक ठहराया है।[१५] साथ ही साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि "मानव जाति के अन्तर्भाव सब विशुद्ध रूप में चित्रित होंगे, यह कभी संभव नहीं है।"[१६] चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' के मतानुसार 'सामान्यतः सभी दृश्य काव्य और उसके अभिनय को प्रायः नाटक के ही नाम से पुकारते हैं। वास्तव में समुदायवाची शब्द इसके लिए रूपक है। रूप के आरोप को रूपक कहते हैं।'[१७] लाला श्रीनिवासदास का अनुमान है कि 'नाटक एक ऐसी रचना है जिसमें लेखक का उद्देश्य मानव-व्यवहार के चित्रण द्वारा भावात्मक सम्प्रेषणीयता ही होना चाहिए।'[१८] बालकृष्ण भट्ट ने नाटक-विषयक अपना

विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "बड़े नट के नाटक और हम लोगों के नाटक में एक अन्तर यह है कि हम लोग इस दृश्य काव्य नाटक में काल की नकल कर दिखलाते हैं और वह अपने नाटक में जो कुछ नकल कर रहा है, वह मात्र यवनिका के कारण हमें असल और सत्य मालूम होता है।'[१९] किशोरीलाल गोस्वामी के अनुसार 'नाटक साहित्य के अन्य रूपों के दृश्यत्व अथवा अभिनेयता के कारण भिन्नता रखता है जो उसका मूल तत्त्व है।'[२०] ब्रजरत्न दास ने दृश्य काव्य को नाटक या रूपक की संज्ञा देते हुए और नट-क्रिया का अर्थ नृत्य करना या अभिनय करना बतलाते हुए यह स्थापना दी है कि जिसमें यह प्रदर्शित किया जाय, वह नाटक है।[२१] इनसे किंचित् भिन्न बदरीनाथ भट्ट की मान्यता है जिसके अनुसार नाटक मनुष्य समाज के कार्यक्षेत्र का प्रतिबिंब है। वह एक दर्पण है। उसमें आप जिस समय का नाटक है, उस समय के मनुष्य-समाज की दशा साफ-साफ देख सकते हैं।[२२] परन्तु हरिऔध जी की दृष्टि में काव्य और नाटक आनन्द के साधन हैं और इनसे आनन्द की ही प्राप्ति होती है।[२३] इनसे पृथक् प्रेमचन्द जी ने नाटक को संगीतात्मकता तथा काव्यात्मकता के समन्वय को एक युगीन विशेषता-संपन्न सूचित किया है।[२४] इसी प्रकार रामवृक्ष बेनीपुरी और जी० पी० श्रीवास्तव ने भी नाटक-सम्बन्धी अपने विचार प्रकट किये हैं। बेनीपुरी जी ने यदि कुछेक प्रतिभाशील व्यक्तियों के अभिनय पर बल दिया है तो श्रीवास्तव जी ने भी माननीय जीवनलीला को स्वाभाविक और रोचक ढंग से दिखाने का उद्देश्य बतलाते हैं।[२५] परवर्ती नाटककार सेठ गोविन्ददास के अनुसार जिस नाटक में जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित एवं मनोरंजक कथा होगी, जितना विशद चरित्र-चित्रण होगा और जितनी स्वाभाविक कृति एवं कथोपकथन होंगे, वह उतना ही उत्तम तथा सफल होगा।[२६] सद्गुरुशरण अवस्थी के मतानुसार, नाटकों को दृश्य काव्य के वर्ग में स्थान मिला। उच्चारण-कुशलता और संगीत के सौष्ठव कर्णप्रियता से वे सम्बन्ध अवश्य रखते हैं, परन्तु संवादकों की अंग-परिचालना और अभिनय-सौन्दर्य का स्वादन नेत्र ही द्वारा विशेष प्रकार से होता है। आचार्यों के समक्ष यही कारण रहा होगा जिससे नाटकों को दृश्य काव्य माना गया।[२७] परन्तु आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने नाटक को सत्य और कल्पना जात की अनुभूति ठहराया है।[२८]

एक सफल नाटककार का लक्षण बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि 'नाटककार को केवल रंगपीठ की क्रिया, समता के आचार-विचार और मनोभाव तथा इतिहास और लोकवृत्ति का ज्ञान ही अपेक्षित नहीं है। उसे भाषा पर भी ऐसा पूर्ण अधिकार चाहिए कि वह अपने नाटक में पद के उपयुक्त प्रसंग होने वाली भाषा का व्यवहार कर सके, अर्थात् रंग-क्रिया कुशल, लोक-वृत्तिज्ञ, इतिहास तथा भाषा का पंडित ही सिद्ध नाटककार हो सकता है।'[२९]

हिन्दी के सुप्रसिद्ध नाटककार डॉ० रामकुमार वर्मा ने प्रसंगानुसार नाटक को दृश्य काव्य स्वीकार किया है जिसमें नृत्य, संगीत और अभिनय दृश्य की ललित दृष्टि को एक आकर्षक रूप प्रदान करते हैं। उनकी दृष्टि में नाटक के दो पार्श्व हैं: (१) हृदय की वे समस्त अनुभूतियाँ हैं जो मनोविज्ञान या रस से ओतप्रोत होकर जीवन के यथार्थ या आदर्श में प्रतिफलित होती हैं और (२) परिस्थिति की वे समस्त रूपरेखाएँ हैं जो मंच, वेशभूषा, नृत्य-संगीत और अभिनय का माध्यम ग्रहण करती हैं। ये दोनों पार्श्व नाटक के लिए अनिवार्य हैं। दोनों में से यदि एक की कमी होगी तो नाटक अपने अभीष्ट उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकेगा।[३०] इसी प्रकार गोविन्द वल्लभ पंत नाटक को कला की सर्वोच्च और सुन्दरतम अभिव्यक्ति मानते हैं। रूप, रंग, स्वर, भाव-भंगिमा और गतिमय लालित्य के सहकार का नाम नाटक है।[३१] उदयशंकर भट्ट

का मत है कि जिन देशों के साहित्यिकों ने नवीन चेतना दी है, वहाँ वे नाटक के द्वारा ही सफल हुए हैं।[३२] उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के मतानुसार, नाटक की सफलता वैज्ञानिक साधनों और सुविधाओं पर निर्भर करती है यद्यपि उसमें विभिन्न स्थितियों और संवादों का भी विशेष महत्त्व होता है।[३३] डॉ० सत्येन्द्र नाटक में जीवन का संपूर्ण मूर्त रूप होना बतलाते हैं।[३४] विष्णु प्रभाकर ने नाटक को मनुष्य के बाह्य और आन्तरिक संघर्ष की ऐसी कथा कहा है जो रंगमंच पर प्रस्तुत होकर अपनी सशक्तता से सम्पूर्ण मानव-समाज को प्रभावित करती है।[३५] परन्तु इन सबसे भिन्न सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन का मत है कि जो आधुनिक नाटक को एक स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकार करते हैं और संस्कृत परम्परा के नाटकों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं मानते हैं।[३६] इसी प्रकार डॉ० प्रभाकर माचवे पात्र को लेखक के हाथ की कठपुतली नहीं मानते हैं।[३७] हिन्दी के नाटककारों में लक्ष्मीनाराण मिश्र, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल, लक्ष्मीकान्त वर्मा जैसे अन्य अनेक नाटककार हैं जिनकी दृष्टि में नाटक विधा का साहित्य-जगत् में अपना स्थान एवं महत्त्व है।

संदर्भ-संकेत

१. नाटक, हरिश्चन्द्र, पृ० ५। २. प्रेमघन सर्वस्व, उपाध्याय, पृ० ४३। ३. गद्य-सरिता, तिवारी, पृ० १८। ४. कानपुर तेरहवाँ हिंदी साहित्य सम्मेलन, भाग २, पृ० १०७। ५. साहित्य के सिद्धान्त तथा रूप, वर्मा, पृ० १८५। ६. समीक्षा-शास्त्र, आचार्य चतुर्वेदी, पृ० ७८३। ७. दीपदान, डॉ० वर्मा, भूमिका भाग, पृ० ११। ८. नाट्यकला-मीमांसा, सेठ गोविन्द दास, पृ० ६। ९. विश्व ज्योति, फरवरी १९५८, पृ० २६। १०. रंगमंच, सर्वदानन्द, पृ० ६४। ११. आलोचना के सिद्धान्त, व्योहार राजेन्द्र सिंह, पृ० १६६। १२. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध, प्रसाद, पृ० ८८। १३. अभिनव नाट्यशास्त्र, आचार्य चतुर्वेदी, पृ० ४२। १४. नाट्यशास्त्र, भरतमुनि। १५. नाटक, भारतेन्दु, पृ० ५। १६. वही, पृ० ३३। १७. द्वितीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, संवत् १९६८, पृ० ४३। १८. रणधीर प्रेममोहनी, लाला श्रीनिवासदास, पृ० ६। १९. एक सरिता, भट्ट, पृ० १९। २०. नाट्यसंभव रूपक, गोस्वामी, पृ० ५३। २१. हिन्दी नाट्य-साहित्य, ब्रजरत्नदास, पृ० १७। २२. सरस्वती, जून, १९१५, पृ० ३२४। २३. रस-कलस, अयोध्या सिंह उपाध्याय, पृ० ३३। २४. विजेता, बेनीपुरी, भूमिका, पृ० ६। २५. 'सुधा', फाल्गुन, ३१३ तुलसी संवत्, पृ० १५०। २६. नाटक संग्रह, सेठ गोविन्द दास, भूमिका. पृ० १७। २७. नाटक और नायक, अवस्थी, भूमिका, पृ० ५। २८. अभिनव नाट्यशास्त्र. आचार्य चतुर्वेदी, पृ० ४४। २९. अभिनव नाट्यशास्त्र, आचार्य चतुर्वेदी, पृ० ७४। ३०. दीपदान, डॉ० वर्मा, भूमिका, पृ० ११। ३१. आत्मदीप, पंत, भूमिका, पृ० ६। ३२. समस्या का अंत, उदयशंकर भटट, प्राक्कथन, पृ० ३। ३३. सरगम, अश्क, प्राक्कथन, पृ० १२। ३४. समीक्षा के सिद्धांत, डॉ० सत्येन्द्र, पृ० ८८। ३५. नीली झील, विष्णु प्रभाकर, रंग-परिचय, पृ० ११। ३६. हिन्दी साहित्य, एक आधुनिक परिदृश्य, अज्ञेय, पृ० ९०। ३७. संतुलन, डॉ० माचवे, पृ० १६०।

नाटक में रस तथा अन्य तत्त्व

●

श्री विभुराम मिश्र

व्यक्ति के मूल भावों—रति, उत्साह, क्रोध, शोक आदि को उद्बुद्ध कर आस्वादनीय आनंदमयी चेतना की सृष्टि करने की क्षमता जिस रचना में होती है, वही रचना सर्जनात्मक साहित्य का गौरव प्राप्त करती है। ऐसी रचना व्यक्ति के हृदय एवं बुद्धि को परितृप्त तथा उत्तेजित कर उसको सात्त्विक भावों का आस्वादन कराती है। साहित्य की श्रेष्ठतम विधा नाटक में रस की प्रक्रिया अन्य नाट्य-तत्त्वों—कथावस्तु, पात्र, संवाद, भाषा, दृश्य-विधान, प्रतीक-विधान, संगीत, अभिनेयता आदि—से घनिष्ट रूप में संबंधित हैं। नाट्य-रचना में इन तत्त्वों के सुसंयोजन से समर्थ रससिद्धि संभव होती है। नाटक में रस का अन्य नाट्य-तत्त्वों से वही अन्तःसंबंध है जो शरीर में प्राणतत्त्व का ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों से है।

कथावस्तु या घटना-विन्यास विचारतत्त्व अर्थात् रस से संबद्ध होता है। वैचारिक मौलिकता, घटनात्मक सत्यता, शैलीगत निर्माण-कौशल, पारस्परिक संबद्धता, वर्णनात्मक रोचकता, साधारणीकरण-क्षमता आदि कथानक के आवश्यक गुण हैं। कथानक द्वारा मानव-जीवन तथा उसकी समस्याओं की व्याख्या की जाती है, साथ ही मानवीय संवेदनाओं-अनुभूतियों को अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। भारतीय साहित्यशास्त्र में नाट्यकथा का सैद्धान्तिक विवेचन बहुत विस्तार से किया गया है। आचार्यों ने वस्तु-भेदों, अर्थ-प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, संधियों तथा अर्थोपक्षेपकों का निरूपण किया है। पाश्चात्य साहित्यशस्त्र में भी कथा के आधारों, भेदों, विविध आयामों, अंगों, अवस्थाओं तथा गुणों का सम्यक् अनुशीलन किया गया है।

वस्तु या 'इदम्' की आत्मा के साथ अद्वय स्थिति आत्मविस्तार का मार्ग प्रशस्त करती है। यह आत्मविस्तार रसानुभूति के लिए नितांत अपेक्षित है। जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-क्रोध, राग-द्वेष के वैविध्यपूर्ण आलेख द्वारा वासना या भाव को अभेद आनंद के रूप में ग्रहण करने की प्रक्रिया ही रसानुभूति है। नाटक का विचार या भावतत्त्व कथा-परिकल्पना और कथा-संतुलन द्वारा ही व्यंजित हो सकता है। नाटककार नाटक के घटना-विन्यास द्वारा जीवन के किसी मूल्य को, सामाजिक-दार्शनिक-नैतिक उपलब्धि को अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति ही सामाजिक के हृदय में संस्कारावस्थित स्थायी भावों से अभेद साधारण्य के साथ व्यक्त होकर रस-रूप में परिणत होती है।

पात्रों की चरित्र-सृष्टि रससिद्धि में सहायक होती है। चरित्रों के संतुलन विन्यास तथा विकास में अंतर्विरोध की अनवस्थिति से रस की सृजन-प्रक्रिया अखण्ड एवं अविच्छिन्न बनी रहती है। कथा-अनुकूलता, व्यावहारिक स्वाभाविकता तथा सप्राणता चरित्र-चित्रण के गुण हैं। महान् रचना के चरित्रों का संबंध राष्ट्र की संस्कृति से होता है। राष्ट्रीय संस्कृति के

क्रोड से निःसृत चरित्रों के गुणों, भावों एवं व्यापारों के साथ सहज तादात्म्य स्थापित हो जाता है। चरित्र-चित्रण द्वारा वासना-रूप में स्थित मनोवृत्तियाँ आस्वादनीय बना दी जाती हैं। श्रेष्ठ नाटक में अन्तर्द्वन्द्व और बहिर्द्वन्द्व में डूबे पात्रों का व्यक्ति-वैचित्र्य भी रस का साधन बनता है। रसवाद का धरातल विविध चरित्रों के बीच एक समीकरण स्थापित करता है और विविध भावनाओं में एक अभिन्नता की सृष्टि करता है।

रस-निष्पत्ति में अर्थात् प्राण को आकार देने में भाषा-तत्त्व का अति महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। भाषा किसी जाति या मानव-समुदाय की आत्माभिव्यक्ति और पारस्परिक अनुभवों के सम्प्रेषण का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है। इसमें जन-समुदाय की असंख्य पीढ़ियों की अनुभव-सम्पत्ति और उसकी समूची परम्परा संचित रहती है। भाषा नाट्य-रचना को सामान्यीकरण के स्तर तक पहुँचाती है। भावों-संवेदनाओं का साधारणीकरण भाषा-तत्त्व के साहाय्य से ही संभव होता है। भाषा वह शक्ति है जो मानव हृत्तंत्री को झंकृत कर भावनाओं को उत्प्रेरित करती है। भाषा में सरलता और सहजता आवश्यक है। स्पष्ट, सुबोध भाषा से अनुप्राणित रचना सहज ग्राह्य होती है; क्लिष्ट और उलझी भाषा रस-निष्पत्ति में बाधक होती है।

भाषा भावना एवं विचारों के बीच से मार्ग खोजती है। अत. भावमयी भाषा के अंतर्गत विचारपूर्ण तथ्यों की सूक्ष्म प्रविष्टि देखी जा सकती है। भाषा का भावमय प्रयोग रचना को प्रभावशाली एवं हृदय-संवेद्य बनाता है। भाषा में प्रयुक्त शब्द विविध भाव-चेष्टाओं, अनुभावों, अभिप्रायों का प्रतीकत्व ग्रहण करते हैं।

नाटक के रचना-तत्त्वों में दृश्यात्मक परिकल्पना का विशिष्ट महत्त्व है। हृदयस्पर्शी भावनाओं को प्रत्यक्ष रूप देने में नाटकीय वातावरण से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। व्यक्ति जिस वातावरण में रहता है, आसंग के कारण उसके प्रति एक मोह-सा उसके मन में हो जाता है। यही आसंग-मोह समय-समय पर जागृत होता रहता है जिसका मानसिक साक्षात्कार रसमय प्रतीत होता है। जिस वातावरण में, जिन प्राकृतिक उपकरणों के संपर्क में हम बाल्यकाल से रहते आए हैं, उनके प्रति हमारा एक स्थायी लगाव-सा हो जाता है जो उसी जैसा वातावरण पाकर उत्फुल्ल हो उठता है और रस का परिपाक करता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वातावरण की विलक्षण शक्ति की ओर ध्यान आकर्षित किया है। रचनाकार शब्दचित्र या दृश्यचित्रों के माध्यम से किसी वस्तु या व्यापार को पाठक या दर्शक के सामने इस ढंग से उपस्थित कर देता है कि श्रोता या दर्शक में वैसा ही भाव जागृत जो जाता है। प्राकृतिक दृश्यावलियों में मनोमुग्धकारी क्षमता होती है। प्रकृति के रम्य रूप-विधान तथा उसके विभीषक दृश्यों में मानव अपने राग तथा विस्मयमूलक भाववृत्तियों के लिए अनुकूल उपादानों का संचय करता रहा है। शुक्ल जी ने प्रकृति के विविध रूपों को आदिम जीवन की साहचर्यजनित भावना से जोड़कर उनकी रसमयता प्रतिपादित की है—"पर्वत, नदी, निर्झर आदि प्राकृतिक दृश्य हमारे राग या रतिभाव के स्वतंत्र आलम्बन हैं। उनमें सहृदयों के लिए सहज आकर्षण वर्तमान है। इन दृश्यों के अन्तर्गत जो वस्तुएँ और व्यापार होंगे, उनमें जीवन के मूल स्वरूप और मूल परिस्थिति का आभास पाकर हमारी वृत्तियाँ तल्लीन होती हैं।"[1]

रमणीय स्वर और हृदयरंजक ध्वनि का मिश्रित रूप ही संगीत है। संगीत के अन्तर्गत नृत्य, वाद्य और गीति का समन्वित सौंदर्य निहित होता है। नृत्य उस आकर्षक गति को कहते हैं जो ताल तथा भाव के आश्रित होती है तथा जो आस्वादात्मक महत्त्व रखती है। वाद्ययन्त्रों

की विभिन्न प्रकार की सुमधुर ध्वनियाँ नृत्य को गति तथा गीति को राग प्रदान करती हैं। नृत्य एवं वाद्ययन्त्रों के तालमेल पर मानव-कंठ से निकली लयात्मक मधुर स्वरलहरी ही गीति है।

भारतीय जीवन में संगीत और नाटक दोनों को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त रहा है। आचार्य भरत के अनुसार, गीति और वाद्य का संप्रयुक्त रूप नाटक को ऐसा महत्त्वपूर्ण आलम्बन दे देता है जिससे रससृष्टि में किसी व्यवधान की कोई गुंजाइश रह ही नहीं जाती।

आधुनिक युग में प्रतीकों-बिम्बों से भी रस-निष्पति में सहायता ली गयी है। प्रतीक का सामान्य अर्थ है, संकेत या चिह्न। व्यापक अर्थ में प्रतीक के अन्तर्गत समस्त शब्द-जगत् आ जाता है। साहित्य में प्रतीक-विधान का महत्त्व अनुभूति को व्यवस्थित करने और भाव-प्रसार में सहयोग देने के कारण है। वस्तुतः आज मानव की संवेदनाएँ इतनी उलझ गयी हैं और उसकी जीवन-स्थिति इतनी जटिल हो गयी है कि अभिव्यक्ति के प्रचलित सामान्य माध्यमों से कथ्य-सम्प्रेषण सम्भव नहीं हो पा रहा है। अतः समकालीन हिन्दी नाटकों में वर्तमान जीवन-बोध को प्रभावशाली ढंग से अभिव्यंजित करने के लिए प्रतीकों का सहारा लिया जा रहा है। आज की रुक्ष जीवन-दृष्टि, संत्रास, विघटन और मूल्यहीनता को प्रतीक समर्थ अभिव्यक्ति दे रहे हैं। प्रतीक की भाषा गहरी अभिव्यंजना और प्रभावशाली अभिव्यक्ति की भाषा होती है। नाटककार डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में, "प्रतीक तो स्वयं नाटक की प्रकृत भाषा और सहज बोल है—ऐसी भाषा जो हम नित्यप्रति के जीवन में बोलते हैं। चेतन-अचेतन रूप से जिसे हम सम्प्रेषणीयता और बोधतत्त्व का माध्यम बनाते हैं। इस तरह ये प्रतीक हमारी अभिव्यक्ति के जीवन्त आधार हैं—अतः हमारे व्यक्तित्व के अंग हैं, जैसे स्वप्न अंग हैं।"[२] साहित्यकार कभी-कभी सीधे-वर्तमान परिवेश को ग्रहण कर प्रतीकों और मिथकों के सहारे आधुनिक सन्दर्भों का रूपायन करता है। यह शैली उसे अनावश्यक विस्तार के व्यर्थ श्रम से भी बचाती है।

अभिनय नाट्य की तादात्म्य प्रतीति है और तादात्म्य प्रतीति वह महासुख है जो आनन्द में निमग्न कर देता है। नाटक 'प्रति सक्षात्कार कल्प' है, इसीलिए यह काव्य, आख्यान आदि से श्रेष्ठ है। नाटक के पात्र योग्य अभिनय द्वारा साधारणीकृत विभाव आदि की सजातीय सम्वेदनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। यह सम्वेदनात्मक अभिव्यक्ति सहृदय के हृदय में प्रतिफलित होती है।

भारतीय नाट्यशास्त्र में अभिनय के चार प्रकार बताए गये हैं—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक। नाटक की भाववस्तु और उसकी आत्मा मुख्यतः वाचिक अभिनय अर्थात् संवादों द्वारा प्रकट होती है। संवाद नाटक की कथा, घटना-विन्यास और विचारतत्त्व को व्यक्त करते हैं। अतः इनका संतुलित होना नितांत आवश्यक होता है।

अभिनेयता नाटक का मुख्य एवं अनिवार्य धर्म है। प्रेक्षक के रसास्वादन में ही अभिनय की सफलता निहित है। रस-सृष्टि सम्प्रेषण-क्षमता की चरम सार्थकता है। नाटक में यद्यपि पठन से भी रंग-कल्पना द्वारा रसान्विति संभव है, तथापि उसका अभिनय अपनी अतिरिक्त कलात्मकता से संपृक्त होकर रस-संचार करने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ हो जाता है। नाटक की श्रेष्ठता अभिनय द्वारा उसके रससिक्त करने की क्षमता पर बहुत-कुछ अवलंबित है।

नाटक में विभिन्न तत्त्वों के समानुपातिक सहकार से तीव्र और सक्षम रसानुभूति सम्भव होती है। इसी रससिद्धि को आधार मानकर आचार्यों ने नाट्यरस को काव्यरस से श्रेष्ठ प्रति-

पादित किया है। नाट्य में न केवल कवि की वाणी की लोकोत्तर सम्वेदना का साक्षात्कार होता है, अपितु अभिनेता का अभिनय भी सम्वेदना की वृद्धि कर प्रत्यक्ष साक्षात्कार का आनन्द प्रदान करता है। संगीत, नृत्य आदि कलाएँ नाट्य में मनोहरता की सृष्टि कर प्रेक्षक की तन्मयता को प्रभावित करती हैं। मंचसज्जा, प्राकृतिक दृश्य-संयोजन, ध्वनि एवं प्रकाश-व्यवस्था आदि उपकरण भी नाट्यरस की सम्प्रेषणीयता में महत्त्वपूर्ण योग देते हैं। इस प्रकार समस्त नाट्य-तत्त्वों की यह एकाकारता लोकोत्तर और अनिर्वचनीय आनन्द-स्वरूप रस की सृष्टि करती है।

संदर्भ-संकेत

१. रस-मीमांसा (संवत् २०२३), पृ० ११४। २. मादा कैक्टस (सन् १९७२), नाटक की भूमिका, पृ० २।

प्रयाग की रंगमंचीय यात्रा

●

कु० कल्पना सहाय

हिन्दी साहित्य में नाटक-लेखन का कार्य तथा उसको शिष्ट रंगमंचीय शैली में प्रस्तुत करने का इतिहास भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही माना जाना चाहिए। इसके पूर्व के नाटक पद्यात्मक प्रबन्ध के होते थे। साथ ही इनमें काव्य-गुणों का अभाव भी दिखाई पड़ता है। भारतेन्दु जी के पिता श्री गोपालचन्द्र-कृत नाटक 'नहुष' सन् १८५७ में नाट्य-रीति से लिखा गया प्रथम नाटक था। किन्तु यह भी ब्रजभाषा के प्रभाव से बचा नहीं रह सका। अभिनय या रंगमंच की दृष्टि से श्री शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का नाटक 'जानकी-मंगल' खड़ीबोली का प्रथम-नाट्य गुणयुक्त नाटक कहा जा सकता है जिसे १८६८ में लिखा गया था। इसके तुरन्त बाद भारतेन्दु का नाटक 'विद्या-सुन्दर' प्रकाशित हुआ। इस प्रकार नाट्यलेखन का इतिहास हिन्दी-साहित्य में अपनी शताब्दी पूर्ण कर चुका है। किन्तु शिष्ट रंगमंच का इतिहास सही अर्थ में भारतेन्दु से ही प्रारम्भ होता है।

प्रयाग का रंगमंचीय इतिहास भी १०० वर्षों से अधिक पुराना है जिसकी यथेष्ट जानकारी 'आर्य नाट्य सभा' नामक संस्था (१८७०-७१) के नाटक 'रणधीर प्रेममोहिनी' के द्वारा प्राप्त होती है। सन् १८९८ में श्री रामलीला नाटक मण्डली के नाटक 'सीता स्वयम्बर' के मंचन से प्रयाग के रंगमंच के इतिहास का अधिक प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होता है। इसका विस्तृत लेखा-जोखा स्व० श्री शिवपूजन सहाय के लेख 'प्रयाग की हिन्दी नाट्य समिति' से प्राप्त होता है जो 'माधुरी' में प्रकाशित हुआ था।

इस समय प्रयाग में पं० माधव शुक्ल, पं० महादेव भट्ट एवं पं० गोपालदत्त त्रिपाठी अदम्य उत्साह के साथ राष्ट्रीय भावना के नाटक लिखने का कार्य सुरुचिपूर्ण ढंग से कर रहे थे।

प्रयाग की पहली नाट्य मण्डली 'आर्य नाट्य सभा' की स्थापना सन् १८७०-७१ में हुई जिसने ६ दिसम्बर, १८७१ में सर्वप्रथम 'रणधीर प्रेममोहिनी' मंचित किया। इस संस्था द्वारा दो नाटक प्रयाग के रेलवे थियेटर में २६ अगस्त, १८७६ में मंचित किये गये। पहला श्री शीतला-प्रसाद का 'जानकी-मंगल' और दूसरा प्रयाग-समाचार के सम्पादक पं० देवकीनन्दन त्रिपाठी द्वारा लिखित नाटक 'जय नरसिंह' था। इन नाटकों के साथ पं० देवकीनन्दन जी का नाटक 'कलियुगी' तथा 'जनेऊ' एवं लाला शालिग्राम-कृत 'काम-कंदला' नाटक 'आर्य नाट्यसभा' द्वारा प्रस्तुत किये गये। इससे पूर्व 'दुर्गेश-नन्दिनी' नामक नाटक १४ अगस्त, सन् १८७५ को रेलवे नाट्यशाला में मंचित हो चुका था। यह परिवर्तन का युग था। इस काल में प्रयाग नगर में 'काम-कंदला' और 'प्रेममोहिनी' नाटकों की प्रस्तुति ने सम्पूर्ण राष्ट्र के रंगमंचीय जगत् में तहलका मचा दिया।

भारतेन्दु-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक प्रयाग में पहली बार सन् १८७४ में मंचित किया गया। भारतेन्दु द्वारा पारसी रंगमंच के विरुद्ध चलाये गये आन्दोलन के फलस्वरूप अव्यावसायिक रंगमंच पनपा। इस कार्य को भारतेन्दु जी ने 'आर्य-शिष्ट जनोपयोगी रंगमंच' की स्थापना करके पूर्ण किया।

सामाजिक परिवर्तन की दिशा में भी नाटकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है, यह विचार सर्वप्रथम 'बंगाली-रंगमंच' ने दिया। दीनबन्धु मित्र कृत नाटक 'नील-दर्पण' सन् १८६९ में गोरों के अत्याचार के विरुद्ध सम्पूर्ण देश में प्रदर्शित किया गया। इसके बाद सन् १८७३ में १५ फरवरी को 'भारत मातार विलाप' की महत्त्वपूर्ण प्रस्तुति हुई। फिर 'गजदानन्द', 'चाकर-दर्पण' व 'सुरेन्द्र विनोदिनी' आदि एक के बाद एक क्रान्तिकारी नाटक आते गये। 'चाकर दर्पण' नाटक प्रस्तुति के पूर्व और 'सुरेन्द्र विनोदिनी' १ मार्च, सन् १८७६ को प्रस्तुति के पश्चात् प्रतिबन्धित कर दिये गये। यह सभी नाटक राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में कारगर सिद्ध हुए और क्रान्ति के बीज बोने के उद्देश्य में समर्थ रहे।

प्रयाग में 'श्री रामलीला नाटक मंडली' की स्थापना पं० बालकृष्ण भट्ट की प्रेरणा से उनके पुत्र पं० लक्ष्मीकान्त भट्ट एवं महामना पं० रमाकान्त मालवीय के साथ श्री देवीप्रसाद गुप्त एवं श्री देवेन्द्रनाथ बनर्जी ने मिलकर की। इस नाट्य-मण्डली द्वारा पं० माधव शुक्ल कृत नाटक 'सीता स्वयम्बर' मंचित किया गया। यह संस्था सन् १९०७ तक प्रयाग में सक्रिय रही। सन् १९०८ में पं० माधव शुक्ल एवं पं० महादेव भट्ट ने एक नयी संस्था 'हिन्दी नाट्य समिति' की स्थापना की। यह साहित्यिक शैली की प्रथम नाट्य-संस्था थी। इसकी प्रथम-प्रस्तुति बाबू राधाकृष्णदास कृत 'महाराणा-प्रताप' अत्यधिक सफल रही। हिन्दी नाट्य समिति ने कई अच्छे नाटक अभिनीत किये।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का छठा अखिल भारतीय अधिवेशन सन् १९१५ में प्रयाग नगर में हुआ। इस समय पं० माधव शुक्ल का 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' हिन्दी नाट्य समिति के तत्त्वावधान में खेला गया। इस नाटक के माध्यम से पं० माधव शुक्ल ने भारतीय मानस को झकझोरने का सार्थक प्रयास किया था, राष्ट्रधर्म, नैतिकता एवं मर्यादा आदि अनेक ज्वलन्त प्रश्नों को उठाया। परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार द्वारा 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' जब्त कर लिया गया। कुछ समय बाद यही नाटक सन् १९१८ में 'कौरव-कलंक' के नाम से कलकत्ता में खेला गया।

पं० माधव शुक्ल जी ने 'महाभारत-पूर्वार्द्ध' नाटक और अपनी 'हिन्दी नाट्य समिति' द्वारा परिष्कृत एवं कलापूर्ण राष्ट्रीय हिन्दी रंगमंच खड़ा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। शुक्ल जी सन् १९१६ में कलकत्ता चले गये और उनके जाते ही समिति भी शिथिल हो गयी। सरनबली श्रीवास्तव के अनुसार हिन्दी नाटकों के उन्नयन एवं परिष्कृत रंगमंच की स्थापना हेतु सन् १९२२ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने प्रयाग में एक उपसमिति बनायी जिसकी बैठकें देश भर में हुईं। इन तमाम प्रयासों के बावजूद भी प्रयाग का रंगकार्य शिक्षण संस्थाओं तक ही सीमित रह गया। नगर में अब कायस्थ-पाठशाला के छात्र और विश्वविद्यालय के छात्र दीक्षान्त-समारोह के अवसर पर नाटक खेलते थे। अनेक नाटक प्रयाग विश्वविद्यालय के ड्रेमेटिक हाल में खेले गये। सन् १९२५ में द्विजेन्द्रलाल राय का 'दुर्गादास राठौर', सन् १९२६ में 'शाहजहाँ' और राधेश्याम कथावाचक का 'वीर अभिमन्यु' नाटक सन् १९२७ में हुआ। इस समय नाट्य-संयोजक भगवती-चरण वर्मा बने। इसके बाद एकांकी नाटकों का दौर प्रारम्भ हुआ और सन् १९३६ में जगदीश-चन्द्र माथुर का एकांकी 'मेरी बाँसुरी' और डॉ० रामकुमार वर्मा का एकांकी 'दस मिनट'

सन् १९४० में मंचित हुए। सुमित्रानन्दन पन्त ने नाटकों के लिए कई गीत लिखे तथा नाटकों के लिए स्त्री भूमिका का मंचन किया।

इन्हीं दिनों कोरल क्लब, रेलवे इन्स्टीट्यूट एवं मानसरोवर टाकीज (जिसे उस समय राधा थियेटर के नाम से जाना जाता था) में भी नाटक खेले गये। सन् १९३८ में 'कल्चरल सेन्टर' नामक संस्था बनी जिसमें मुख्यतः सम्पन्न वर्ग ही सम्मिलित था। इस संस्था द्वारा 'अनारकली' नामक नाटक खेला गया जिसकी महिला कलाकार श्रीमती सरन एवं श्रीमती तेजी बच्चन थीं।

सन् १९३३ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों ने 'आदर्श शिल्प मन्दिर' नामक नाट्य संस्था की स्थापना की। इसके तत्त्वावधान में जगदीशप्रसाद माथुर का नाटक 'कोणार्क' प्रस्तुत किया गया और लक्ष्मीकान्त वर्मा कृत 'रात की मंजिल' एवं 'भूख' मंचित किये गये। सन् १९४५ में 'भारतीय जन-नाट्य संघ' की एक शाखा नगर में खुली। इस संस्था को शहर में नेमिचन्द्र जैन एवं श्रीमती रेखा जैन ने स्थापित करने का कार्य किया। इसके द्वारा अच्छी संख्या में सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना जागृत करने वाले नाटक खेले गये। सन् १९४६ में भुवनेश्वर का नाटक 'ताँबे के कीड़े' एकदम आधुनिक परिवेश का नयी दृष्टि देने वाला नाटक आया, किन्तु अपनी नवीनता के कारण उस समय श्री भुवनेश्वर के नाटकों की पहचान नहीं हो सकी।

प्रयाग नगर के रंगकार्य की बात 'राम-लीला' और दशहरे में निकलने वाली चौकियों की चर्चा के बिना अधूरी ही रह जाती है, क्योंकि देश के परिवर्तन-काल में इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इलाहाबाद के इतिहास में राम-लीला की चर्चा निजामुद्दीन अहमद कृत 'तवक़ाते अकबरी' में की गयी है। इसके अनुसार सन् १५७५ में अकबर बादशाह ने गोस्वामी भगवत दास को रामलीला हेतु कुछ जमीन दी थी। श्री शालिग्राम श्रीवास्तव की पुस्तक 'प्रयाग-प्रदीप' में इलाहाबाद की रामलीला का इतिहास मिलता है। सन् १८३० में कमौरीनाथ महादेव के निकट रामलीला होती थी। 'प्रयाग-प्रदीप' में हाथीराम और बेनीराम (पजावा और पथरचट्टी) के रामदलों का भी उल्लेख किया गया है। इन दलों में निकलने वाली चौकियों में भारतीय जन-मानस को कुरेदने वाली झाँकियाँ (भारत माता, झाँसी की रानी व वन्देमातरम्) का दृश्य प्रस्तुत करती थीं। परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार के प्रतिबन्धों के कारण सन् १९१८ में दशहरा नहीं हो सका। किन्तु १९२० में पुनः जलियाँवाला बाग आदि की चौकियाँ निकाली गयीं। सन् १९२१ में रामलीला के पात्रों को खादी वस्त्र पहनाये गये। अंग्रेजों ने साम्प्रदायिक दंगे कराकर बहाने के साथ १९२५ में पुनः दशहरा प्रतिबन्धित कर दिया। इसके बाद काफ़ी दिनों तक दशहरा नहीं हो सका। फिर ११ वर्षों के पश्चात् १९३६ में रामलीला नगर में शुरू हो सकी।

सन् १९४८ में भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) का वार्षिक अधिवेशन नगर में हुआ और अधिवेशन के बाद से ही 'इप्टा' निष्क्रिय हो गई, तब तक देश आजाद हो चुका था और एक नयी चेतना का संचार सम्पूर्ण भारत में हुआ। रंगमंच के क्षेत्र में भी नवीन सांस्कृतिक चेतना का विकास हुआ। इलाहाबाद में भी बहुत सारी नाट्य-संस्थायें गठित हुईं, फलस्वरूप रंगमंच की गतिविधि में भी निरन्तरता आई।

नगर में सन् १९४९ तक के बाद 'इप्टा' के अलावा अन्य नाट्य-संस्थायें सक्रिय हुईं। इसी समय अश्क जी की संस्था 'नीरा' ने 'अलग-अलग रास्ते' नामक नाटक मंचित किया। 'नीरा' और 'कल्चरल सेन्टर' दो संस्थाओं ने मिलकर 'अनारकली' का भव्य मंचन किया।

श्री आर्ट सेन्टर द्वारा 'सरहद' व 'नेफा की एक शाम' प्रदर्शित किये गये। श्री नरेश मेहता जी की संस्था 'अभिनय' ने 'खंडित यात्रायें' का मंचन किया। श्रीमती विमला रैना की नाट्य-संस्था 'रंगशाला' द्वारा 'रोटी और कमल का फूल', 'सबेरा' व 'तीन युग' आदि नाटक खेले गये। किन्तु संस्था के प्रमुख सदस्यों—श्रीमती रैना व श्री दयाप्रकाश सिन्हा आदि के शहर से जाने के बाद सन् १९५५ से ५९ के बीच 'नीरा' व 'रंगशाला' जैसी नाट्य-संस्थायें भंग हो गईं। श्री नरेश मेहता जी की संस्था भी 'खंडित-यात्रायें' की प्रस्तुति के पश्चात् शिथिल पड़ गई। इस समय 'सेतुमंच', 'अंजता-आर्ट्स', 'ड्रामेटिक-आर्ट्स क्लब' आदि संस्थायें सक्रिय थीं। इन्हीं दिनों श्री लक्ष्मीकांत वर्मा की संस्था 'सेतुमंच' ने साहित्यिक प्रयोग से साथ कई सफल प्रस्तुतियाँ कीं। नगर की एक अन्य नाट्य-संस्था के विघटन के पश्चात् इसके ही सदस्यों ने दो संस्थाओं का निर्माण किया। सन् १९५५ में 'रंगशिल्पी' और सन् १९५९-६० के आस-पास 'थ्री एज' (इलाहाबाद आर्टिस्ट्स एसोशियन) नामक संस्थाओं का गठन हुआ। इसी बीच डॉ० लक्ष्मी-नारायण लाल ने सन् १९५८ में 'नाट्य-केन्द्र' की स्थापना की जिसके माध्यम से नाट्य-प्रस्तुतियों के साथ-साथ नाट्य-प्रशिक्षण का भी कार्य किया। इन दिनों 'रंगशिल्पी' भी काफी सक्रिय थी जिसके प्रमुख रंगकर्मी श्री मुरारीलाल, चन्द्रकांत त्रिपाठी, कौशलबिहारी व ललिता चटर्जी इत्यादि थे। इस समय नाटक शुरू में ओ० टी० एस० हाल में और बाद में 'कोरल क्लब' में खेले गये। तमाम असुविधाओं के बावजूद की सब रंगकर्मी पूरी निष्ठा के साथ रंग-आन्दोलन को बढ़ाने में प्रयास करते थे। फलस्वरूप नगर में रंग-गतिविधियों को गति मिली।

स्वतन्त्रता के पश्चात् लगभग ११-१२ वर्षों तक प्रयाग के रंगमंच-क्षेत्र में साहित्यकार व नाटककारों की भूमिका ही प्रमुख रही। यही कारण था कि सन् १९६० तक सभी साहित्यकार नगर की किसी न किसी नाट्य-संस्था से अवश्य सम्बन्धित रहे। किन्तु अब तक नाटककारों की सभी संस्थायें टूट चुकी थीं और सन् १९६०-६१ तक एक आध बची हुई संस्थाओं का भी विघटन हो गया अन्त में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल की संस्था 'नाट्य-केन्द्र' भी विघटित हुई। ऐसी स्थिति में नगर के रंगकर्मी-कलाकार आगे आये। सन् १९६१ में 'नाट्य केन्द्र' के प्रमुख लोगों डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, डॉ० जीवनलाल गुप्त, श्रीरामराम सिंह, शान्तिस्वरूप प्रधान, जगदीश प्रसाद जायसवाल, रामगोपाल, ईश्वरशरण एवं रामचन्द्र गुप्त आदि ने मिलकर 'प्रयाग रंगमंच' की स्थापना की।

नगर की पुरानी संस्थाओं 'रंगशिल्पी' एवं 'थ्री एज' में इन दिनों चुप्पी लगी हुई थी जिसे डॉ० बालकृष्ण मालवीय, सरनबली श्रीवास्तव, डॉ० प्रभात मण्डल, डॉ० सुधीर ने कई सफल प्रस्तुतियाँ करके समाप्त किया। 'थ्री-एज' द्वारा मंचित 'लँगड़ी टाँग', 'शुतुरमुर्ग', 'आषाढ़ का एक दिन', 'चारुलता' इत्यादि नाटक की सफल प्रस्तुतियाँ हुईं। 'घासीराम कोतवाल' की लगातार ५-६ प्रस्तुतियों ने नगर में रंगमंच का एक प्रतिमान स्थापित किया।

'रंगशिल्पी' द्वारा मंचित 'जनतन्त्र-जिन्दाबाद' नाटक अविस्मरणीय है। 'इतिहास-चक्र' एवं 'नीलदर्पण' आदि अन्य चर्चित नाटक हैं।

प्रयाग-रंगमंच द्वारा मंचित 'प्रेम तेरा रंग कैसा', 'कैद', 'छपते-छपते' प्रारम्भिक सफल प्रस्तुतियाँ रही हैं। संस्था के निदेशक डॉ० सत्यव्रत सिन्हा ने प्रयाग के रंगमंच पर सर्वप्रथम भुवनेश्वर एवं डॉ विपिन अग्रवाल के नयी शैली (विसंगति का नाटक) के नाटक प्रस्तुत किये। इसी समय प्रयाग-रंगमंच द्वारा उत्तर-भारत का प्रथम नाट्य-समारोह प्रयाग में आयोजित किया

गया और समारोह में देश के लब्धप्रतिष्ठ निदेशक व कलाकार शम्भू मित्र, अल्काजी, मोहन महर्षि एवं अमृतलाल नागर की प्रस्तुतियों के साथ ही नाट्य-गोष्ठियों की परम्परा का भी सूत्रपात हुआ। यह समय संस्था का स्वर्णकाल कहा जा सकता है।

विनोद रस्तोगी जी के एक लेख 'प्रयाग का रंगमंच' के अनुसार—"डॉ० सत्यव्रत सिन्हा की 'तीन अपाहिज', 'अन्धेर नगरी' और 'गोदो का इन्तजार' ऐसी प्रस्तुतियाँ रही हैं जो सदा याद की जायेंगी। उनके देहान्त से नगर ही नहीं, हिन्दी रंगमंच की अपूरणीय क्षति हुई। परन्तु नयी शैली के नाटकों का जो दौर उन्होंने चलाया, वह आज तक कायम है।" डॉ० सिन्हा की संस्था अपने २४ वर्ष पूरे करके रजत वर्ष से गुजर रही है। 'प्रयाग-रंगमंच' अपने 'रजत-जयन्ती वर्ष समारोह' की शुरुआत दो नाट्य-गोष्ठियों एवं 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' के सहयोग द्वारा एक रंग-शिविर का आयोजन करके ३ कहानियों की निरन्तर तीन प्रस्तुतियों द्वारा कर चुका है।

आजकल नगर में पुरानी तीन संस्थाओं 'रंगशिल्पी', 'श्री एज' व 'प्रयाग-रंगमंच' के अलावा अनेक नयी संस्थायें सक्रिय हैं—जैसे —'कलादर्पण', 'आस्था', 'इलाहाबाद स्पोर्ट्स एण्ड कल्चरल ऐसोशिएसन', 'अंकुर', 'समयान्तर', 'विप्लव', 'चौपाल', 'कैम्पस थियेटर', 'रूपकथा' आदि लगभग दो दर्जन नाटक करने वाली संस्थायें हैं।

इलाहाबाद की एक संस्था 'नाट्य-संघ' ने भी रंगमंच के क्षेत्र में १७ वर्षों से लगातार 'बहुभाषीय लघु नाट्य प्रतियोगिता' प्रतिवर्ष करा कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। नगर में 'बाल-रंगमंच' एवं 'लोकमंच' के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य हुए हैं। 'संस्कृत-रंगमंच' के क्षेत्र में डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी एवं सुश्री सूर्या अवस्थी का नाम प्रमुख है। 'बाल-रंगमंच' के कार्य में उल्लेखनीय नाम स्व० श्रीमती सुशीला कशालकर जी का है। इस क्षेत्र में 'प्रयाग-रंगमंच' ने भी एकांकी प्रस्तुत किये हैं। लोक-नाट्य की दिशा में 'इलाहाबाद-दर्पण' ने नौटंकी-शैली में 'लाख टके की बात' की प्रस्तुत की। श्री राजेन्द्र शर्मा द्वारा 'दुलारीबाई' एवं 'अबूहसन' सफल प्रस्तुतियाँ की गयीं। 'रंगशिल्पी' द्वारा आलोक बसु के निदेशन में 'खेला पोलमपुर' का मंचन हुआ। प्रयाग-रंगमंच द्वारा रामचन्द्र गुप्त के निदेशन के 'आला-अफसर' की सफल प्रस्तुति हुई। 'श्री एज' द्वारा 'घासीराम कोतवाल' और रामकपूर द्वारा 'बकरी' की प्रस्तुतियाँ भी अत्यधिक सफल रहीं।

रंग-शिविरों का आयोजन समय-समय पर नगर में हुआ है। सर्वप्रथम 'रंग-शिविर' के माध्यम से विजय सोनी ने स्व० मुक्तिबोध की कविता 'अँधेरे में' का मंचन करवाया। सन् १६७६ में 'संस्कार-भारती' नामक संस्था द्वारा स्व० डॉ० सत्यव्रत सिन्हा की स्मृति में 'रंग-शिविर' सम्पन्न हुआ। सितम्बर, १६८३ में डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने एक कार्यशाला नगर में हुई जिसके द्वारा उनके अपने नाटक 'बलराम की तीर्थयात्रा' का मंचन हुआ। बादल सरकार द्वारा भी 'रंगशाला' सम्पन्न हुई। सितम्बर, १६८६ में 'प्रयाग-रंगमंच' द्वारा कहानी-मंचन का 'रंग-शिविर' एक माह का आयोजित किया गया। इस प्रकार का प्रथम शिविर नगर में पहली बार हुआ।

प्रयाग का रंगमंच अपने विशिष्ट स्वभाव व संस्कृति के कारण व्यावसायिकता की स्थिति में नहीं आ सका और न ही प्रेक्षागृह आदि पुरानी तकनीकी कमियों को दूर कर सका है—फिर भी इसकी रंग-गतिविधियाँ अनवरत बढ़ रही हैं। ●